

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र के विचार

संपादक

प्रभाकर माचवे



भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में प्रभाकर माचवे
दृष्टिकोण को आधुनिक दर्शन की शब्दावली के
समकक्ष लाने में, सन् 37 में प्रकाशित इस ग्रंथ का,
विशेष साहित्यिक मूल्य है। यह शुष्क तर्क की
पुस्तक नहीं, न केवल शब्द-विलास है। जैनेन्द्र
हिन्दी गद्य में एक युग-निर्माता साहित्यकार व चिंतक
हैं। नींव के पत्थर का कार्य इस किताब ने किया है।
हिन्दी के सुधी पाठकों ने अपार सहृदयता से इसे
स्वीकार किया।

—प्रभाकर माचवे

हर बड़ा लेखक अपनी भाषा की रचनात्मक
संभावनाओं की सिद्धि का माध्यम होता ही है और
इस मायने में यह कहा जा सकता है कि लेखक को
भाषा ही गढ़ती है। लेकिन कुछ लेखक ऐसे हो जाते
हैं जिनके बिना फिर उस भाषा की कल्पना नहीं की
जा सकती। जैसे हम आज टाल्स्टाय, तुर्गनेव,
दोस्तोयेव्स्की के बिना रूसी, विक्टर ह्यूगो और
फ्लावेअर के बिना फ्रेंच, कंजानजाकिस के बिना
ग्रीक और लारेंस और जेम्स जायस के बिना अंग्रेजी
गद्य की कल्पना नहीं कर सकते। उसी प्रकार जैनेन्द्रजी
के बिना हिंदी गद्य के बारे में सोचा भी नहीं जा
सकता। ऐसा तभी होता है जब लेखक और भाषा
एकमेव हो जाते हैं, जब वह भाषा ही लेखक का
अस्तित्व हो जाती है। जैनेन्द्र जी हिन्दी के ऐसे ही
लेखक रहे हैं जिन्होंने भाषा को अपना माध्यम नहीं
बनाया बल्कि उनकी साधना यही थी कि अपने को
अपनी भाषा का माध्यम बना दें और कहना न होगा
कि वे इसमें दूर तक सफल हुए।

—नंदकिशोर आचार्य

22606
दालय

सदस्य
संख्या

R
621/162

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.....

122608
आगत संख्या.....

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित हैं । इस तिथि सहित ३०वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए । अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा ।

जैनेन्द्र के विचार





पू र्वो द य प्र का श न

7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110002



122600

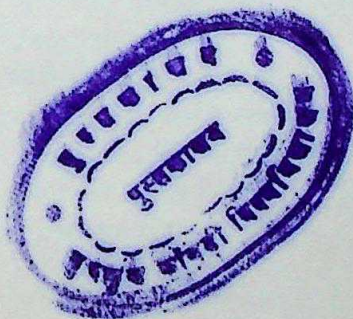
जैनेन्द्र के विचार

[श्री जैनेन्द्रकुमार के लेखों, निबन्धों, व्याख्यानों,
प्रश्नोत्तर और पत्रांशों का संग्रह]

122600

सम्पादक

डा० प्रभाकर माचवे



प्रदीप कुमार
सम्पादक निर्देशक

१
०२९
१६८



● मूल्य : 180.00 ● संस्करण : 1996 ● प्रकाशक : पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8
दरियागंज, नई दिल्ली-110002, ● © : प्रदीप कुमार ● मुद्रक : प्रियंका
प्रिंटर्स द्वारा अंकित प्रिंटिंग प्रेस, शाहदरा, दिल्ली-110032

वक्तव्य

इस किताब के नाम से शंका होती है कि जैनेन्द्र कोई व्यक्ति होगा जो अपना जीना जी चुका है। मिट्टी उसकी ठंडी हुई। बस, अब उसको लेकर जाँच-पड़ताल और काट-फाँस होगी। पाठक निराश तो कदाचित् हों, पर सच यह है कि अभी वह समाचार सच नहीं है। जैनेन्द्र के मरने की खबर अभी मुझको भी नहीं मिली। पाठकों को मुझसे पहले वह सूचना नहीं मिलेगी। इसमें आग्रह व्यर्थ है। फिर भी, उसके जीते जी यह जो उसकी इधर-उधर की बातों को आँकने और भेदने का यत्न है, यह क्या है? ठीक मालूम नहीं, पर यह ज्यादाती तो है ही। इस कर्म का मूल्य भी अनिश्चित है। बहते पानी की नाप-जोख पक्की नहीं उतरेगी। उसके बँध रहने की प्रतीक्षा उचित है। फिर भी आदमी है कि चैन से नहीं बैठता। जीवन-मुक्ति के निमित्त उसके नियम पाना और बनाना चाहता है, और उस निमित्त उसी जीवन को घेरों से बाँधता-कसता है! यह मानव-पद्धति विचित्र है, पर अनिवार्य भी है। तो क्या किया जाय? उपाय यही है कि अपने ऊपर की शल्य-क्रिया को सहते चला जाय। उपयुक्त असल में यह होगा कि आदमी के मरने पर ही उसके बारे में कुछ लिखा जाय।

इस पुस्तक में छापे की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। वे अशुद्धियाँ भाव के साथ मनमानी करती हैं। पर अशुद्धि-पत्र पुस्तक के साथ देकर उसका ढिंढोरा पीटना भी ठीक नहीं लगा। अशुद्धियाँ रह गईं तो इसलिए कि कुछ लेख सीधे अखबारों से पुस्तक में लिये गये। दो भाषण तो भाषणों की अखबारी रिपोर्टें हैं। फिर भी प्रकाशक की अतिशय सावधानी के कारण अशुद्धियाँ कम से कम रह पाई हैं।

७ दरियागंज
दिल्ली

जैनेन्द्रकुमार
३०/११/३७

पुनश्च

पुस्तक का पहला वक्तव्य आज ठीक चालीस वर्ष पुराना हो जाता है। पर आज भी उसमें अधिक या अतिरिक्त कुछ जोड़ने की जरूरत नहीं लगती। आदमी जी रहा है तो मतलब कि अपने में नए भाव और प्रभाव भी समा लेता जा रहा है। इसलिए जब तक उसका ही अंत न हो उसके किसी वक्तव्य में अंतिमता नहीं माननी चाहिए।

पहले पाठक को चेताया गया था कि पुस्तक में छापे की अशुद्धियाँ रह गई हैं। मेरा प्रमाद असह्य और अक्षम्य होना चाहिए। अर्थात् वे अशुद्धियाँ इस संस्करण में भी जस-की-तस जा रही हैं और शर्म इतनी है कि माफ़ी माँगने की हिम्मत नहीं होती है।

इतनी पुरानी किताब फिर क्यों छापी गई ? उसकी अधिकांश रचनाएं अन्यान्य पुस्तकों में जहाँ-तहाँ उपलब्ध हैं ही। पर अनुरोध हुआ कि यह ग्रंथ इतिहास में जगह बना सका था, अतः उसे लुप्त नहीं होने देना चाहिए। इसी से उसे पुनः प्रकाशन में आने देने का साहस हुआ है।

७ दरियागंज
नई दिल्ली

जैनेन्द्रकुमार
१५/११/७७

भूमिका

अथतः

आइए, जैनेन्द्र के विचारों पर कुछ विचार करें। ख्याल रहे, विचारों पर हमें विचार करना है, नाम वाले जैनेन्द्र पर नहीं, --अमुक नाम और अमुक धाम वाले जैनेन्द्र इस कारण विचारणीय नहीं हैं। क्या वह एक दिन नहीं बने, और एक दिन मिट भी नहीं जायेंगे ? पर हैं विचारणीय तो इसी से कि उनके द्वारा कुछ वह व्यक्त हो रहा है जो सतत प्रवहमान है, --परिणमनशील, फिर भी चिर और स्थिर। भाषा में उसी को कहें 'विचार'। विचार सूक्ष्म का आकलन करता है, जैनेन्द्र तो स्थूल माध्यम हैं।

पर कोई पूछे कि विचार क्यों करना है ? तो उत्तर है विचारशीलता के उत्प्रेरण के लिए, मानवता के विकास के लिए, जगत् के दुःख कम करने के लिए, आनंद वृद्धिगत करने के लिए।

अब यह किताब, जिसमें लेख, भाषण, प्रश्नोत्तर आदि कई रूपों में विचार मौजूद हैं, हमारे सामने है। हम उसमें की विचारात्मा को किंचित् तटस्थ और विवेकशील दृष्टि से एवं संश्लिष्ट रूपा में देखना चाहते हैं। उसमें प्रकृत-तत्त्व को ही हम देखेंगे, अर्थ-तथ्य को ओरों के लिए छोड़ देना ही भला है। हम पहले यह देखेंगे कि विचारक जैनेन्द्र के मूल में कला-भावना है, उसे कहाँ तक गुंजाइश देनी होगी, उसके मानी क्या हैं, फिर इन विचारों की भित्ति जित मान्यताओं और समस्याओं से बनी है उसे देखें, फिर जीवन और साहित्य के अलग-अलग पैमानों में उन्हें ढालें और अन्त में कुछ अपनी ओर से कहकर इस विचारकपन को भावमयता में छोड़ दें। हम विचारों को Feel करें उन्हें Deal करने के मोह से न बड़ें।

जैनेन्द्र : कलाकार और विचारक

कला और दर्शन का नाता बहिन-भाई का रहा है। दोनों में आज के युग में किसी प्रकार का अन्तर डालना खतरे का काम है। शाँ ने अब कहा कि 'आज की सदी के कलाकार को अंततः दार्शनिक होना ही पड़ेगा' तब उस कथन में आत्म-रक्षा से भी अधिक कुछ तथ्य था। वस्तुतः कला की मंदाकिनी दर्शन के गुरु-गिरि से फूट कर काल और परिस्थितियों के बीहड़ वन और मैदानों में से बहती हुई समष्टिगत अभेदानुभूति के

महासागर में मिलने चली जा रही है। वह चिरंतन-गतिशीला और वेगवती है; अतः भेद-मंथन उसका आदि, अभेद-लाभ अन्त, और प्रेरणा मध्य माना जा सकता है।

यहाँ 'कला' के अर्थ समझने होंगे। टॉलस्टाय ने जिसे समस्त के समीप आने का भाव-माध्यम बताया, इमर्सन जिसे दैवी गुण मानते थे, हेगेल ने जिसे 'आत्म-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का महत्पथ' कह के संबोधित किया, उसी कला को भला हम भौतिक और जड़ ऐन्द्रिय लालसा-पूर्ति का साधन किस भाँति कह सकते हैं? वह मुक्ताकाश में उड़ते रहने को नहीं है, न धरती से वह चिपटी है जो खारे जीवन-सागर से आत्म-सूर्य की तेजोमयी किरणों द्वारा गगन-प्रांतर में खींच ली जाती है, कला उस वाष्प-सी है; यथार्थ से ऊपर आदर्श की ओर उसका गेह है, क्षार सब नीचे छूट जाता है, शुद्ध तेज ही वहाँ रहता है। फिर वही वाष्प तापमान की अनुकूलता पाकर पानी बन नीचे बरस रहती है और हरियाली उपजाती है। बरसने से पहले वह सघन भी है, तड़ित्पूर्ण, हुंकार और वेदना से भरी और उसमें कभी तड़ित्तर्जन और घन-गर्जन का भीष्म-सौन्दर्य दीखता है, तो कभी सप्तरंगी धनुष का इन्द्र-सौन्दर्य भी उसी से बन आता है। मानव-कल्पना उस सौन्दर्य को पीकर पीन हो उठती है। फिर भी यही उस महा-व्यापार का आशय मान तृप्त होना भूल है। धूप से तपी और प्यासी धरती-माता की छाती पर विरहाकुल वह सघन वेदना सहस्र-सहस्र धाराओं में पानी बन बरस पड़े,—हो सकता है, कि उस तमाम (कला) व्यापार का निहिताशय यही हो। क्या इसी का परिणाम नहीं है कि धरती-माता मानों प्रत्युत्तर में, हरियाली ओढ़नी ओढ़, असंख्य शस्य-बालियों से सुनहरी मुस्कान मुस्कराती हुई खिल पड़ती है!

कला की अवतारणा, रूपक को तजकर कहें तो, जीवन के अभाव-छिद्रों को आत्म-स्वर की रागिनी से भर देने के लिए होती है।

वैसे तो मानव स्वयं एक अपूर्ति है। परन्तु जिस अनुपात में वह अपूर्ण है उसी अनुपात में उसमें 'पूर्णतूर्णमिदम्' की ओर अग्रसर होने की प्रबल आकांक्षा भी विद्यमान है। विकास अथवा उत्क्रान्ति का इससे अलग कोई अर्थ नहीं। जीवन के धर्म-क्षेत्र में एक ओर मानवात्मारूपी सत्य-प्रिय पार्थ और दूसरी ओर प्रचंड अनीक-सज्जित स्वार्थ-प्रिय दुर्योधन-दुःशासन के बीच सदैव समर चलता रहता है। अच्युत काल इस सब लड़ाई-झगड़े के बीच में केवल फलेच्छा-विरहित परन्तु आत्म-योग-मय कर्म-लग्नता का आदेश देता है। कला उस संघर्ष-रति को धारण करती और उसके विष-फल का द्योतन करती है। वहाँ चिन्तन है संजय। वैसे दोनों ही अपने आप में साध्य नहीं हैं,—न चिन्तन न धारणा। साध्य परात्पर है। परात्पर 'कूटस्थमचलं ध्रुवं' है और वही सत्य है।

भावगम्य और बुद्धिगम्य ज्ञान अपने-आप में परिमित हैं। हम उनके सहारे जब अपरिमेय की ओर बढ़ते हैं तब दिल और दिमाग से एक तरह की कशमकश शुरू हो जाती है। बुद्धि कहती है, 'मैं पहले देखूंगी और जानूंगी।' लो मैंने जान भी लिया। वह (अपरिमेय) यों है, और यों है।' भक्ति-भावना कहती है, 'देखने को मुझे आँखें कहाँ

हैं ? देखने को मुझे कहाँ जाना है ? मैं दूर को दूर नहीं जानती—लो मैंने चरण गह लिये हैं, मैं उसे पा गई हूँ ।' जब यह द्वन्द्व चल रहा होता है, तभी मानव-विवेक सहसा वहाँ आ पहुँचता है और निर्णयात्मक स्वर में मानो साधिकार कहता है, 'ओ री पगली बहिनो, तुम दोनों ही अर्ध-सत्य को गहे उसी को सम्पूर्ण माने बैठी हो । भूल की असल गाँठ, मुक्ति-बोध की राह में असल बाधा; तो इस 'मैं मैं' में है, जिसके प्रयोग से तुम दोनों बाज नहीं आ रही हो ।'

और यही वह अहं-भावना है जिसके विरुद्ध जैनेन्द्र ने, समष्टि-प्रेम की भित्ति पर खड़े होकर, खुल्लमखुल्ला विद्रोह घोषित किया है । उनकी हरेक कृति का रोम-रोम आत्मोत्सर्ग और आत्म-दान की इस महत् भावना से परिप्लावित है । जहाँ सांख्य दार्शनिक प्रकृति के चेतन-नृत्य के पुरुष-संपर्क के साथ में बुद्धि-तत्त्व और अहं-तत्त्व के सृजन की बात करते हैं वहाँ जैनेन्द्र प्रकृति तक से आत्म-समर्पण की सीख लेना जरूरी समझते हैं (पृष्ठ २) । २७-३-३७ के एक पत्र में उन्होंने लिखा है—“तुम जानते हो कि आर्टिस्ट निर्मम नहीं हो सकता ? ऐसी धारणा गलत है । ज्ञातव्य वस्तु के संबंध में उसे समताहीन वैज्ञानिक होना चाहिए । हाँ, ज्ञातव्य उसके लिए है वह स्वयम्, 'पर' नहीं । 'पर' को तो जाना ही नहीं जा सकता । जाना जा सकता है तो 'स्वयम्' के भीतर से । इसलिए वह अपने को और अपने ज्ञान को भी बराबर कसता रहता है । सच्चे आर्टिस्ट को अपने जीवन के बारे में शुद्ध वैज्ञानिक होना पड़ता है । इसलिए 'पर' के प्रति है वह भावुक कलाकार, और अपने प्रति है परीक्षा-प्रयोगी तत्त्वान्वेषी । जहाँ मैं वस्तु को शोधना-बिठाना चाहता हूँ वहाँ होना ही चाहिए मुझे गणितज्ञ की भाँति सावधान । जहाँ स्फूर्ति-दान एवं चैतन्योत्पादन लक्ष्य है, वहाँ होना होगा कलाकार ।”

जैनेन्द्र हिन्दी-संसार के सम्मुख 'परख' के कथाकार के रूप में आये थे । उनकी कथाओं ने हिन्दी-भाषियों के ध्यान को सहसा आकृष्ट कर लिया, क्योंकि जैसे कि रव० प्रेमचंदजी ने 'हंस' (वर्ष ३ संख्या ४) में लिखा था, उनमें “अन्तःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है,—इतना हृदय को मसोसने वाला, इतना स्वच्छन्द और निष्कपट जैसे बंधनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो ।... उनमें साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है जो तुरन्त आकर्षित करती है । उनकी भाषा में एक खास लोच, एक खास अंदाज है ।” धीरे धीरे कथा-शिल्पी जैनेन्द्र विचारक के रूप में सामने आते लगे और मेरे एक मित्र ने मजाक में यहाँ तक कह दिया कि 'अब वे सूत्रकार होते जा रहे हैं ।' आशय, जैनेन्द्र की मनोभूमि में कलाकार से दार्शनिक की ओर बढ़ने वाला विकास चिन्तनीय चीज है ।

यहाँ मुझे नवंबर '३६ के 'हंस' में प्रकाशित अपने लेख के कुछ अंश उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है । “वस्तुतः जैनेन्द्र में, क्या जीवन और क्या साहित्य, घर और बाहर, व्यक्ति और समष्टि, एक दूसरे के प्रति चिर-अपेक्षाशील रहे हैं । जैसे एक का दूसरे के बिना अस्तित्व ही असम्भव है । पर फिर भी उसमें व्यक्ति और घरवाला

(यानी समाज-सम्मत व्यक्ति-केन्द्र-बोधक) जो तत्त्व है वह दूसरे के ऊपर अधिक अधिकार से रीब जमाता हुआ चलता जान पड़ता है। यही लौकिक और अलौकिक, वास्तव और सत्य, अनेक और एक का जो भेदाभेद है वही जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की विशेषता है। जैनेन्द्र ऐसी सुलभन हैं जो पहली से भी अधिक गूढ़ हो। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी बक्र लगे। वे इतने निरभिमान हैं कि वही उनका अभिमान है। वे परिस्थितियों से ऐसे आबद्ध हैं कि उसी में उन्होंने अपनी मुक्ति मान ली है।”

अर्थात् जैनेन्द्र में विचारक कलाकार, अपने कलात्मक और विचारात्मक अस्तित्व को, किसी भी प्रकार, कभी, कहीं भी, जरा भी एक दूसरे से अलग न देख पाता है, और न रख ही पाता है।

मान्यतायें और समस्यायें (=Premises and Problems)

यह तो निर्विवाद है कि जैनेन्द्र की ही क्या, प्रत्येक चिन्तनशील लेखक की कुछ मान्यतायें हुआ करती हैं। ऐसी भूमि के अभाव में लेखक स्थिर नहीं खड़ा रह पाता। ये मान्यतायें विकास-प्रवण अवश्य होती हैं, पर तैरती हुई नहीं। भगवान बोधिसत्त्व की दुःख की मान्यता ही उनकी प्रथम और अन्तिम समस्या बनी रही। जो मान्यता अन्ततः प्रश्नोन्मुखी नहीं है वह जीवन के अभाव में केवल मृत धारणा (=Dogma) हो जाती है। मुमुक्षु जैनेन्द्र की भित्ति न तो ऊपर ऊपर तैरती हुई है, और न जड़ निस्पंद है। उनके विचारों का स्रोतोद्गम प्रत्यक्ष जीवन से होने के कारण उसमें कभी जम जाने (=Stagnation) की संभावना रह ही नहीं जाती। इतनी पूर्व-सावधानी के बाद जैनेन्द्र की समस्यात्मक मान्यताओं को तीन नजरों से देखें—मनोवैज्ञानिक, आचारशास्त्रीय (=Ethical) और आध्यात्मिक।

जैसा कि आजकल के कई पाश्चात्य लेखक मानते हैं जैनेन्द्र मनोविज्ञान को साध्य नहीं मानते। उनके लिए वह साधन है। जिस मनोविज्ञान को जैनेन्द्र ने अपनाया है, वह न तो बर्ताववादियों (=Behaviourists) के जैसा ऊपरी ऊपरी ही है, और न मानस-विश्लेषणवादियों के जैसा निरर्थक-विच्छेदक, बाज की खाल निकालने वाला ही है। उनकी मनोविज्ञान-मान्यता समग्र-संपन्न और गत्यात्मक है। वे प्रवृत्तियों को महत्त्व नहीं देते, सो नहीं, परंतु माशियाँ बर्गसाँ की थिअरी के समान ही प्रकृति और मन के (=Matter and mind के) विषय में उनकी विचार-धारा परस्परापेक्षाशील रही है। वे स्वप्न को गौण नहीं समझते, और न अनेक व्यर्थताओं को अपने सचेतन स्वप्न का कोई भाग ही बनने देते हैं। बुद्धि से पूर्व वे भाव की सत्ता मानते हैं। इसी कारण उनके लेखों में,—यथा ‘रामकथा’ ‘कहानी नहीं’ ‘उपयोगिता’ ‘नेहरू और उनकी कहानी’ ‘आलोचकों के प्रति’ आदि में, भाव प्रधानता को, या सुबुद्ध विवेकशीलता को, समस्त कर्म-प्रेरणा का मूल बिंदु मानने की ओर सशक्त संकेत है। सारांश, जैनेन्द्र का मनो-विज्ञानिक आधार जैन-तर्क-पद्धति ‘स्याद्वाद’ से अनुरजित होने के कारण अत्याधुनिक

नेस्टाल्ट-पंथी मनोविज्ञानिकों के समान संश्लेषमय (=Synthetic) हो जाता है। साथ ही साथ उसमें वेनेडेट्टो क्रोसे की सौन्दर्य-समीक्षा के मूल में रहने वाली अभिव्यक्ति-प्रधान रचनात्मक कला-क्षण की कल्पना भी पर्याप्त अंश में क्रियमाण रही है।

मनोविज्ञानिक के लिए जो बातें पहली बन प्रस्तुत होती हैं, उन्हें जैनेन्द्र जैसे कलाकार किस सहजता के साथ सुलझा डालते हैं, इसके प्रमाण-रूप कई लेख इस संग्रह में हैं। एक लेखनुमा कहानी, 'कहानी नहीं,' ही ले लें। स्वयं कथन के (=Monologue) रूप में अमीर के मन का चोर किस मजे से पकड़ा गया है! जैनेन्द्र जहाँ आलोचक होकर प्रस्तुत होते हैं, वहाँ भी ध्यान देने की बात यह है कि वे अपने में के कलाकार को नहीं खोते। 'प्रेमचन्दजी की कला,' 'रामकथा,' अथवा नेहरूजी के आत्म-चरित पर लिखे गये लेख इसी कलात्मक आलोचना शैली के मनोहर प्रमाण हैं। वस्तुतः आलोचना का आदर्श भी वही है जहाँ आलोचक मन के रस को नहीं खो देता, जहाँ वह एक-मात्र बुद्धिवादी बनकर विश्लेषण को ही प्रधान और अन्तिम कर्तव्य नहीं मान बैठता। आलोचना में भी क्यों न आत्म-रस-दान ही प्रधान हो? इसी विचार को जैनेन्द्र ने अपनी प्रमुख दृष्टि मानकर सदा सामने रक्खा है। (३२-४०)

ऊपर जो कहा गया है कि जैनेन्द्र निरी बुद्धि से अधिक सर्वस्पर्शी-भाव-भूमि को अपनाते हैं, उसका अर्थ विवेकशासित भावनाओं के अर्थ में लेना अधिक युक्त होगा। क्योंकि वैसी निरी भावना के शिकार बनने में वे सुख नहीं लेते, वह तो पुनः एक अन्व-स्थिति है। परन्तु प्रेम की भावना को या कहो सर्वव्यापी सहानुभूति को ही जैनेन्द्र ने जैसे अपने भीतर रमा लिया है। इसी से वे उस उन्नत शालीनता के साथ अस्वीलता के भौतिक प्रश्न को छूते दीखते हैं (पृ० २६) कि जिससे दुश्चरित्रा ठहराई हुई और गृहदियों द्वारा पत्थर फेंककर सताई गई स्त्री पर ईसा के करुणा-द्रवित होने की, मद्रास में देशवाओं के सम्मुख गाँधीजी द्वारा दिये गये करुणा-रंजित यमनापूर्ण भाषण की, अथवा बुद्ध और गुजाता की कथायें आँखों के सामने आ उड़ी होती हैं। सच्चा कलाकार इसी अन्तिम सत्य की अलौकिक भूमि पर खड़े होकर, लौकिक सुन्दर-असुन्दर के भेद-अन्तर को आँखों के सामने बिलमते-बुझते देखता है। अरे, सत्य की महादशिनी आँखों के आगे ये भेदभाष कहाँ बचे रहते हैं? दुर्बल मानव-मन-निर्मित मूल्य-भेद जहाँ जाकर एकमेक हो जाते हैं उसी को आध्यात्मिक या आधिदैविक दृष्टिकोण कहते हैं।

आधिभौतिक आचार या नीति-अनीति के रूढ़ बंधनों की कीमत कूतनेवाले शास्त्र (=एथिक्स) की समस्यायें भी इसी तरह जैनेन्द्र के लिए बहुत कम कठिन रह जाती हैं। जैनेन्द्र क्या, प्रत्येक सुबुद्ध लेखक अपनी काल-परिस्थिति की मर्यादाओं से बाहर जाकर बात करता है; वह एक प्रकार का निलिप्त फकीर और द्रष्टा ही होता है। (पृ० १०-११) इस दृष्टि से उसका उत्तरदायित्व कम नहीं होता। उसे अपने समाज की स्थिति को अपने साथ आगे बड़ा ले जाना होता है; अर्थात्, उसे कीमतें बदलनी होती हैं। अब कीमतें बदलने के दो तरीके हैं। एक तो वह है जो आँधी-सा है, जिसे 'क्रान्ति'

कहते हैं; दूसरा वह जिसमें लोगों को किसी भी तरह खदेड़ा, कुचला या अप्रेम से अपनी भूमि पर जबर्दस्ती (यानी हिंसा को जगह देकर भी) खींचा नहीं जाता, बल्कि प्रेम और समभावे से त्याग और भलेपन की अहानिकर और अहिंसक तथा नम्र और विनीत-पद्धति से मनवाया जाता है। क्योंकि जहाँ दृढ़ हृदय झुकता है, वहाँ उस झुकने के द्वारा क्या उतनी ही दृढ़ता के साथ वह औरों के हृदय को भी नहीं झुकाता ? परन्तु जल्दतर सिर्फ इतनी ही होती है कि वह दृढ़ हृदय इतना प्रेम से लवालब, कृपा से ओत-प्रोत, इतना अलग एवं ध्येय-मय-विरागपूर्ण हो कि जिसमें राग-द्वेष को पास फटकने का अवसर तक न मिले। यही कठिन और कष्टों से भरी दूसरी राह जैनेन्द्र ने अपने लिए चुनी है। उनका मृत्यान्तरीकरण (=transvaluation) नीचे के समान दुर्द्वर्ष विद्रोह, हिंसा, और जिघांसा पर नहीं खड़ा है। जहाँ जमाना क्रान्ति के नशे में कोरे, पराये शब्दों के पीछे अपने को खोने को तुला है, वहाँ जैनेन्द्र की यह निष्कपट निष्ठा सराहनीय ही नहीं वरञ्च महत्त्वशाली है। इस दृष्टि से 'प्रगति क्या' यह एक पढ़ने की चीज है।

जैनेन्द्र के विचार-लोक पर वंदनीय गाँधी जी के सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की सिद्धान्तत्रयी को जैनेन्द्र ने भी जैसे आधार के तौर पर पूरी तरह अपना लिया है। इसकी इष्टानिष्टता पर तर्क करना स्थल और विषय की दृष्टि से यहाँ अपेक्षित नहीं।

मिसाल के लिए कर्मसंबंधी महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही ले लें। वर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के समान उनके द्रव्यानुयोग में विभेद नहीं और न वे जीनो या पारमिनाइडस के समान सर्व-स्थिति-मय किंवा हेराक्लाइटस की तरह सर्वगतिमय ही होकर किसी वस्तु के अर्ध सत्य को पकड़कर ही चलते हैं। यहाँ जैनेन्द्र की 'एक कैदी' कहानी के कुछ वाक्य देने से स्पष्टीकरण होगा; "सत्य स्थिर नहीं है, घिरा नहीं है, न अनुशासन से परिवद्र। काल भी सत्य ही है; काल जो बनने और मिटने का आधेय है। अतः स्थिरता सिद्धि नहीं, गति भी आवश्यक है। जीवन अस्तित्व से अधिक कर्म है।" अब इसी कर्म-प्रश्न को जिस तरह गीता में 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' कहा गया है, जैनेन्द्र भी 'आप क्या करते हैं' जैसे वाक्यतः वृद्धपन से भरे दीखने वाले निबंध में, इस मजेदार सरलता से प्रतिपादित कर डालते हैं कि देखते ही बनता है। किसी इन्शयोरन्स एजेंट के आग्रह से चिढ़कर ही जैनेन्द्र ने इस लेख की मृष्टि कर डाली थी। वैसे तो, आचार-शास्त्र संबंधी कई प्रश्नों का समाधान मेरे किये गये विविध प्रश्नों की उत्तरावली, जो पुस्तक के पीछे दी है, मिल जाता है। तो भी 'व्यवसाय का सत्य', 'उपयोगिता', 'भेदाभेद', आदि लेख भी इसी दृष्टि से पढ़े जाने योग्य हैं। यहाँ एक मार्क की बात है कि जैनेन्द्र कभी सामान्य समझ (Common sense) की भूमि नहीं छोड़ते। वह जैन मुनियों का-सा कर्म-संवर और कर्मनिर्जर का असंभाव्य उपदेश नहीं देते। जो भी हो, अपरिग्रह को वे एक राष्ट्रीय आवश्यकता समझते हैं।

अब आइए जैनेन्द्र के उस प्रिय लोक में जहाँ उनको बारम्बार उड़-उड़ जाना भाता है। पुस्तक-समीक्षा-तक में जो अध्यात्म-भूमि उनसे नहीं छूटती, उसी के विषय में कुछ

कहें। क्या वहाँ कुछ भी कहना चलेगा? शब्द भी वहाँ बन्धन हैं। 'मानव का सत्य,' 'सत्य, शिव, सुन्दर,' 'कला किसके लिए,' मुझे भेजे 'पत्रांश,' 'दूर और पास,' 'निरा अ-द्विबद्धि' आदि इसी दृष्टि से लिखे गये सुन्दर निबंध हैं। जैनेन्द्र की जीव, द्रव्य, आत्मवरेण्य संबंधी विचारावली पर जैन-धर्म की छाया उतनी नहीं जितना वेदान्त का प्रभाव है। उसे पूर्णतः वेदान्त भी कहना गलत होगा। वह तो एक तरह से सर्वसाधारण का लोक-धर्म है। वे 'अनुभव' में विश्वास करते हैं। श्रद्धा के एकमेव साधन होने की बात भी स्वीकार करते हैं। संसार के आदि और अन्त की बात साधारण जन को ज्यादा उपयोगी नहीं, और ऐसी अलिप्त और विच्छिन्न एवं वादग्रस्त समस्याओं में वे नहीं पड़ते। कुछ तर्क-प्रधानता अपने 'एक पत्र' में उन्होंने अवश्य अंगीकृत की थी। परन्तु, वैसे उनकी साधारण विचार-भूमि व्यावहारिक वेदान्त की अथवा आवश्यकीय साधारण समझादरी की है। रीड आदि स्कॉटिश दार्शनिकों के समान उन्होंने Common sense को ही पुनरुज्जीवित, स्पष्ट और अभिव्यक्त किया है। इसी से मैं जैनेन्द्र के विचारों में जनता के साथ कई दशाब्दियों तक टिके रहने की क्षमता पाता हूँ।

परमात्म-तत्त्व के विषय में जैनेन्द्र की आस्तिकता कुछ अज्ञेयवादियों की-सी है। वे तर्क से परमात्मा को सिद्ध नहीं करना चाहेंगे। उनके ख्याल में तो 'जो है सो परमात्मा है।' उसे वे 'अस्तित्व की शर्त' मानकर चलते हैं। जैनेन्द्र की इस भावुकता में हिन्दू मर्मियों की-सी सारूप्य-प्रधान कातरता घुली हुई नजर आती है जो अत्यधिक मननीय नहीं तो भी सर्वथा मननीय अवश्य कही जा सकती है। जैनेन्द्र श्रद्धालु हैं। वे अपनी श्रद्धा किसी भी चीज के खातिर खोना नहीं चाहते, अपनी श्रद्धा पर उन्हें इतनी श्रद्धा है। वे कला, जीवन, साहित्य,—समस्त विचारों का अन्तर्विन्दु उसी सत्य-तत्त्व को मानते हैं। परन्तु, तो भी, वे परमात्मा को अगम और अज्ञेय ही समझते हैं। स्पेन्सर ने जब ज्ञेयवाद और अज्ञेयवाद की मीमांसा की तब उसकी दृष्टि वैज्ञानिक अधिक थी। पर जैनेन्द्र की आस्तिकता टालस्टाय या गाँधी के जैसी है जिसमें, विज्ञान से अधिक, कैंट के परमात्म-अस्तित्व की नैतिक आवश्यकता का तर्क ही अधिक कार्यशील है।

यहीं जैनेन्द्र के सत्य और वास्तव के अन्तर को समझना होगा। तर्कशास्त्री ब्रैंडले के 'भास और वास्तव' ग्रंथ में कहा गया है कि "वास्तव के साथ मेरा संबंध मेरे सीमित अस्तित्व में है। क्योंकि, इससे अधिक प्रत्यक्ष संबंध में मैं वहाँ आना हूँ, सिवा उसके जिसे मैं महसूस कर रहा हूँ यानी 'यह'।" ('भास' पृ० २६ ?) और यहाँ 'यह' उसी अर्थ में वास्तव है जिस अर्थ में और कुछ वास्तव नहीं है" (पृ० ११३) कुछ-कुछ यही स्थिति ज्यूलियन हक्सले जैसे वैज्ञानिक ने अपने 'साक्षात्कारण्य धर्म' नामक पुस्तक में स्पष्ट की है। यहाँ तक कि चेतन मन की ध्योरी ईजाद करने वाले विलियम जेम्स जैसे मनो-वैज्ञानिक भी अन्ततः जाकर जब-जब रहस्यवादी बने हैं, तब-तब यह जान पड़ता है कि वैज्ञानिक अथवा तार्किक बुद्धि ही सत्य को समग्रता से आकलित करने का मार्ग नहीं। उसे भाव-गम्य भी बनाना होगा। यहीं हादिकता और श्रद्धा की महत्ता, आप से आप,

उद्भूत और सिद्ध हो जाती है।

यहाँ जैनेन्द्र के समष्टिवाद के विषय में एक शब्द कहना जरूरी होगा। जैनेन्द्र के समष्टिवाद में आत्म-तत्त्व को न गौण माना गया और न भुलाया ही गया है। या कुछ सुधारकर कहें तो सच्चे आत्म-बोध में से ही समष्टि-बोध जाग्रत होगा ऐसा माना गया है। 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है' जैसी सर्वात्मभाव की स्थिति में पहुँचने पर मोक्ष का, यानी अध्यात्म का, महत्त्वशाली मसला अलग या दूर नहीं रह जाता। डॉ० राधाकृष्णन ने अपने निबंधों में जगह-जगह यह दर्साया है कि हिन्दू दर्शन व्यक्ति की उतनी परवाह नहीं करता जितनी तत्त्व की। पर ध्यान रहे कि यह तत्त्व ही अन्ततः ऐसा उदार और व्यापक है कि उसमें व्यक्ति को अपनी उपेक्षा का अवकाश नहीं है। तत्त्व ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है और व्यक्ति तत्त्व के लिए जीता है, ऐसी शृंखला भारतीय दर्शन में अव्याहत है।

मुक्ति के सवाल पर मुझे एक बार कभी कहीं लिखीं अपनी दो पंक्तियाँ याद आ गईं—

‘इन्सान ने हमेशा राहत की राह पृच्छी
पैगम्बरों ने पूछा—‘क्यूँ, कब, कहाँ बँधा है?’

गर्ज यह कि खलील जिब्रान ने जिस प्रकार आत्म-कमल की पँखुरी-पँखुरी खुल जाने का जिक्र किया है, वैसे ही मुक्ति और बंधन मानवी मन की धूप-छाया है। हम चाहें तो, कब मुक्त नहीं हैं? और वैसे भीखते ही रहें तो कब मुक्त हो सकेगे?

अन्त में जैनेन्द्र की विचार-मान्यताओं और समस्याओं के बारे में मुझे यह दुहराने दो कि कलाकार जैनेन्द्र ने जहाँ अपनी कलम अखंड सहानुभूति के जीवन में डुबोई है, वहाँ सदा ही स्याद्वाद से रँगकर उसने चित्रांकन किया है, फिर चाहे अमूर्त के Ratification की बात हो, चाहे मूर्त और प्रस्तुत दुनियावी मामलों और मूल्यों पर सूक्ष्म, परन्तु काफी असरदार, व्यंग हों,—सब ही जगह ‘स्यात्’ की वह सप्तभंगिमा जैनेन्द्र से छूटी नहीं है।

जीवन-दर्शी जैनेन्द्र: संस्कृति-आलोचना

साहित्यिक जैनेन्द्र से भी पहले जीवन-दर्शी जैनेन्द्र का विचार आवश्यक है। मेरे मित्र अक्सर जैनेन्द्र के समाज-संस्कृति-विषयक लेखों को पढ़कर अजीब-अजीब श्रुमान निकालते हैं। कोई कहते हैं वे सोशलिस्ट हैं, कोई कहते हैं वे गांधीवादी हैं, कोई कहते हैं वे रोम्याँ रोलॉ हैं! कोई कहते हैं, कुछ नहीं लोगों का मनोरंजन करते हैं, बौद्धिक कसरत दिखाकर। कोई युवक कहते हैं, ‘रेडिकल हैं’ ‘रेडिकल,’ और एक प्रोफेसर साहब का तो तर्क है कि उन्होंने एक अपना mannerism (=लेखन-शैली) बना लिया है और उसी से, कुछ अधपके, अधपके विचारों की खिचड़ी, कुछ सामान्यीकरण सिद्धांत,

तत्त्व-चर्चा के नाम पर लिखते रहते हैं—‘फिलासफर दनते है जी !’ और सबसे विचित्र बात एक औंधी खोपड़ी वाले ने कही—‘ईड्रियट’ है, अर्थात् पगले ।

मैं इतने अधिक लोगों के भिन्न-भिन्न मतवाद सुनता हूँ और तो भी यह नहीं समझ पाता कि आदमी क्यों चाहता है कि दूसरा वाद भी उसकी अपनी धारणाओं के साँचे में फिट बैठे दिया जाय । क्या जीवन किसी कटे नाप के कोट जैसी स्थूल और धारणाबद्ध वस्तु है, या कभी हो भी सकी है ? जहाँ-जहाँ वह रूप-धारण-बद्धता है, वह जीवन में हो चाहे विचारों में, वहाँ-वहाँ हठ आता है, यानी अनिष्ट आता है और यह अवांछनीय है । जीवन, विचार, सभी हेगेल के चिर-विकसनशील Logos के (= विचार-तत्त्व के) व्यक्तीकरण हैं । इसलिए कोई जरूरत नहीं है कि जैनेन्द्र किसी ‘इप्सम’ में फिट हों ही ।

सबसे पहली चीज जो मैं जैनेन्द्र के जीवन-विचार में प्रधान मानता हूँ, वह है उनकी सरल-सहज सर्वसामान्य जीवन-संबंधी सभी समस्याओं को इतनी सरलता से और जनसामान्य के बुद्धि-भार और पुस्तक आतंक से विहीन दृष्टिकोण से देखने की उनकी क्षमता ही को मैं असामान्य मानता हूँ । अपने अनुभव की कीमत देकर जो विचार ग्रहण किये जाते हैं उनमें मैं विचारक जैनेन्द्र की प्रत्येक पंक्ति को रक्खूंगा । उनका प्रत्येक अक्षर हार्दिक और प्रामाणिक है । उन्होंने इस पुस्तक के लेख-भाषण-प्रश्नोत्तरों में एक भी पंक्ति सिर्फ लिखने के लिए नहीं लिखी है । वह जीवन की गहराई से उद्भूत, उद्गीर्ण है, और उतनी ही गहराई उत्पन्न करने के लिए लिखी गई है ।

तो जग-जीवन के आज के स्वरूप में,—मानवता में, भेद-विभेद बहुत हैं । उन्हीं से पीड़ा भी बहुत है । उसके प्रतिकार के लिए उपाय क्या है ? क्या मार्क्स के कहने के अनुसार असंतोष को और बढ़ावा देना होगा ? क्या छव्स आवश्यक रूप में विकास प्रस्तुत करेगा ? स्पष्टतः, नहीं । तो फिर क्या आदर्शवादी गाँधी के समान केवल भविष्य की आशा पर निर्भर हो रहना होगा ? भविष्य-आस्था भी एक दूरीकृत कल्पना से ज्यादा क्या है ? और क्या कोरे स्वार्थ पर आधारित परजातीय शासन का हृदय-परिवर्तन,—व्यापारी और कूटनीतिज्ञ का हृदय-परिवर्तन इतनी सीधी सादी बात है ?

मेरे विचार में, यह मनुष्यता से बहुत ज्यादा आशा रखना है । इतिहास ऐसे बिरले, अंगुली पर गिनने योग्य, सफल आदर्शों के प्रमाण चाहे दे, पर समष्टि की दृष्टि से ऐसी अपेक्षा आकाशकुसुम जैसी है । पर जैनेन्द्र की भूमिका संत की ऐसी वहीं हो जाती है जहाँ वे व्यक्तिवाद के अनन्यतम समर्थन में, संभाव्य-असंभाव्य वास्तविकता को भूल कर, अध्यात्म के वायुलोक में विहरण करने लग जाते हैं । पर यह भी मुझे बुरा बिलकुल नहीं लगता । क्योंकि यह तो सर्वांशतः भारतीय प्राण तक जिसके भारतीय हैं ऐसा, दृष्टिकोण है ।

यह तो मैं भी मानूँगा कि जिस अर्थनीति और भौतिक, जड़वाद को समाजवाद

के रूप में पश्चिम द्वारा अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है और जिसका यह परिणाम है कि मानवता की उपेक्षा में पूर्व उन पश्चिमी घनिकों द्वारा निरर्थक शोषित हो रहा है वह सर्वोत्तमः शलत है। हमें व्यक्ति के नैतिक बल में विकास करने की बहुत ज्यादा जरूरत है। इसी से हमें इस समाज से मुक्त होना है जो विज्ञान का शिकार बन गया है। 'नहीं चाहिए हमें मशीन सभ्यता का यह खोखला रूप,' यही जैनेन्द्र की आत्मा की पुकार है।

साहित्यकार जैनेन्द्र : शैली का वैशिष्ट्य

और यह पुकार किस सफाई और बुलन्दगी से व्यक्त होती है ? उनके लेखों में उन्हें पढ़ने से वातचीत का अथवा स्वयं उन्हीं से वातचीत करने का मजा कैसे उत्पन्न होता है, यह दर्शनीय है। यहाँ साहित्य के एक अध्ययनशील विद्यार्थी के नाते जैनेन्द्र-साहित्य और जैनेन्द्र के साहित्यिक विचारों पर मुझे कुछ कहना जरूरी जान पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तक का आधे से अधिक अंश साहित्य और आलोचना से भरा है। साहित्य क्या, साहित्य और समाज, साहित्य और धर्म, साहित्य और राजनीति, साहित्य और नीति, साहित्यकार कौन, कैसा आदि लेख, लेखक संबंधी प्रश्नोत्तर, कुछ पत्र, और नेहरूजी के आत्मचरित और प्रेमचन्द पर लिखी हुई आलोचनाओं से मेरा मतलब है। साथ ही स्थान-स्थान पर साहित्य-सभाओं में दिए हुए भाषण भी उसमें आ जाते हैं। साहित्य शब्द के निर्माण में जो 'सहितता' अर्थात् समवेतता या व्यक्ति में समष्टि की उपलब्धि के अर्थ विश्व में बिखर जाने की जो अंतर्तम लालसा है, साहित्य को उसी का शब्दांकित रूप जैनेन्द्र ने माना है। इस दृष्टि से उन्होंने उसे विज्ञान या दूसरे ऐसे बुद्धि व्यवसायों से अलग माना है। साहित्य मुख्यतः भावों का आदान-प्रदान है। वह विचार-जागृति का विधायक, प्रणेता है। इस अर्थ में वह निष्प्राण, जीवन से भिन्न, असंबद्ध और विभक्त, अथवा वासना-सेवी कभी नहीं हो सकता।

साहित्य की सीमाओं और जिम्मेदारियों को भली भाँति पहचान कर ही जैनेन्द्र ने साहित्य लिखा है, यह कहना अयुक्त न होगा। उनके साहित्य में सबसे प्रथम और विशेष गुण, उनकी भाव-रम्य सहज वातालाप शैली के अतिरिक्त, उनकी विचार-प्रवर्तकता है। उनके विचारों पर चाहे-जो आरोप हम करें, पर यह तो हम कदापि कह ही नहीं सकते कि वे पाठक या श्रोता के मन में विचार-लहरियाँ नहीं उठाते। उनकी लेखनी की क्षमता इसी में है कि वह विचारों को ठेलती, कुरेदती और आगे बढ़ाती है। एक अच्छे लेखक से प्रामाणिकता और विचार-प्रवर्तकता से अधिक कोई माँग करना भी भूल है। पश्चिमी साहित्य पढ़-पढ़ कर हमारे दृष्टिकोण में कुछ इस तरह की एक खराबी पैदा हो गई है कि हम उसी साहित्य को ज्यादा उत्कट मानते हैं जो मत-प्रचार से भारा-क्रान्त हो। जैसे अप्टन सिक्लेयर या ऐसे ही छलछलाती शैली और भावों के अन्य ग्रन्थ-

कार। भारतीय आदर्श ऐसी भाव-विषमता के आवेश से पैदा हुए या नसों में ज्वार-उभार पैदा करने वाले साहित्य से सर्वथा विभिन्न रहा है। हमारे यहाँ भावों का विनिमय विचारों का आदान-प्रदान, कभी एक दूसरे को उत्तेजित करने के लिए नहीं होता। वैसे लेखन या भाषण असभ्य अनैतिक माना जाता था। हम भारत में साहित्य को शांति और संतोष के प्रसार का एकमेव साधन, रस-सृष्टि का प्रकार, मानते आ रहे हैं। जैनेन्द्र के लेखों में विचार-प्रवर्तकता है, विचारोत्तेजना नहीं।

जैनेन्द्र का दूसरा विशेष गुण उनकी प्रश्नोत्तरशील शैली में है। वहीं जैनेन्द्र की वास्तविक सुलझी हुई मानसिक प्रभुता के सच्चे दर्शन होते हैं। व्यक्तिशः जैनेन्द्र की विचारकता में मेरी आस्था ऐसे ही खूब निविड़ विवादों के बाद हुई है। वे विवादों में शंका और सब प्रकार की परिस्थिति की अशान्तियों के मध्य में अडिग रह सकते हैं, इसी गुण को मैं कलाकार की अमर साधना का प्रतीक मानता हूँ। जैनेन्द्र अविचलित रहने वाले साहित्यकार हैं। इसी से हम कहेंगे कि उनका साहित्य-भाव विरलतर से विरलतम होता जा रहा है।

भाषा और शैली संबंधी बातों पर जब हम आते हैं तब उनकी विशेषता बिल्कुल साफ और अलग नजर आ जाती है। वे भाषा को कभी बनाने नहीं बैठते। ज्यादा बनावट का अर्थ है बिगाड़। जैनेन्द्र का वैशिष्ट्य है कि उनकी अनसंवारी भाषा में भी उनके विचार अतिशय संयत रूप में प्रसूत होते हैं। क्योंकि वह अनसंवारापन भावुकता के आधिक्य से नहीं उपजा, (जैसे उग्र की शैली) और न उसमें चुनौती-सी देती वह लापरवाही है जो अंग्रेजी लेखकों की नकल पर इधर लिखी जाने वाली हिन्दी की कहानियों में पाई जाती है। उनमें एक खास किस्म की मुक्त-प्राण open-aired निश्चिन्तता, एक आत्म-विश्वास की प्रफुल्लता, वनबाला की-सी स्वस्थ और चेतोहर स्वच्छन्दता है। और भाषा के मामले में ज्यादा फिक्क सचमुच में ठीक नहीं, क्योंकि वह लेखक को अतिरिक्त भाव से सचेष्ट और सचेत (conscious) बना डालती है। यह अवस्था सहज स्फुरण के अनुकूल नहीं। क्या लेखन में और क्या जीवन में, सहज होकर ही अपने को दूसरे में मिलाया जा सकता है? बिना सहज-भाव के तादात्म्य असंभव है। जैनेन्द्र भारी उलझनों में से इसी श्रद्धामय स्वाभाविकता के सहारे बेदाग पार चले जाते हैं। यह लेखक के व्यक्तित्व के लिए अतिशय महत्त्वशाली वस्तु है। यहाँ पाठकों के उपयोगार्थ साहित्य-विषयक टिप्पणियों की ओर इशारा आवश्यक होगा।

दूसरी बात है अपरिग्रह। स्व० प्रेमचंद के बाद, हिन्दी में इतनी बहती हुई और हृदयग्राही शैली के साथ ही साथ थोड़े में बहुत कह डालने की खूबी जिन कतिपय लेखकों में हम देख पाते हैं उनमें जैनेन्द्र का स्थान विशेष है। जैनेन्द्र की शैली में निरर्थकता से बचने का कितना सफल और सुन्दर आदर्श हम पाते हैं! परिणामस्वरूप इधर उनके वाक्य विचारों से खचित भारी होने लगे हैं,—वे सूत्र बनने लगे हैं। यह गागर में सागर भरने की संकेतात्मकता आज के लेखक में बहुत ही ज्यादा जरूरी मानी जाने लगी है, जब

कि जमाने के पास समय थोड़ा बचा है और धन्ये (चाहे फिर वे स्वांग ही हों) बहुत अधिक हो गए हैं ! सूचकता (=Suggestiveness) जैनेन्द्र के कई कहानीनुमा लेखों में और दो गद्य-काव्यों में बहुत अधिक प्रमाण में उपस्थित है। असल में वह शैलीगत ही है। उदाहरण के लिए 'जरूरी भेदाभेद,' 'कहानी नहीं,' 'दूर और पास,' 'राम-कथा' आदि। उसमें तर्क करने की पद्धति भी इतनी मनोहारी है कि वह तार्किक नहीं लगती। वह पाण्डित्य से आच्छन्न जैनी नहीं है। वह सदैव ताजा, प्रसन्न, सारी और चलती हुई हिन्दुस्तानी लेखन-शैली है।

जैनेन्द्र की लेखन-शैली की तीसरी खासियत उसका घरेलूपन है। इस विशेषता को गौण बनाकर नहीं देखा जा सकता। अक्सर मौकों पर ऐसे मौजूं मुहावरे हमें मिलते हैं कि जिनकी मिसाल नहीं। 'विलाद,' 'विसात', 'भिल नहीं रही है', 'अमाना' आदि कई रोजमर्रा के व्यवहार के शब्दों के साथ ही जगह-जगह दार्शनिक संज्ञाओं के लिए इतने सरल शब्द प्रयोजित हुए हैं कि देखते ही बनता है। कई नये शब्द जरूरत के वक्त मानों आप ही आप बन गए हैं जिनसे लेखक का भाषा-विषयक अधिकार व्यक्त होता है। अवश्य कई स्थलों पर काफी दुर्बोध शब्दों की भी योजना हुई है परन्तु वह मेरे विचार से भाषा की लाचारी की वजह से हुई है, लेखक की अक्षमता और आग्रह की वजह से नहीं। यथा स्थान-स्थान पर अँग्रेजी शब्द-योजना।

जैनेन्द्र की सहज भाषा में गहन विचार ढाल देने की विशेषता, विनोद से कहूँ तो, इस तुलना से व्यक्त हो जायगी—जैसे एक ओर मेरी मातृभाषा न होने से मेरी इसी भूमिका की कृत्रिम किताबी हिन्दी और दूसरी ओर जैनेन्द्र की 'नेहरू और उनकी कहानी' की सरलातिसरल शैली। इस पर अब ज्यादा विचार करना भी नदी के 'जीवन' की गहराई के नाप की अपेक्षा, पात्र और लम्बाई-चौड़ाई का बाह्य विचार करने के समान होगा।

जैनेन्द्र और हिन्दी का भविष्य

आशय यह कि जैनेन्द्र से हिन्दी को बहुत आशाएँ हैं। हों भी क्यों न ? जैनेन्द्र का पटना का भाषण, जो इस संग्रह में 'हिन्दी और हिन्दुस्तान' शीर्षक से प्रकाशित है, इस दिशा में जैनेन्द्र के राष्ट्र-भाषा-विषयक विचारों का विधायक और व्यावहारिक स्वरूप जतला सकता है। परन्तु इस पुस्तक के साथ जैनेन्द्र को, जिन्हें कि हिन्दी अब तक कहानी-कार और उपन्यासकार के रूप में जानती थी, एक अच्छे चिन्तक, दार्शनिक और निबन्धकार के रूप में 'पा सकती है। यह दायित्व तो हिन्दी के कंधों पर है कि चाहे वह इस विचार-लोक के द्युतिमान नक्षत्र को (क्योंकि आखिर सत्ताईस ही तो निबन्ध-लेख-गद्यकाव्यादि इस संग्रह में ग्रथित हैं) अपने गौरव का केन्द्र-बिन्दु समझकर समुचित स्थान दे, चाहे जैसे कई अन्य कलाकार हिन्दी में उपेक्षित रह गये हैं, वैसे ही इसे भी अनंत शून्य और विस्मृति के क्षितिज में गिरकर विलीयमान हो जाने दे। इस बारे में ज्यादा कुछ

कहना हो भी क्या सकता है ?

तो भी, हिन्दी के लिए जो मुझे ममता है, उसकी संपूर्णता के साथ मुझे कहने दीजिए कि हमारे साहित्याकाश में हिन्दी के भविष्योज्ज्वल सुवर्ण-काल के प्रभात तारे द्युतिमान होने लगे हैं। जैनेन्द्र उनमें शुक्र हैं। ये सब उस आने वाले भाग्योदय के सूचक, मंगल-चिह्न हैं। हिन्दी माता के सौभाग्यालंकार को अब हमें समझने और जानने के लिए अधिक समय लगाना अज्ञान नहीं, पाप माना जायगा। हिन्दी गद्य अब पुरातन परिपाटी की सीमा से बाहर आकर निखरने लगा है, अपने पैरों पर खड़े रहने का पर्याप्त मौलिक मनोबल उसमें अब आने लगा है और अब उसे आवश्यकता नहीं रही है कि बंगला या अंग्रेजी की जूँठ से ही संतुष्ट रहे। उस पर युग की चोट पड़ी है और उसे प्रस्तुत और प्रबुद्ध होकर उस युग को प्रति-चोट देने जितनी क्षमता अपने बाहुओं में पाना है।

हिन्दी लेखक उस क्षमता को विचार-सूक्ष्मता, संकल्प की दृढ़ता, निरर्थक के मोह का परित्याग, भाषा के संबंध में उदारता, आत्म-विश्वास और आत्म-सामर्थ्य द्वारा ही विकसित कर सकता है। जैनेन्द्र में इनमें से बहुत-सी चीजों के बीज हैं। और मेरी इस भूमिका से यह कदापि न समझना होगा कि मेरा कथन जैनेन्द्र पर अन्तिम वाक्य है। लेनिन ने कहा है, 'अन्तिम कुछ नहीं है' और जीवित लेखक चिर-वर्धमान होता है। उस पर जो कुछ हम कहें वह भी qualified अर्थों में ही लेना चाहिए, क्योंकि साहित्यकार और सरित्प्रवाह एक से हैं।

कुछ स्व-गत

नदी का एक नाम है वेगवती। वहना उसके स्वभाव में है। चट्टानें राह में आवें, पर वह रुकावट पर नहीं रुकती। वह अपने आप अपने ही समग्र जीवन-सामर्थ्य के साथ, अपनी दिशा खोज लेती है;—उसमें समुद्र के विराट् हृदय के साथ एकीकरण पाने की तीव्र लगन रहती है। वह अपनी शैल-गुहा से ममता का नाता तोड़ कर, पूरी गति और हादिकता के साथ सिर्फ बढ़ते जाना ही जानती है। राह में धूप और छाया की बुनी जाली उसे ढाँकती-खोलती, कंकड़-पत्थर के विछौने और निर्भर-बंधु उसका आमंत्रण करते, कँटीली झाड़ियाँ उसकी धारा की बाधा बन आतीं और बालू की अपार शोषकता उसके सम्मुख विस्तृत उपेक्षा बनकर फैली रहती है। तो भी नदी, नदी है। नहीं है उसे परवाह इन दुनिया-भर के बन्धनों की। वह तो निःश्रेयस की साधिका बनी उसी आकूल महा-सागर की ओर बस प्रवहमान, गतिशील है।

चिन्तक कलाकार के मुक्त विचार भी ठीक ऐसे ही होते हैं। वे सत्योन्मुख अभेदानुभूति की चिरन्तन-बालसा से अनुप्राणित, सजीव-सहज, निबंध-अखंड, सहिष्णु-उदार और वेगात्मक होते हैं।

ऊपरा ऊपरी दर्शक नदी का एक खंड देख कर कहता है, 'ओह, कितना तरंग-

तांडव, कितना अनियमित बिखरा-बिखरापन, जिसमें कोई एक सूत्रता ही न दीखे ! 'पर वह भूलता है। थोड़ी-सी विचार-पूर्वकता के साथ वह देखे तो पाये कि 'अरे, इसका प्राकृतिक प्रवेग तो देखो, इसकी सरल-सहज सत्यप्रियता तो देखो ! इसकी लक्ष्योन्मुखी कातरता ही क्या इसके प्राणों का सुसूत्र अर्थ नहीं ? अरे, इसका नदीपन ही तो इसके अस्तित्व का नियम है ! यह लहरी-नृत्य नहीं, यह जीवन-मंथन है ।'

जो मुक्त-विचार जीवन की कीमत देकर पहिचाने जाते हैं उनकी ट्रेजेडी वही है कि उन्हें कोई नहीं पहिचानता । वे अपरिचित, — अनएश्यूमिंग रहकर ही सुख पाते हैं । उनकी अपार आर्द्रता, उनका विश्व-वेदना के साथ हृदयगुन्थन क्वचित् ही मर्मराकुल होता है । अधिकतर वह नीरव रहता है । वे ऊर्ध्वगामी, निरन्तर मूक, आत्मा की व्यथा-गोद से उठने वाली, प्रश्न और विस्मय-चिह्नांकित पुकारें हैं ।

और दुनिया जब इस पशोपेश में ही पड़ी रहती है कि कोई समझे, हम तो नहीं समझते, तभी मेरे जैसा कोई अल्प-कौशल दृश्यांकनकार (= Landscape-painter) उस विचार-नदी के किनारों-किनारों पर पर्यटन करके किसी एक खंड को लेकर प्रयास करने बैठ जाता है कि जिसमें नदी की पूरी आत्मा की झलक वह अपने छोटे से चित्र-खंड में प्रस्तुत कर दे । उसमें वह अपने दृष्टिकोण को शक्यतः विस्तृत और तटस्थ बना कर नदी और नदी के आकाश-वातास को खींच लाने का प्रयत्न करता है ।

जैनेन्द्र के इस लेख-संग्रह की भूमिका लिखते समय मुझे अपनी ओर से इतनी-सी ही कैफियत कहो या विज्ञप्ति, दे देनी है ।

ऊपर सहज को समझाने का और निरभ्र आकाश की अपार नीलम गहराई में रंगच्छटायें खोजने का किवा नदी के तरंग-भेद में परिव्याप्त एकमेव 'जीवन-भेद' को चीलने का असाध्य कर्म मैंने किया है ।

इस प्रथम प्रयास में मैंने, हो सकता है, गलतियाँ भी की हों । कई भूलें भी रह गई हों । अनावश्यक विस्तार भी हो गया हो । परन्तु, मेरा अनभ्यस्त हृदय इस सबके लिए हिन्दी-पाठक से क्षमा माँग लेना चाहता है । भूमिका जिन्हें अपूर्ण-सी लगे, उनके लिए विशेष अध्ययन के संदर्भ रूप में टिप्पणियाँ पीछे हैं ही ।

भूमिका की इन अन्तिम पंक्तियों में मुझे एक तो श्री० 'अज्ञेय' का आभार मानना है जिन्होंने कृपापूर्वक अपनी प्लास्टर की मूर्ति का छाया-चित्र इस संग्रह के लिए भेज दिया । मित्रवर श्री० अ० गो० शेवड़े एम० ए० की एक भेंट का भी मैंने लाभ उठाया है । दूसरे प्रकाशक महोदय को भी धन्यवाद देना होगा जिन्होंने विशेषतः टिप्पणियाँ और संदर्भ-सूची आदि के बनाने में मेरी ओर से होनेवाले अनावश्यक और अत्यधिक विलम्ब को आत्मीय भाव से सहन कर लिया और मुझे यह मौका दिया कि मैं जैनेन्द्र के बिखरे विचारों को कुछ आकार-प्रकार देकर हिन्दी जनता के सम्मुख रखूँ । अन्त में, शायद यह कहने की जरूरत न होगी कि यह विचारों की पुस्तक है । विचार-पूर्वक ही यह पढ़ी जाय । यह भी कि विचारशीलों द्वारा ही यह आलोचित हो तो अच्छा ।

नहीं तो हिन्दी में, मैं देख रहा हूँ, विचार के विषय में पर्याप्त विचार नहीं किया जाता है। इस विषय में सावधानी रखने के लिए मेरी पाठकों से विनय है।

माधव कॉलेज,
उज्जैन,
१-११-३७

}

—प्रभाकर माचवे

फिर अब

‘जैनेन्द्र के विचार’ के पुनर्मुद्रण के सुखद समाचार चि० प्रदीप से मिले। चालीस साल बाद यह किताब फिर दुबारा छप रही है। बड़ी खुशी की बात है। इस समय चालीस साल पुरानी स्मृतियाँ मेरे मन में उमड़ रही हैं। मैं तब आगरा विश्वविद्यालय से, उन्नीस वर्ष की आयु में, दर्शन में एम० ए० कर रहा था। (स्व०) प्रेमचन्द ने मुझे ‘हंस’ में जैनेन्द्रकुमार का रेखाचित्र लिखने के लिए कहा था। उनकी मृत्यु के बाद जैनेन्द्रजी ने ‘हंस’ सम्भाला (स्व० शिवरानीजी के साथ)। मेरा लेख उस पत्रिका में छपा।

जैनेन्द्रजी से पहली भेंट सन्, '३४ में दिल्ली साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हुई थी। श्री नेमिचन्द्र जैन भी तब मेरे साथ थे। हम लोग जैनेन्द्रजी की रचनाओं के, विशेषतः उनकी भाषा-शैली के बड़े कायल थे। इतनी सादगी और इतनी मार्मिकता। उनकी लिखी हर चीज़ गौर से पढ़ते। ‘परख’, ‘सुनीता’ के बाद ‘त्यागपत्र’ छपा ही था। ‘कल्याणी’ पर पत्र-व्यवहार इस पुस्तक में है। तब एक अंग्रेजी में सीरीज थी बरटैंड रसेल, जोन डिटी आदि अनेक दार्शनिकों ने अपने प्रिय दार्शनिकों के निबंध-संग्रह छांटकर छापे थे। लंबी विस्तृत, भूमिकाएं लिखी थीं। मेरी इच्छा थी कि जैनेन्द्रजी के निबंधों का ऐसा ही एक संग्रह बनाऊँ—बड़ी-सी भूमिका लिखूँ। नोट्स दूँ। सत्ताईस निबंध थे। नक्षत्रों की उपमा देकर, गद्य को काव्यात्मक ढंग से हमने तब लिखा। (स्व०) माखनलाल चतुर्वेदी ‘एक भारतीय आत्मा’ की भाषा-शैली से हम प्रभावित थे। शब्दों के खेल में मजा आता था। किताब छपते-छपते उसमें फोटो देने की बात चली। श्री स० ही० वात्स्यायन तब आगरा में सैनिक के सम्पादक थे। ‘प्लास्टर आफ पैरिस’ में वे मंडेलियन की तरह अर्द्ध-उत्कीर्ण मूर्तियाँ बनाते, स्केच मैं कर देता था। जैनेन्द्र की किसी पुराने ग्रीक फिलास्फ़र की तरह गोल मूर्ति-जैसा चित्र उस संस्करण में छपा था।

पर निर्भय आलोचकों ने मुझे जैनेन्द्रजी का ‘बांसवेल्’ और क्या-क्या नहीं कह

डाला। (स्व०) हरिभाऊ उपाध्याय तो अक्सर कहते थे कि मैंने जैनेन्द्रजी को बिगाड़ डाला। अच्छे खासे कहानी लेखक—उपन्यासकार को ‘दार्शनिक’ बना डाला। मैं भी विनम्र भाव से जवाब देता, जैनेन्द्रजी की ही शैली में, “वनाने, बिगाड़ने वाला मैं कौन होता हूँ? हर ‘नर’ तो ‘नारायण’ की ही प्रतिकृति है।”

मैं यों ‘निमित्तमात्रं भव सत्यसाचिन’ था। मुझे उस संग्रह के कई निबन्ध बेहद पसन्द थे। ‘कहानी नहीं’ या ‘नेहरू और उनकी कहानी’ या ‘अ-बुद्धिवाद’ या ‘बाजार-दर्शन’ आदि। (स्व०) सियारामशरण गुप्त ने उस पुस्तक को बहुत ही मनोयोग से पढ़ा था। और मुझे एक बार चिरगाँव में कहा कि उनके निबन्ध ‘सच-भूठ’ लिखने की प्रेरणा उन्हें जैनेन्द्र के निबन्धों से मिली।

पर बाद में वह किताब बाजार से गायब हो गई। मेरे पास एकमात्र प्रति थी। वह कोई ‘रिसर्च’ के विद्यार्थी ले गये, तो ले ही गये। मैंने उस ग्रन्थ के दर्शन शायद गये पच्चीस-तीस वर्षों में किये ही नहीं। मैंने बाद में जैनेन्द्रजी पर अंग्रेजी में भी कई बार लिखा। मराठी ‘व्यागपत्र’ के अनुवाद की भूमिका लिखी। मेरा ‘इलस्ट्रेट वीकली’ वाला लेख युगोस्लाविया के राजदूत (स्व०) मिन्दरोविच ले गये—शायद उनके देश में, उनकी भाषा में, वह छपा। मैसूर विश्वविद्यालय में दस साल पहले एक सेमिनार अंग्रेजी विभाग ने बुलाया। मैंने ‘दि रेजिनेशन’ पर एक निबन्ध पढ़ा। जैनेन्द्रजी मेरे आदरणीय, प्रिय लेखक बने रहे हैं।

चालीस साल का अरसा बड़ा समय होता है। उसमें भी जैनेन्द्रजी अब भी नहीं बदले। उनकी वेश-भूषा, भाषा-शैली, मैं ज्यों की त्यों देखता हूँ—रहने का स्थान और ढंग भी। पर उनसे मेरी उम्र काफी छोटी है। यद्यपि मैं भी अब भारतीय संस्कृति के अनुसार वानप्रस्थ पूरा करके संन्यास की अवस्था में साठ में पहुँच रहा हूँ—मुझमें और मेरे सोचने में काफी परिवर्तन आये। ‘जैनेन्द्र के विचार’ अब मैं दुबारा, उसी उत्साह और उसी मनोयोग से, शायद कभी सम्पादित नहीं कर सकूँगा। जैनेन्द्रजी ने प्रश्नोत्तर-शैली अपना ली है (‘काम, प्रेम और परिवार’, ‘समय और हम’ और ‘समय समस्या और सिद्धान्त’ आदि-आदि)—वे ‘इतस्ततः’ लिखने लगे। मैंने भी उस पहली पुस्तक के बाद वैसे विस्तृत भूमिका या नोट्स किसी और व्यक्ति पर कभी नहीं लिखे।

भारतीय और पश्चिमी दर्शन-शास्त्र मैंने ग्यारह साल भारत में पढ़ाया; ढेढ़ साल अमेरिका में, विशेष रूप से गांधी-दर्शन, पढ़ाया। अब भी मैं उसी पर चिन्तन-मनन और लेखन (शोध-रूप में) कर रहा हूँ। पर मुझे जैनेन्द्रजी में एक खास विशेषता दिखाई दी। गांधी की नीति से प्रभावित इनके निबन्धों को मैं जानता हूँ। आचार्य विनोबा भावे में संस्कृत वैदुष्य अधिक है, किशोरीलाल घ० मश्रुवाला में तर्क-सूक्ष्मता थी, काका साहब कालेलकर में प्रवासी रसिक की संस्मरण प्रधान-शैली है, दादा धर्माधिकारी में वक्तव्य-प्रधानता। पर सृजनात्मक लेखन करने वाले दो-चार ही लेखक गांधी-नीति से इतनी गहराई से जुड़े हैं जैसे जैनेन्द्रजी। गुजराती

के श्री उमाशंकर जोशी कवि हैं, ललित निबन्धकार नहीं। श्री राजाराव अंग्रेजी में उपन्यास लिखते हैं। और भी कई हैं जो गांधीजी से प्रभावित रहे। हिन्दी में सबसे निकटतम कोई जैनेन्द्रजी के आते हैं, तो (स्व०) सियारामशरण गुप्त। उन पर डा० नगेन्द्र ने एक पुस्तक सम्पादित की है, जिसमें मेरा निबन्ध है। पर सियारामजी कवि अधिक थे, निबन्ध-संग्रह उनका केवल एक है। जैनेन्द्रजी ने विविध विषयों पर लिखा है। उनकी कहानी तथा उपन्यासों के अलावा एक दर्जन से अधिक ललित और विचार प्रधान गद्य की पुस्तकें बाद में छपी हैं। पर मेरी सीमा देखिये—‘जैनेन्द्र के विचार’ सम्पादित की थी, तब केवल सत्ताईस निबन्ध मुझे उनके मिले और मैं विश्वविद्यालय से नया-नया निकला बीस वर्ष का छात्र था। साहित्य और दर्शन में मेरी गहरी रुचि थी। ‘माधुरी’ में १९३५ में ‘वह विक्षिप्त दार्शनिक नीलेश’ मेरा लेख छप चुका था और ‘निराला’ जी ने ‘सुधा’ में १९३७-३८ में मेरा लेख पहले पृष्ठ पर छपा था। नृत्य-कला में ‘मनोविज्ञान’ (स्व०) रामवृक्ष बेनीपुरी ने मेरे रेखाचित्र ‘कर्मवीर’ में छापे थे, और ‘अज्ञेय’ ने ‘विशाल भारत’ में मेरी ‘दो इमप्रेशनिस्ट कविताएँ’। ‘सैनिक’ में मेरी कहानी ‘विसंगति’ पर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी मुझे ‘सैनिक’ कह चुके थे। श्रीमती महादेवी वर्मा ने मेरी कहानी ‘अश्रुमती गौतम’ ‘चाँद’ में छपी थी। पहली कहानी (स्व०) प्रेमचन्द ने ‘हंस’ में ‘अनजाने दाग’ छपी थी १९३६ में। (स्व०) शिवपूजन सहाय और (स्व०) धीरेन्द्र वर्मा ने मेरे ‘आजकल’ में छपे ललित निबन्धों पर बधाई के पत्र भेजे थे। ‘तेहिनी दिवसा गतः’... ‘अब वे दिन बीत गये।

‘जैनेन्द्र के विचार’ १९३७ में छपी, और चारों तरफ से मुझ पर प्रखर आलोचना के प्रहारों की वर्षा हुई। उग्र ने ‘विचार’ को ‘विकार’ कहा। नरोत्तम नागर ने ‘उच्छृंखल’, ‘पहाड़ी’ ने अन्यत्र, और किन-किन लोगों ने क्या-क्या नहीं कहा? पर जैनेन्द्रजी से मुझे क्या स्वार्थ था? और जैनेन्द्रजी को भी एक अज्ञात नाम, दूर के महाशाष्ट्रीय विद्यार्थी से क्या लेन-देन था। हमारे मित्र वीरेन्द्र कुमार जैन तो किताब पर रीझ गये। श्री काशीनाथजी त्रिवेदी ने बधाईयाँ भेजी। सन् ’४० में मेरा सेवाग्राम में विवाह हुआ, तो हर हिन्दी पढ़ने वाले को मेरी इसी किताब का पता था। मेरी दूसरी १/७ (एक बटा सात) किताब १९४३ में ‘तार-सप्तक’ और अपनी खुद की १९५० में ‘खरगोश के सींग’ छपी। वैसे (स्व०) राहुलजी के और विद्यानिवास मिश्र के साथ १९४८ में ‘शासन शब्दकोश’ भी छपा था। पर सन् १९३७ के बाद डेढ़ दशक तक लोग मुझे ‘जैनेन्द्र के विचार’ के लेखक के नाते ही जानते थे। पर वे सब बातें अब बहुत कुछ इतिहास का भाग बन गई हैं।

‘जैनेन्द्र के विचार’ आज भी, मेरी दृष्टि में, उतनी ही वैष्णव आस्था की, अनेकांत दर्शन-भरी, मूल्यवान पुस्तक है। वह केवल इतिहास का अंश बनकर नहीं बची है। इसलिए जैसे पच्चीस साल बाद ‘तार-सप्तक’ का पुनर्मुद्रण हुआ तो उसमें ‘वक्तव्य’ मांगा गया, तो जो वाक्य वहाँ लिखा वही मैं चालीस साल बाद इस पुस्तक के बारे में,

उसमें लिखी मेरी हर पंक्ति के बारे में, आज पुनः दुहराता हूँ—“ तब मेरे लिखे हुए शब्दों में मुझे एक भी पंक्ति बदलने की इच्छा नहीं है। जो कुछ मैंने तब कहा, वह आज भी सच है।”

आदरणीय श्री जैनेन्द्रजी शतायु हों। उनकी लेखनी और वाणी हिन्दी और उसके द्वारा भारतीय साहित्य को और विचार-घन दे, इसी मंगलकामना के साथ, मैं समाप्त करना चाहता हूँ। इधर मेरा शरीर और मन भी थक गया है। पहले जैसी स्मृति और शक्ति नहीं है। पर चि० प्रदीप के अनुग्रह के कारण ये पंक्तियाँ लिखीं। “त्वदीयं वस्तु, गोविन्दं, तुभ्यमेव समर्पितम्।”

भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में भारतीय दृष्टिकोण को आधुनिक दर्शन की शब्दावली के समकक्ष लाने में इस पुस्तक का विशेष साहित्यिक मूल्य है। यह शुष्क तर्क की पुस्तक नहीं, न केवल शब्द-विलास है। जैनेन्द्रजी हिन्दी गद्य में एक युग-निर्माता साहित्यकार हैं। उनके स्थान और विशेषता पर यहाँ और क्या लिखूँ? नींव के पत्थर का कार्य इस किताब ने किया, यही उसके प्रति मेरा ममत्त्व-भाव है। हिन्दी ने उसे स्वीकार किया, इसके लिए उन सभी सहस्रों अनाम-अज्ञात पाठकों और सुधी समीक्षकों को पुनः-पुनः सस्नेह प्रणाम।

—डा० प्रभाकर साचवे

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान,

राष्ट्रपति निवास,

शिमला-१७१००५

१४ अक्तूबर, १९७७

जैनेन्द्रकुमार : एक व्यक्तित्व-चित्र

ओयामा ने तो रेखाओं में जैनेन्द्र का व्यक्तित्व खींच लिया और बड़ी सफलता के साथ। आज मैं चाहता हूँ कि उसी व्यक्तित्व को शब्दों में खींचूँ और यह मैं बिल्कुल भी नहीं जानता कि मैं कहाँ तक सफल हूँगा। पर मुझे सन्तोष है कि जैनेन्द्र असफलताओं को भी उदार मन से अपना सकते हैं। साथ ही स्व० पू० प्रेमचन्दजी की आज्ञा—कि 'जैनेन्द्र पर तुम एक लेख लिखो, मनुष्य और कला दोनों पर'—का भी कैसे उल्लंघन हो सकता है? यों साहस बटोर कर मैं चलूँ, पहले मोटी बाह्य रेखाएं खींचना होगा, फिर धीरे-धीरे व्यक्तित्व की सूक्ष्मताएँ और अन्त में रंग भरना होगा।

देहली में साहित्य-सम्मेलन हुए तीन साल हो गये। जैनेन्द्रजी से पहली भेंट वहीं हुई। साहित्य-परिषद् में वे बोले; गल्प-परिषद् में बोलते-बोलते उन्हें रुक जाना पड़ा (भीड़ की मनोवृत्ति के कारण) और पहली ही बार ऐसे जान पड़ा जैसे इस अनसंवारी-सी शाल ओढ़े हुए व्यक्ति की बोली के पीछे कुछ अवश्य है जो गहरा है, ठोस है, अनुभूत है, और यह व्यक्ति केवल बोलना है इसलिए नहीं बोलता वरन्, बोले बिना रहा नहीं जा सकेगा इसलिए बोल रहा है। परिषदें आखिर परिषदें हैं, अवकाश के अभाव में बहुत कम जो भी कुछ वे बोल पाये उसमें सहजता थी, विचारों का वेग था और ऐसी कुछ बात थी जो सीधी भीतर असर डालती हुई पँठती है। उनके बोलने के बीच-बीच में अंग्रेजी के शब्द अपनी खास ज़रूरत के साथ बिलखे पड़े थे।

पर बाद में व्यक्तिगत भेंट हुई। और परिषद् में के जैनेन्द्र और परिषद् के बाद के जैनेन्द्र में कोई फर्क न पाया। जैसे यह साहित्य-स्रष्टा जो व्यक्ति है वह एकरस व्याप्त, लग्न-भरा और बिल्कुल निरामय सारल्य से ओत-प्रोत है, जैसे इसके व्यक्तित्व को अहम्-मद छू भी न गया हो, जैसे वह पूरी तरह भूल गया है कि वह जीवन-समीक्षक से अधिक या अलग भी और कुछ है। जीवन और साहित्य को इस प्रकार एक सूत्राबद्ध पाने वाले जैनेन्द्र की अपनी निजता उनसे पहली भेंट ही में व्यक्ति को मिलती है। अतिशय मिलनसार, निरालस और मितभाषी। जिसका निर्दम्भ भी एक प्रकार का दम्भ लगे ऐसा यह जीव यों लगता है मानो सभा-सोसाइटी या परिषदों के लिए बना ही न हो, जैसे पूरे तौर से उन्हें जीवन का वही फकीर ढंग अपनाना है जिसे कि वह अपने 'साहित्य और समाज' ('विश्वमित्र' में प्रकाशित) लेख में बनिया-ढंग से अलग कर चुके

हैं। या कि जो 'जल्दी में' व्यक्त किए हुए कला-सम्बन्धी अपने विचारों में उपयोगी या शुष्क सत्य से परे विराजमान होता है उसी सुन्दर सत्य की उपासना में जिन्दगी बिताना चाहता है। पर परिषद् या सभा या समाज जब उसे अपने में खींच ही लेता है तब भी उसके और समूह के बीच की गाँठ साफ अलग झलकती रहती है। 'आलोचक' कहानी में कान्फेन्स में जाना और 'जरूरी भेदाभेद' में धार्मिक सोशलिज्म, सब जैसे इसी बात के द्योतक हैं कि वह व्यक्ति सभा में पहुँचेगा भी तो उसका एक अंग बनने की अपेक्षा; उसी के पंडाल के आस-पास किसी एक हरिप्रसन्न को, (सुनीता—उपन्यास) किसी मनोवैज्ञानिक मॉडेल को खोज निकालना ज्यादा ह पसन्द करेगा।

बाहर से अधिक हमें जैनेन्द्र को घर में जानना होगा। वहाँ वे पुत्र, पति, पिता सब एक साथ बने रह कर भी निरन्तर पुस्तकों में रत, ज्यादा भ्रमों से बचते हुए एकाकी से रहते हैं। जीवन की जरूरी समस्याओं के साथ वे जरूरी ही क्षण देते हैं, उनसे अधिक देर उलझे रहने की क्षमता नहीं। यहाँ आशय उनके बहिरूप से है, अन्तरूप में तो जैनेन्द्र का पूरा व्यक्तित्व ही जैसे अनुभव की ऐसी एक-एक ईंट को हृदयता की, ग्राहकता की सीमेन्ट से जुड़कर बना हुआ है। और यही कारण है कि उनका एकाकीपन उन्हें मनहूस नहीं बना देता, तो भी सब में मिलते-जुलते रहते हुए भी वह एकाकीपन अलग झलकता रहता है, मानो वह भी जयराज (एक रात-कहानी) के मन की गाँठ हो। उनकी गृहस्थी की कुछ भाँकी 'पढ़ाई' या 'एक दिन' में पायी जा सकती है। शायद एक वर्ष भी न हुआ होगा, उनकी माता का निधन हुआ और यह भी अब उनके भीतर बैठी हुई, उनकी चिन्ताशीलता को उद्वेलित करने वाली, एक—नहीं भूली जा सकती ऐसी बात— है। भाभी जैनेन्द्र के वैसे सगे कोई नहीं, तो भी न जाने वे अपनी रचनाओं में 'भाभी' (वातायन) राजीव और भाभी और 'हरिप्रसन्न की भाभी' सुनीता जैसी चीज इतनी सफाई और सुन्दरता के साथ कैसे खींच ला सके हैं। जैनेन्द्र की चीजों में पग-पग पर फूट पड़ने वाला जो घरेलूपन और खासकर हिन्दू-घर और हिन्दू-नारी की सारी बेबसी और निष्ठा जैनेन्द्र के जीवन के प्रत्यक्ष और सूक्ष्म अध्ययन से पाई हुई निजी निधि है।

वस्तुतः जैनेन्द्र में, क्या जीवन में और क्या साहित्य में, घर और बाहर, व्यक्ति और समष्टि एक दूसरे के प्रति चिर-अपेक्षाशील रहे हैं। जैसे एक का दूसरे बिना अस्तित्व ही असम्भव है। और तो भी उसमें व्यक्ति और घरवाला जो तत्त्व है वह दूसरे के ऊपर अधिकार से रोब जमाता हुआ चलता जान पड़ता है। माना कि परख में 'दायित्व' है पर उस दायित्व से सुनीता के मन के अन्तर्मुखी दायित्व से तुलना करने पर, जैनेन्द्र की विचार-धारा का विकास अपने ही भीतर की ओर अधिक सम्मुख है यह मानना पड़ेगा और इसी से तो परख का नायक सुनीता का हरिप्रसन्न-सा और कुछ-कुछ जयराज-सा लगता है।

यही लौकिक और अलौकिक, वास्तव और सत्य, अनेक और एक का भेदाभेद जो है वही जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की विशेषता है। दोनों बातें जैनेन्द्र में चलती रहती हैं

अपने 'कु' और 'सु' के पूरे छाया-प्रकाश के साथ-साथ। इस सब चर्चा को संक्षेप में कहना हो तो जैनेन्द्र के व्यक्तित्व के लिए ठीक वही कहा जा सकता कि जो श्री प्रेमचन्दजी ने 'हंस' (वर्ष ३ संख्या ४) में परख पर सम्मति देते हुए कहा था—'अन्तःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है, इतना हृदय को मसोसने वाला इतना स्वच्छन्द और निष्कपट जैसे बन्धनों में पकड़ी हुई आत्मा का पुकार हो।'।

जैनेन्द्र ऐसी सुलझन हैं जो पहेली से भी अधिक गूढ़ हों। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलाई वक्र लगे, वे इतने निरभिमान हैं कि वही उनका अभिमान है। ये परिस्थितियों से ऐसे आबद्ध हैं कि उसी में उन्होंने अपनी मुक्ति मान ली है।

[२]

तो जैनेन्द्र के, क्या व्यक्तित्व और क्या साहित्य में एकदम आकर्षित कर लेने वाली पहली बात है उनमें कूट-कूटकर भरी हुई सरलता। और इस रहन-सहन और बोलचाल के बहुत सीधे-से आदमी के भीतर भी क्या ऐसी ही निरभ्र खुली-खुली अकृत्रिमता भरी हुई होगी, ऐसा प्रश्न सहसा उठ खड़ा होता है।

पर इस सरलता के अतिरेक के साथ-साथ उसमें की जिज्ञासा, कौतूहल, सब-कुछ मान लेने की वृत्ति में मिली हुई एक रहस्यमयता भरी पड़ी है। इसी रहस्य-खंड में से जैनेन्द्र की अप्रस्तुत तथा अलौकिक सृष्टि का विधान होता है।

और जैनेन्द्र का बातचीत का ढंग अपने में कितनी अपनापन की विशेषता लेकर मूर्त हुआ है। अपना ही वाक्य-विन्यास, अपना ही शब्द-गुंथन, अपनी ही शैली। प्रेमचन्दजी ने परख पर सम्मति देते हुए ठीक ही तो कहा था—उनमें साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है, जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी भाषा में एक खास लोच, एक खास अन्दाज है। और अँग्रेजी के शब्द-समूह तो इस युक्तता के साथ 'फिट' बैठते हुए उस बोलने में चले आते हैं कि एक ओर तो विद्यालयीन शिक्षा से अलग रह कर भी अँग्रेजी पर ऐसा प्रभुत्व जमाने वाली उस जबान पर कौतूहल होने लगता है तो दूसरी ओर उसकी गहरे पैठते चले जाने वाली वृत्ति के साथ-साथ चलते हुए कानों को थकान-सी लगने लग जाती है, जैसे वे उस जबान के साथ-साथ दौड़ सकने में असमर्थ हों। जैनेन्द्र का यही बात कहने का, लिखने का, ढंग इतना अपनत्व-पूर्ण है कि वह अनुकरणीय है। वह अद्वितीय भी इसी दृष्टि से है।

जैनेन्द्र का अपना एक खास विनोद-भाव भी है। उनके साहित्य में तो उसके दर्शन बहुत जगह होते ही रहते हैं (यथा 'मौत की कहानी', 'कश्मीर की वह यात्रा' में 'महात्माजी' शब्द का प्रयोग और 'अम्बुलकर', 'टाइप' में और खासकर 'शान्ता का रंग' में) परन्तु उनके व्यक्तिगत व्यवहार में भी वह भाव अदृश्य नहीं रहता। बिल्कुल भोले भलेमानस बनकर दूसरे के जी की बात निकाल लेने का कौशल उनकी बात करने की शैली में जैसे भरा हुआ है। वह बाहर से जितनी बुद्धूषण की लगती है उतनी ही

वह भीतर से दूसरों को हतबुद्ध बनाती चलती है। जैनेन्द्र की यही मौलिक विशेषता, क्या साहित्य और क्या परस्पर सम्बन्धों में, अपनी एक अमिट याद छोड़ जाती है।

जैनेन्द्र एक मनोवैज्ञानिक हैं और सो भी बहुत 'कान्शस' मनोवैज्ञानिक नहीं। इसी कारण जैनेन्द्र के पास पुस्तकों पर, लेखकों पर, व्यक्तियों पर, राजनीति पर, साहित्य पर अपनी एक-एक खास राय सुरक्षित रहती है और वह मन की खदान से खुरदरी निकली हुई सम्मति अनुभूति की खराद पर चढ़ कर अच्छी तरह कटी-छँटी, साफ़ और निर्भीक, चिर-उद्यत् रहती है। इसी चाह के कारण ही तो जैनेन्द्र हर प्रकार के व्यक्ति के साथ बड़ी ही आसानी से मिल जा सकते हैं और उस प्रयोग के लक्ष्य के अन्तरंग का कोना-कोना छानने-टटोलने पर ही उसे वे छोड़ते हैं।

अपरिग्रह उनके व्यक्तित्व का एक और मूल-विशेष है। अनावश्यक के त्याग के मोह में कभी-कभी वे आवश्यकता भी भूल जाते हैं। विरोध उनमें भी विद्यमान हैं। पर वह जैसे सब किसी अन्तिम अविरोध के लिए उपस्थित रहता है। आदर्शवादी वे अवश्य हैं पर उनका आदर्शवाद एक तरह का स्वाभाविक मानवतावाद है, पर वे कभी-कभी आचारवादी (प्यूरिटन) रूप में हमारे सामने आते हैं। वे मूलतः जैन हैं, यह भूल कर कैसे चला जा सकेगा। (जैन का अर्थ ज्ञानसाधक) साहित्य में इतनी साधुता आजकल बहुत वांछनीय नहीं, पर जैनेन्द्र के लिए अवांछनीय क्या है? वे कभी बुद्धिवादी लगते हैं तो कभी भाववादी। पर मात्रवादी-प्रतिवादी के इस चक्कर में वे कभी अटकते ही नहीं। उन्हीं के अपने शब्दों में—'अपनी रचनाओं की विविधता पर मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। न उनमें ऐसा कोई विरोध देखता हूँ। हाँ, विविधता तो ही देखता हूँ और सब का विविध मूल्य भी आँकता हूँ। 'एक टाइप' और 'राजपथिक' कहानियों में स्थान-भेद और मूल्य-भेद तो है ही। पर मेरी अपेक्षा से तो दोनों ही एक-सी सत्य हैं।' (एक पत्र का अंश)

आशय यह है कि उन्हें तो किसी भी 'वाद' में बाँधना सम्भव नहीं। वह वन्य मुक्त-धारा के समान काल और परिस्थिति के चक्करदार कटीले पथ की परवाह न करता हुआ, नये-नये पथ खोजता हुआ, सजीव-सहज-गति से आगे बढ़ना मात्र जानता है। उससे अधिक की न उसने कभी अपेक्षा की न उसे आवश्यकता ही है। हमें तो इस हृदय-शून्य युग में उनकी हार्दिकता पर सम्मान और उनकी आत्म-तुष्टि पर संतोष होना चाहिए। अपने जीवन से रंग लेकर अपने आदर्शों की रेखाओं में भरने, हाथों की कूँची बनाकर युग की चित्रपट पर साहित्य का अमर चित्र खड़ा करने वालों में जैनेन्द्र का भी एक नाम, इन्हीं बातों से लेना पड़ेगा।

[३]

जैनेन्द्र में घर-बाहर, सारल्य-गूढ़ता जैसा ही एक ओर द्वंद्व है, विनय और अभिमान है। बहुत से लोग जैनेन्द्र को अहंकारी समझते हैं, मानते हैं, पर वे वही लोग हैं, जो

कि उनके जितने समीप चाहिए उतने नहीं जा सके हैं। और दूर से रह कर किसी को कुछ भी मान लिया जा सकता है। इस बारे में मैं उनके पत्रों में से तीन अंश उद्धृत करना चाहता हूँ—‘मेरे बारे में यह बात आप जान लें कि मेरी किताबों में पहुँच कम है। इसलिये मेरा जवाब थोड़ा और सादा ही हो सकता है।’ और एक बार—‘मैं लिखना न छोड़ूँ, हो जो हो—यह आप कहते हैं। आप ठीक हैं, लेकिन मैं अपने लिखने को वैसा महत्त्व नहीं दे पाता। मैं नहीं लिखता, इससे साहित्य की क्षति होती है, यह चिन्ता मुझे लगाए भी नहीं लगती। जब मुझ में वह भाव नहीं है, तब उसे ओढ़ूँ क्यों? मैं उसे अपने ऊपर ओढ़ कर बैठना नहीं चाहता। साहित्यिक—एक विशिष्ट व्यक्ति मैं अपने को एक क्षण के लिए भी नहीं समझना चाहता। ऐसा समझना अनिष्ट है। ऐसी समझ, मैं देख रहा हूँ, बहुत अंश में आज हिन्दी के साहित्य को हीन बनाए हुए है। मानो जो साहित्यिक है उसे कम आदमी होने का अधिकार हो जाता है, अथवा कि वह उसी कारण अधिक आदमी है। इसलिए मैं उस तरह की बात को अपने भीतर प्रश्रय नहीं देना चाहता। पर मैं तो देखता हूँ, मुझे अपने ही कारण लिखना नहीं छोड़ना है। क्योंकि जब साहित्य का जिम्मा मेरे उपर नहीं है तब मेरी अपनी मुक्ति तो मेरा अपना ही काम है। और कब आत्मव्यक्तीकरण मुक्ति की राह में नहीं है?’ और अहंकार वाली बात पर उनकी स्पष्ट सम्मति पूछने पर उन्होंने लिख भेजा—‘पर दिल से अहंकार निकाल डालने का तरीका ही यह है कि उसे हथेली पर ले लिया जाय। जिसे निन्दा से डरना नहीं है वह प्रशंसा से डरे? जो अपवाद पर झुल्लाते हैं वे ही पर्याप्त से अधिक संकुचित हो सकते हैं। पर वे दोनों एक रोग हैं—भीती और लालसा।’ इस प्रकार जहाँ तक मैं जैनेन्द्रजी के सन्निकट रहा हूँ और आ पाया हूँ मुझे तो उँगली रखने को भी तिल-मात्र स्थल नहीं मिलता जहाँ मैं उन्हें अहंकारी समझूँ। ग़लत समझने वालों के लिए उपाय ही क्या है?

ठीक इसी तरह की, या कि इससे भी गहरी ग़लतफ़हमी जैनेन्द्र के नारी-चित्रण के समझने के साथ हुई है। इधर सुनीता के प्रकाशन के बाद से तो यह हो-हल्ला बहुत ही मचा। दो-चार स्त्रियों के हिमायती (चाँद में श्री ‘रतन’ का एक लेख और एक सुनीता पर चर्चा) जैनेन्द्र को वासना के प्रचारक, भाभी के साथ कुत्सित प्रेम के चित्रण-कर्त्ता कह कर चिल्ला उठे हैं। पर लोगों ने जैनेन्द्र की भाभी, बहन, शिष्या, साली, पड़ोसिन, इन सब रिश्तों के भीतर जो मात्र नारी है और जो सुनयना (एक रात—कहानी में) जैसी मात्र निर्बोध अस्तित्व-प्राय है, जो कि ‘सेक्स’ के बन्धन से भी परे हैं, उस जैनेन्द्र की अतीन्द्रिय नारीत्व की धारणा-कल्पना को समझा नहीं है। सुनीता की तो बात ही दूसरी है, वह तो एक अन्योक्ति है। अन्योक्ति भूलकर, मात्र छुँछे आधार ही से चिपके रहने वालों की दशा दयनीय अवश्य कही जायगी। ‘ग्रामोफोन की रिकार्ड’ वाली कहानी पर आक्षेपों के उत्तर चाँद में स्वयं जैनेन्द्रजी ने ही दिए हैं। आक्षेपों की दूसरी श्रेणी इतनी अनुदार नहीं। वह जैनेन्द्र में बरवस पश्चिमी और विदेशी गंध पाने लगे हैं। पहले तो जैनेन्द्र की

कल्पना को अमौलिक मानना ही एक बड़ा साहस करना है और क्षण-भर के लिए यह मान भी लिया कि यह सब बाहर का तत्त्व है, तो क्या साहित्य के क्षेत्र में भी स्वदेशी-आन्दोलन नामक वस्तु है कि जो विदेशी का बहिष्कार मनोलोक में भी किया जाए ? दूसरी बात है कि हमें नये युग के बढ़ते हुए पैरों के साथ चलना होगा, नीति के दक्षियानूसी आदर्शों की मर्यादा के घूँघट में हिन्दी की कथा, पर्दा-प्रथा के तथा और दुर्गुणों के समान ही, प्राण-वायु के अभाव में, रुग्ण-पीत, दुर्बल-काय अस्वस्थ होती जा रही है। उसे मुक्त होकर ही रहना पड़ेगा। 'सुनीता' के समान ही 'एक रात' भी अन्योक्ति है पर 'हंस' में उस पर लिखते समय क्या जनार्दनराय और 'पैरेडी' करते समय भुवनेश्वर प्रसाद दोनों ही उसका परोक्ष मूल्य पूरी तरह भूल गये थे ? भारतीय नारीत्व (देवदास की पारु), जैनेन्द्र के लिये श्रद्धा की वस्तु रही है, (देखिए 'क्या देवदास ट्रेजडी है ?' चित्रपट विशेषांक) पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वही अवस्था अन्तिम हो। कट्टी का सत्यघन से आखिर में बिदा होना और सुनीता का उलटे हुए विराम-चिह्नों जैसे हरिप्रसन्न से बिदा होना इस दृष्टि से विचारपूर्वक तोली जाने लायक चीजें हैं। 'कुछ उलझन' की चंचल-मन नारी और 'एक रात' की सुनयना खासे विरोध के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। तात्पर्य, नारी के नाम से ही आलोचकों को एकदम 'चलित-चित्त' न हो जाना चाहिए, वल्कि कुछ धैर्य के साथ, जैनेन्द्र के साथ न्याय करने की कोशिश करनी चाहिए। नारी एक पहेली है और लेखनी उससे कम गूढ़ नहीं।

[४]

उनका अंतरंग सबसे अधिक सहज रूप से व्यक्त होता है उनकी चिट्ठियों में। नीचे मैं उनके पत्रों में से बहुत से अंश, लम्बे भी क्यों न हों, देना चाहता हूँ, जिनसे जैनेन्द्र की 'परख' में एक 'वातायन' खुल सकता है। उन पत्रों में सवाल-जवाब भी हैं, कुछ मेरे और उनके बीच में विचार-त्रिनिमय का सिलसिला भी है। कुछ चर्चाओं का जिक्र है और कुछ विवाद भी। एव बार जब मैंने उन्हें आस्कर वाईल्ड के 'मृषा का ह्रास' नामक निबन्ध के आवेश में आकर जीवन और कला का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, यों लिख भेजा था तब उनके पत्र का कुछ भाग —

'जीवन से कला को तोड़कर मैं नहीं देख पाता। सत्याभिमुख जीवन की अभिव्यक्ति कला है। शब्दांकित अभिव्यक्ति साहित्य है।

'आप देखें, जीवन के साथ सत्याभिमुख विशेषण मैंने लगाया है, अर्थात् जो हम हैं वही हमारा वास्तविक जीवन नहीं है। जो होना चाहते हैं, हमारा वास्तव जीवन तो वही है। जीवन एक अभिलाषा है। जब कला के सम्बन्ध में जीवन शब्द का उपयोग करता हूँ तब उसे आप उस चिर-अभिलाषा की परिभाषा ही में समझें। उस अर्थ में समझने से जीवन और कला का विरोध या सरलता (Parallelism) उड़ जाता है।

'क्या जो होना चाहते हैं, वही हम हैं ? क्या कभी भी वैसे हो सकेंगे ? स्पष्टतः

नहीं, किन्तु इसका क्या कभी भी यह मतलब है कि आकांक्षा (aspiration) व्यर्थ है ? यह मतलब करना तो सारी गति और चेष्टा को मिटा देना है ।

‘आदर्श और व्यवहार में अन्तर है । वह अन्तर एक दृष्टि से अनन्तकाल तक रहेगा । उस दृष्टि से वह अनुल्लंघनीय भी है, किन्तु इसीलिए तो उस अन्तर को कम करना और भी अनिवार्य है । आदर्श अप्राप्य है, क्या इसी से उसके साथ एकाकारिता पाने के दायित्व से हमारी मुक्ति हो जाती है ?

‘इसी से कला को ‘कला’ के ही क्षेत्र की वस्तु न मानने देकर उसे जीवन में उतारने की वस्तु कहते रहना होता ।

‘जो कला वास्तव से असम्बद्ध होकर ही जी सकती है, वास्तव के स्पर्श से जो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो रहती है, मेरे निकट तो वह ह्रस्व-प्राण ही है । मैं उसे गिनती में नहीं लाता । कला अपने भीतर भरी श्रद्धा की शक्ति से ‘वास्तव’ को संस्कृत करने के लिए है, उससे परास्त होने के लिए नहीं ।

कला मात्र स्वप्न नहीं । वह वास्तव के भीतर रमी हुई वास्तविकता है, जैसे शरीर के भीतर रमी हुई आत्मा । वह अधिक वास्तव है । जिस आदर्श क्षेत्र को हम कलात्मक चेतना से स्पर्श करते हैं, जिस स्वर्ग की हम इस प्रकार भाँकी पाते हैं, और उसके अह्लाद को व्यक्त करते हैं, क्या उस स्वर्ग में अपने इस समग्र शरीर और शारीरिक जीवन के समेत पहुँचे बिना हम तृप्त हों ? तृप्त नहीं हुआ जा सकेगा । इसी से तमाम जीवन के जोर से कला को पाना और वहाँ पहुँचना होगा ।

इसी पत्र का एक और भाग—मैं चाहता हूँ छोटी और तुच्छ वस्तु मेरे लिए कहीं कुछ रहे ही नहीं । धूल के कण में भी मैं परम प्रेमास्पद, परम-रहस्य को क्यों न देख लेना चाहूँ जिसे परमात्मा कहते हैं ? और वह परमात्मा कहाँ नहीं है । आज कीचड़ में ही उसे देखना होगा । यही आस्तिकता की कसौटी है । मूर्ति में तो अल्प श्रद्धावान् भी देख पाता है । कलाकार उसी अपरिमेय श्रद्धा का प्रार्थी है । और तब किस स्पर्श से उसके हाथ मँले हो सकते हैं । वह तो सब जगह अपूर्व महिमा के दर्शन कर और करा सकता है । यदि मैं खाद की उपयोगिता के संबंध में कुछ अपना मौलिक, उपयोगी अनुभव लोगों को बता सकूँ तो यह मैं साहित्यिक जैनेन्द्र के लिए कोई कलंक की बात नहीं समझूँगा ; प्रत्युत, श्रेय की बात ही समझूँगा । हम क्यों कला को छुई-मुई सी वस्तु hot-house product बनावें । वह शीशे में बंद प्रदर्शन की वस्तु ही बनकर रहने वाली क्यों बने, वह क्यों न महाप्राणवान, खुली दुनिया में अपने ही बल पर प्रतिष्ठित बनी खड़ी हो ?

इसी पत्र के बाद एक दूसरे पत्र में ‘सत्य’ और ‘वास्तव’ का अंतर समझाते हुए जैनेन्द्र लिखते हैं—“हमको मान लेना चाहिए, जो शब्दों में आता है सत्य उससे परे रह जाता है । उसकी ओर संकेत कर सकें, यही बस है । वह भला कहीं परिभाषा में बँधने

* वे पीछे इत्यादि जो भ्राष्ट्रकृतिक गरमीसे जीते हैं ।

वाला है ? समस्त परिभाषाएँ जो उससे निकली हैं ।... मैं जिसे 'सत्य' शब्द से बूझता हूँ, उसमें तो सत्ता मात्र समाई है। जगत् का सच-भूठ सब उसमें है ; 'वास्तव' से मेरा अभिप्राय लौकिक सत्य से है जिसको भरने के लिए सदा ही असत्य की आवश्यकता होती है। जीवन में तो द्वंद्व है ही। किंतु लक्ष्य तो निर्द्वंद्वता है। जीवन विकासशील है। क्या कला जीवन से अनपेक्ष्य ही रह जाए ? ऐसी कला तो दंभ को पोषण दे सकती है।'

ऐसे उद्धरण कहाँ तक दिये जाएँ, पर जी नहीं मानता इससे एक लम्बे पत्र में के कुछ लंबे अंश, अंत में, दे ही देना चाहता हूँ...

— कला हेतु-प्रधान होती है कि हेतु-शून्य ?

— मैं कहूँगा कि कलाकार अपने में देखें, तो कला हेतु-प्रधान क्यों हेतु-मय होती है। कला कृति के मूल में मात्र न रहकर, उसका हेतु तो उस कृति के शरीर के साथ अभिन्न रहता है। वह अणु-अणु में व्याप्त है। कलाकार की दृष्टि से कभी कला हेतुहीन (अर्थात् नियमहीन, प्रभावहीन) हो सकती है ? अरे वह तो हेतु-प्राण है। कलाकार के अस्तित्व का हेतु ही उसकी कला में ध्वनित, चित्रित होता है।

लेकिन बाहर की दृष्टि से उसे सहेतुक मैं कैसे मानूँ ? इस भाँति उसे सहेतुक मानना कला-कृति और कलाकार के बीच में खाई खोदने जैसा है। मनुष्य और उसका धंधा, ये दो हो सकते हैं। पर मनुष्य और उसकी मनुष्यता (यानी, उसकी भावनाएँ) दो नहीं हैं। उसका व्यवसाय उसके साथ प्रयोजन-जन्य मनुष्यता उसके साथ प्रकृति-गत है। जहाँ मानव अपनी घनिष्ठता में, अपनी निजता में प्रकाशित है, वहाँ उतनी ही कम कला है, जहाँ अपने से अलग रखे हुए हेतुओं के निर्देश पर रचता है, वहाँ उतनी ही यथार्थ कला है। कला में आत्मदान है। आत्मदान सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ी नीति है, सबसे बड़ा उपकार है और सबसे बड़ा सुधार है। अतः कला सुधार, उपकार, नीति और धर्म सबसे अपरिवर्द्ध है। इस प्रकार कला सत्य की साधना का रूप है ? वह परमश्रेय है। कला तो निःश्रेयस की साधिका ही है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वह भ्रान्त है, यह कहिए कि वहाँ कला हीन ही है।

'बात यह है कि मानव का ज्ञान अपने संबंध में बेहद अधूरा है। वह अपनी ही भीतरी प्रेरणाओं को नहीं जानता। यह सही नहीं है कि वह प्रयोजन को ही सामने रख कर चलता है या चल सकता है। हेतु उसके भीतर संश्लिष्ट है, inherent है। जिसको अहं-विकृतज्ञान में मानव हेतु मान उठता है, उसके प्रति वह सकाम होता है। वह इस तरह हेतु होता ही नहीं। मनमानी लोगों की गरजें उनके जीवनो का वास्तव हेतु नहीं हैं। इस दृष्टि से हेतुवाद एक बड़ा भारी मायाजाल है। जो जितना महत्पुरुष है वह उतनी ही दृढ़ता और स्पष्टता के साथ जानता है कि व्यक्तिगत कारण से कोई बड़ा ही कारण उसे चला रहा है। इतिहास के सब महापुरुष इसके साक्षी हैं और मैं कहता हूँ कि इस व्यक्तिगत हेतु की भावना से ऊपर उठने पर ही सच्चे जीवन का आरंभ और सच्ची

कला का सृजन होता है। हेतुवादी वह संसारी है जो सांसारिकता से ऊँचा उठना नहीं चाहता।...

(और तुम पूछते हो कि) अगर कला Self expression (आत्माभिव्यक्ति) ही है तो फिर जीवन से उसका दायित्व क्या है ?

‘मैं तो आज कला को Self expression की परिभाषा में ही समझने की इजाजत देना चाहता हूँ। यद्यपि इसमें (समझने में) खतरा है फिर भी उसी प्रकार की परिभाषा अधिक निकट और अन्ततः अधिक उपयोगी है। पर फिर भी वह तनिक भी उच्छृंखल नहीं और अधिक-से-अधिक दायित्वशील है वह इसलिए कि जो हमारा भीतरी Self असली Self है वह बाहरी जगत् के साथ अभेदात्मक है। हम असल में विश्व के साथ एकात्म हैं। इसलिए प्रत्येक का Self expression अगर वह अपने साथ सच्चा और जागरूक है, तो प्रेमात्मक ही हो सकता है, विद्वेषात्मक तो हो सकता ही नहीं। साधनों में जो आत्मबंधना कर जाता है, उसकी बात तो मैं कहूँ क्या—पर साधक का Self expression कभी अहितकर नहीं हो सकता। और कलाकार साधक है। असल में साधक अनुभव करता है कि वासनाओं में उसका सच्चा ‘स्व’ ही नहीं है, और वह वासना-रस को अनायास छोड़ता चलता है। वह अति सहज-भाव से दायित्वशीलता की ओर बढ़ता है और साथ ही विनम्रता की ओर बढ़ता है। इस भाँति साधक कलाकार के लिए जरूरी हो जाता है कि वह इस बाहर की कसौटी पर अपनी साधना को कसता भी रहे—कि वह उच्छृंखल, अनियमशील, अहंमय तो नहीं हो रहा है। रोग की जड़ अहंमयता है और कलाकार अहंमयता का खोखलापन आरम्भ से ही देखता है।’

इस तरह के साधक कलाकार हैं जैनेन्द्र !

[५]

इस तरह मैंने कोशिश की कि जैनेन्द्र के व्यक्तित्व के आस-पास शब्दों के रेखा-बन्धन खड़े करूँ और इस प्रयास में बहुत-सी मदद उन्हीं के रंगों ने दी है। पचास-साठ कहानियों के तीन-चार संग्रह वातायन, फाँसी, दो चिड़ियाँ, एक रात और दो उपन्यास—जिसमें से भी ‘परख’ एक बड़ी कहानी ही समझो—जैसी संक्षिप्त पूँजी के साथ अपना एक दर्शन, एक खास विचारमाला लेकर जैनेन्द्र हिन्दी में अवतीर्ण हुए हैं। और उनकी वस्तुओं का मूल्य हमारी दुर्बल लेखनी से अधिक प्रबल काल की तराजू ही आँक सकेगी।

कुछ लोग तुलनाओं पर नाराज़ होते हैं, पर तुलनाएँ तो होंगी ही। उसके बिना मनुष्य का सीमित परिवेक्षण आगे कैसे बढ़ेगा। किसी ने (शायद मैथिलीशरणजी ने) जैनेन्द्र में शरत् बाबू और रवीन्द्र आदि को एक साथ पा लिया तो उसमें उन (कविवर गुप्तजी) के व्यक्तिगत मत को लेकर कुढ़ने, आक्षेप करने की कौन-सी आवश्यकता है ?

वर्तमान में पीने दो सो कहानियाँ (जैनेन्द्र की कहानियाँ) दम खण्डों में संग्रहित हैं।

जैनेन्द्र की प्रतिभा में स्व० ललामभूत गोर्की और प्रेमचन्द की जीवनी और साहित्य को एकरस पाने की पूरी क्षमता, शरत् बाबू का प्रसाद-गुण सहज-कातर आकर्षण, रविबाबू की कल्पना और सूक्ष्म की सुघराई, मोपासाँ के उबलते हुए, स्वस्थ, सजीव वर्णन तथा चेखव का सूक्ष्म सहृदय मनोलोक का अध्ययन सभी गुणों के बीज विद्यमान हैं। और जैनेन्द्र पर कुछ भी कहते या लिखते समय यह कभी न भूलना होगा कि वे अभी प्रगति-मान स्थिति में हैं। उनका भविष्य-क्षेत्र अभी बहुत खुला पड़ा है और साहित्य में नवीनता की विचित्रता का स्वागत उदार-मन से करना होगा। नवीन जो है वह विचित्र होने ही के कारण स्वीकृत न किया जाय यह अप्रेम का प्रदर्शक है। 'आलोचक के प्रति' के अन्त में जैनेन्द्र ने अपने आलोचक से इसी सहृदयता की अपेक्षा की है। तो यह जो कुछ लिखा गया यह जैनेन्द्र पर कभी भी अन्तिम नहीं, यह तो श्रीगणेश ही माना जाए। और सब बातें निर्णयात्मक न मानकर मेरी व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति मानी जायें।

यह जानते हुए भी कि अभी जैनेन्द्र पर लिखने का परिपक्व समय नहीं आया है, स्व० प्रेमचन्दजी की श्रद्धास्पद आज्ञा टालना कैसे हो सकता था ? फिर से यह दुहराना व्यर्थ होगा कि जैनेन्द्र की विचारावलि को जो मात्र अस्पष्ट कहकर छोड़ देते हैं वे भूल करते हैं। तार्किक की-सी शुष्क नियमबद्धता न होने पर भी उनके दर्शन में एक सुसंगत सूत्र अवश्य है और वह उन्होंने अपने जीवन की क्रीमत देकर पाया है।

सारांश, जैनेन्द्र ने क्या जीवन और क्या साहित्य दोनों में यह तत्त्व अच्छी तरह पहचान लिया है कि—'सत्य स्थिरता से घिरा नहीं है, न अनुशासन से परिवद्ध। काल भी सत्य ही है, काल जो बनने और मिटने का आघेय है। अतः स्थिरता सिद्धि नहीं, गति भी आवश्यक है। जीवन अस्तित्व से अधिक कर्म है।'।

सन् १९३६

—प्रभाकर माचवे

विषय-सूची

वक्तव्य : जैनेन्द्र कुमार v

भूमिका : प्रभाकर माचवे vii

श्री जैनेन्द्रकुमार एक व्यक्तित्व-चित्र : प्रभाकर माचवे xxv

साहित्य-विचार

१ साहित्य-कला—

(लेख)

साहित्य क्या है ? १

विज्ञान और साहित्य ५

साहित्य और समाज ८

कला क्या है ? १४

(भाषण)

साहित्य की सचाई २३

साहित्य और साधना २८

जीवन और साहित्य ४१

(प्रश्नोत्तर)

साहित्य का जन्म ४

साहित्य, राष्ट्र और समाज २३

रोटी मुख्य है या साहित्य ४४

साहित्य और नीति १५८

साहित्य और धर्म १६२

स्थायी और उच्च साहित्य १५६

(पत्रांश)

कला और जीवन १८१-१८८

२ हिन्दी साहित्य और आलोचना—

(लेख)

प्रेमचन्दजी की कला ५६

आलोचक के प्रति ३२

नेहरू और उनकी कहानी ६६

(भाषण)

हिन्दी और हिन्दुस्तान ४५

(प्रश्नोत्तर)

राष्ट्रभाषा १७८

३ लेखक-विचार—

(लेख)

किसके लिए लिखें ? १८

लेखक के प्रति २६

(प्रश्नोत्तर)

साहित्य-सेवी का अहंभाव १६५

कहानी क्या ? १६६

(पत्रांश)

(‘विद्या’ के) संपादक के प्रति ३०

अपने ही खातिर लिखना १८३

लिखना और आदर्श १८६

जीवन-विचार

१ समाज-धर्म-दर्शन—

(लेख)

आप क्या करते हैं ? ७४

कहानी नहीं ८१

राम-कथा ८७

जरूरी भेदाभेद ९३

(प्रश्नोत्तर)

अर्थ, काम १७२

सच्ची कमाई १७८

२ संस्कृति-दर्शन

(लेख)

उपयोगिता १०३

व्यवसाय का सत्य ११३

प्रगति क्या ? १३२

बसन्त आया आओ १५१

नारी के प्रति १५३

(प्रश्नोत्तर)

देश, काल और संस्कृति १६६

शांति-प्रस्थापना और कलहवृत्ति १७१

३ दर्शन—

(अ) आचार-नीति—

(प्रश्नोत्तर)

अच्छा क्या, बुरा क्या ? १६७

सुख-दुःख १६८

आत्महत्या १७४

(आ) मानस-विज्ञान—

(प्रश्नोत्तर)

बतवि-वादी मनोविज्ञान १७०

प्रेम और घृणा १७०

संकल्प, चिंतन और अनुभूति १७६

(इ) अध्यात्म, तर्क—

(लेख)

दूर और पास १२०

निरा अ-बुद्धिवाद १२५

मानव का सत्य १४०

सत्य, शिव, सुंदर १४५

(प्रश्नोत्तर)

निर्मोह और अबुद्धिवाद १३१

सत्य १७५

परमात्मा १७३

आत्मा और परमात्मा १७६

साहित्य क्या है ?

साहित्य की सृष्टि और साहित्य की आधुनिक प्रगति पर आलोचनात्मक विचार आरम्भ करें, इससे पहिले अच्छा होगा कि उस बारे की अपनी जानकारी को हम स्पष्ट कर लें ।

‘साहित्य क्या है ?’ यह प्रश्न उठाकर हम आशा न करें कि उत्तर में वह परिभाषा पा सकेंगे जो प्रश्न के चारों खूंट घेर ले । परिभाषा का यह काम नहीं है । परिभाषा सहायक होती है, वह प्रश्नवाचक चिह्न को सर्वथा मिटा नहीं देती । परिभाषा द्वारा प्रश्नवाचक चिह्न को मिटा देने का यत्न हमें नहीं करना चाहिए । यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सब प्रकार के ज्ञान के आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है । हमारा कर्तव्य है कि हम इस चिह्न को ठेलकर आगे से आगे बढ़ाते रहें । पर, यह भी हम करें कि उसे अपनी आंखों की ओट कभी न होने दें । जब ऐसा होता है तभी आदमी में कट्टर अन्धता (=Dogma) आती है और उसका विकास रुक जाता है ।

इस तरह, एक परिभाषा बनायें और उससे काम निकाल कर सदा दूसरी बनाने को तैयार रहें । यह प्रगतिशील जीवन का लक्षण है और प्रगतिशील, अनुभूतिशील जीवन का लिपिबद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है । इसी को यों कहें कि मनुष्य का और मनुष्य-जाति का भाषाबद्ध या अक्षर-व्यक्त ज्ञान साहित्य है ।

प्राणी में नव-बोध का उदय हुआ तभी उसमें यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि ‘यह मैं हूँ’ और ‘यह शेष सब दुनिया है ।’ यह दुनिया बहुत बड़ी है,—इसका आर-पार नहीं है, और मैं अकेला हूँ । यह अनन्त है, मैं सीमित हूँ,—झुड़ हूँ । सूरज घूब फँकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे बहा ले जायगा और डुबा देगा, ये जानवर चारों ओर ‘खाऊँ खाऊँ’ कर रहे हैं, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर, मैं भी हूँ, और जीना चाहता हूँ ।

बोधोदय के साथ ही प्राणी ने शेष विश्व के प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रह की वृत्ति अपने में अनुभव की,—इससे टक्कर लेकर मैं जीऊँगा, इसको मारकर खा लूँगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है; यह और भी जो कुछ है, मेरे जीवन को पुष्ट करेगा ।

बोध के साथ एक वृत्ति भी मनुष्य में जागी । वह थी ‘अहंकार’ । किन्तु ‘अहंकार’

अपने में ही टिक नहीं सकता। अहंकार भी एक सम्बन्ध है जो क्षुद्र ने विराट् के प्रति स्थापित किया। विराट् के अवबोध से क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्र ने कहा, 'ओह, मैं 'मैं' हूँ, और यह सब मेरे लिए है।'

इसी ढंग से क्षुद्र ने अपना जीवन सम्भव बनाया।

किन्तु, जीवन की इस सम्भावना में ही विराट् और क्षुद्र, अनन्त और ससीम का अभेद सम्पन्न होता दीखा। वह अभेद यह है,—जो कुछ है वह क्षुद्र नहीं है पर विराट् का ही अंश है, उसका बालक है, अतः स्वयं विराट् है।

घूप चमकी, तो वृक्ष ने मनुष्य से कहा, 'मेरी छाया में आ जाओ,' बादलों से पानी बरसा तो पर्वत ने रुंदरा में सुखा स्थल प्रस्तुत किया और आनंद कहा, 'ठहरो मत, यह मेरी गोद तो है।' प्यास लगी तो झरने के जल ने अपने को पेश किया। मनुष्य का चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनी पर से खिले गुलाब ने कहा, 'भाई, मुझे देखो, दुनिया खिलने के लिए है।' साँझ की बेला में मनुष्य को कुछ भीनी-सी याद आई, और आम के पेड़ पर से कोयल बोल उठी, 'कू—ऊ, कू—उ।' मिट्टी ने कहा, 'मुझे खोदकर, ठोका-पीटकर, घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।' घूप ने कहा, 'सर्दी लगेगी तो सेवा के लिए मैं हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबड़ाओ मत, मुझ में नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'।

मनुष्य प्राणी ने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है।

फिर भी, घूप को समझ न सका, वर्षा के जल को, मिट्टी को, फूल को,—किसी को भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे सब आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं हैं? पर, उस क्षुद्र ने अहंकार के साथ कहा, 'ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा। मैं 'मैं' हूँ, और मैं जीऊँगा।'।

इस प्रकार अहंकार की टेक बनाकर, अपने को क्षुद्र और सबसे अलग करके वह जीने लगा। अर्थात्, सब प्रकार की समस्याएँ खड़ी करके उनके बीच में उलझा हुआ वह जीने लगा। विश्व के साथ विभेद-वृत्ति ही, उसके जीने की शक्त बनकर, उसके भीतर अपने को चरितार्थ करने लगी।

पर, इस जीवन में एक अतृप्ति बनी रही जो विश्व के साथ मानों अभेद की अनुभूति पाने को भूखी थी। अहंकार से घिरकर वह अपने क्षुद्रत्व के अवबोध से द्रस्त हुआ,—त्यों ही विराट् से एक होकर अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की व्यग्रता उसमें उत्पन्न हुई। इस व्यग्रता को वह भाँति-भाँति से शान्त करने लगा। यहीं से धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान,—सब उत्पन्न हुए।

यह अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया। एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार। एक भविष्य था तो दूसरा वर्तमान।—इन्हीं दोनों के संघर्ष और समन्वय में से मनुष्य प्राणी के जीवन का इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्य की अनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्र के और विश्व के साथ, (और इस तरह स्वयं अपने साथ) जो एक सुन्दर सामंजस्य,—एकस्वरता, (= Harmony) स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य जाति की समस्त संग्रहीत निधि की मूल है। अर्थात्, मनुष्य के लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूप में उसी एक सत्य-चेष्टा का प्रतिकल है। इस प्रक्रिया में मनुष्य जाति ने नाना भाँति की अनुभूतियों का भोग किया। सरलता की, विफलता की, क्रिया की, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, शोभ, विस्मय, भोति, आह्लाद, वृणा और त्रेम,—सब भाँति की अनुभूतियाँ जाति के शरीर ने और इतिहास ने घोगीं, और वे जाति के जीवन और भविष्य में मिल गईं। भाँति-भाँति से मनुष्य ने उन्हें अपनाया, और व्यक्त किया। मंदिर बने, तीर्थ बने, घाट बने,—वेद, शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्तियाँ बनीं और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्य ने अपने हृदय के भीतर विश्व को यथासाध्य खींचकर जो जो अनुभूतियाँ पाई,—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदि को उपादान बनाकर, उन्हें ही रख जाने की उसने चेष्टा की। परिणाम में, हमारे पास ग्रन्थों का अटूट, अतोल संग्रह है, और जाने क्या क्या नहीं है।

मानव-जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है। और भी, अक्षर-बद्ध रूप में जो अनुभूति-संचय विश्व को प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

□ □

प्रश्नोत्तर*

— साहित्य क्या है ?

—क्या साहित्य की परिभाषा चाहते हैं ? परिभाषा अनेक दी जा सकती हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रश्न का उद्देश्य परिभाषा माँगने अथवा लेने का नहीं है। साहित्य को हमें समझना चाहिए। समष्टि रूप में हम एक हैं, व्यक्तिगत रूप में हम अनेक हैं, अलग अलग हैं। इस अनेकता के बोध से हम ऊपर उठना चाहते हैं। आखिर तो हम समय के अंग ही हैं। उस समय के साथ ऐक्य न पा लें तब तक कैसे हमें चैन मिले ? इसी से व्यक्ति में अपने को औरों में और औरों को अपने में देखने की सतत

* ये प्रश्न श्री रामचन्द्र आर्य ने किये थे।

अभिलाषा है। मनुष्य के समस्त कर्म का ही यह अर्थ है। मनुष्य के हृदय की वह अभिव्यक्ति जो इस आत्मैक्य की अनुभूति में लिपिबद्ध होती है, साहित्य है।

—साहित्य का जन्म कैसे हुआ ?

—इसका उत्तर तो ऊपर ही आ जाता है। मनुष्य अपने आप में अधूरा है, लेकिन वह पूर्ण होना चाहता है। इस प्रयास में क्रमशः वह भाषा का आविष्कार कर लेता है, लिपि भी बनाता है। तब वह उस लिपिबद्ध भाषा के द्वारा अपने को दूसरे के प्रति उद्देशलता है। अपने को स्वयं अतिक्रमण कर जाने की इस चाह को ही साहित्य की मूल प्रेरणा समझिए।

□ □

विज्ञान और साहित्य

ज्ञान की प्राथमिक अवस्था में मनुष्य के निकट स्वप्न और सत्य में अधिक भेद न था। जो उसने सपने में देखा, जो कल्पना की, उसे ही सच मान लिया। और जिसको आजकल हम वास्तव कहकर चीन्हते हैं,—पत्थर, धातु, आदमी, समाज, सरकार,—ये सब-कुछ उसके लिए उतना ही अवास्तव अथवा संदेहास्पद था जितना कि उसका स्वप्न।

आँखें खोलते ही उसने देखा,—सूरज है जो चमकता है; उसने तुरन्त कहा, 'सूरज बड़ा कान्तिमान् देवता है।' उसने और भी देखा कि सूरज पूरब में उगता और पच्छिम में डूबता है,—इस तरह वह चलता भी है, और उसने कहा, 'सूरज देवता के रथ में सात घोड़े हैं जो उसे तेजी से खींचते हैं।' यों आदिम मनुष्य ने जब सूर्य को देखा तब उसे आह्लाद हुआ, विस्मय हुआ, भक्ति हुई और सूरज के सम्बन्ध में उसने जो धारणा बनाई उसमें ये सब भाव किसी न किसी प्रकार व्यक्त हुए। सूर्य उसके निकट एक पदार्थ-मात्र न रहा जो ज्ञान-गम्य ही हो, वह उसके निकट देवता बन गया।

आँखें मींचने पर उसने सपने देखे। देखा, वह पक्षी की तरह उड़ सकता है, मछली की तरह पानी में तैर सकता है,—पल-भर में सागरों को वह पार कर गया, सागरों के पार हरियाली ही हरियाली है और वहाँ मीठी बयार चलती है। उसने झट से कहा, 'वह है स्वर्ग। वहाँ अत्यन्त स्वरूपवान् व्यक्ति बसते हैं, वहाँ दुःख है नहीं, प्रमोद ही प्रमोद है।'।

यह सपने का स्वर्ग उसके निकट वैसा ही वास्तव होकर रहा जैसा आँखों से देखने वाला सूरज। सूरज के प्रति उसने जल का तर्पण दिया तो इसी प्रकार अन्य देवताओं का समारोप करके उसने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन किया। देवताओं के नाम बने, मूर्तियाँ बनीं, स्तवन बनें। और यह देवता लोग उसके जीवन के साथ एकाकार होकर, हिल-मिलकर, रहने लगे।

इस प्राथमिक ज्ञान के उद्बोधन की अवस्था में मनुष्य ने अपने को जब विश्व से अलहदा अनुभव किया तब उसके साथ भाँति-भाँति के रिश्ते भी कायम रक्खे।—तब उसका समस्त ज्ञान अनुभूतिमूक ही रहा। विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान, अर्थात् विज्ञान, बहुत पीछे जाकर उदय में आया।

नानी ने अपने नन्हें से बच्चे को चन्दा दिखाते हुए कहा, 'देखो बेटा चन्दा मामा !

बच्चे ने उसे सचमुच ही अपना चन्दा मामा बना लिया । जब जब उसने चाँद देखा, ताली बजाकर, नानी की उँगली पकड़कर कहा, 'देख नानी, चन्दा मामा !'

पर जब बच्चा बढ़कर बड़ा हुआ तब चाँद देखकर उसका ताली बजाना खत्म हो गया । चन्द्रमा देखकर किसी भी प्रकार के आल्लाद की प्राप्ति उसे नहीं होने लगी । आल्लाद कम हो गया, उत्सुकता भी कम हुई,—पर उसकी जगह एक गम्भीर जिज्ञासा का भाव जाग उठा । उस बड़ी उमर पाये हुए आदमी ने कहा—

'चन्दा मामा नहीं है । मामा कहना तो मूर्खता है, निरा बचपन है । लाओ, टेलिस्कोप लगाकर देखें चन्द्रमा क्या है ।'

चन्द्रमा में कुछ काला-काला-सा दीखता है । हमारी-कल्पना, जिसमें आत्मीय भाव की शक्ति है, झट वहाँ तक दौड़ गई । और उसने कहा—

'वहाँ बैठी बुढ़िया चर्खा कात रही है ।' दूसरे ने ऐसा ही कुछ और कह दिया । यह कहकर मानों हमने सचमुच कुछ तथ्य पा लिया है, ऐसी प्रसन्नता मन को हुई ।

पर उमर वाले बालक ने फिर कहा, 'नहीं नहीं, मेरे टेलिस्कोप में जो दीखेगा चाँद में का काला काला दाग वही है । जब तक साफ साफ उसमें कुछ नहीं दीखता तब तक कुछ मत कहो । यह तुम चर्खेवाली बुढ़िया की बाह्यात बात कहते हो !'

जब शनैः शनैः इस प्रकार विश्व को आत्मसात् करने को मानव की प्रक्रिया में यह द्विविधा आती चली, उसी समय से मनुष्य के ज्ञान में भी बिभक्तीकरण हो चला । इससे पहिले जो था, सब साहित्य था । उस समय मनुष्य ज्ञाता और शेष विश्व ज्ञेय न था । वह भी विश्व का अंश जैसा था । उसमें अहम् सर्वप्रधान होकर व्यक्त न हुआ था । प्रकृति सचेतन थी और जगत् विराट्मय था । पंच-तत्त्व देवता-रूप थे और भिन्न-भिन्न पदार्थ उनके प्रकाश-स्वरूप । तब विश्व मानो एक परिवार था और मानव उसका एक-एक सदस्य । मानो विराट् की गोद में बैठा हुआ वह एक बालक था ।

उस समय उसकी समस्त धारणाएँ अस्पष्ट थीं अवश्य, पर अनिवार्य रूप में अनुभूतिसूचक थीं, प्रसादमय थीं ।

आदमी ने चकमक के दो टुकड़ों को रगड़कर अग्नि पैदा की । पर उसने यह नहीं कहा, 'चकमक के टुकड़ों को रगड़ा इससे आग पैदा हुई है ।' उसने नहीं कहा, 'देखो, मैं इस तरह आग पैदा कर लेता हूँ ।' उसने माना अग्नि देवता प्रसन्न हुए हैं । उन्हीं का प्रसाद है कि यह स्फुलिंग उसे प्राप्त हुआ है । चकमक की रगड़ तो प्रसाद-प्राप्ति के लिए निमित्त मात्र साधन है ।

आज दियासलाई जलाकर हमने आग पाई और एक फार्मूला (= सूत्र) प्रस्तुत किया कि प्रयुक्त रसायन-तत्त्वों से बनी हुई दियासलाई को अमुक मसाले से रगड़ने पर अवश्य अग्नि प्राप्त होगी । उस फार्मूले के सहारे से हमने देवता का निवासन कर दिया

और अग्नि हमारी चेरी होकर रह गई।

यह फार्मूला-बद्ध धारणा स्पष्ट, निश्चित, और कदाचित् अधिक तथ्यमय अवश्य है, किन्तु अनुभूतिसूचक नहीं है। इस धारणा से हमारे चित्त के किसी भाव को तृप्ति नहीं प्राप्त होती।

अधिकाधिक अनुभूति-संचय और अवबोधवृद्धि के बाद मनुष्य ने अपने को ज्ञाता अनुभव करना आरम्भ किया। उसने अपने को पदार्थों से और पदार्थों को अपने से एक बार अलग करके फिर उन्हें बुद्धि के मार्ग द्वारा अपने निकट लाने की चेष्टा की।

हम कह चुके हैं, मानव अपनी सब चेष्टाओं, सब प्रयत्नों और सब प्रयत्नों द्वारा, जाने-अनजाने एक ही सिद्धि की ओर बढ़ रहा है। और वह सिद्धि है,—अपने को विश्व के साथ एकाकार करना और विश्व को अपने भीतर प्रतिफलित देख लेना। बुद्धि के प्रयोग द्वारा भी वह इसी अभेद-अनुभूति तक पहुँचना चाहता है। किन्तु, मानव-बुद्धि उस तल की वस्तु है जहाँ का सत्य विभेद है, अभेद नहीं। वह अन्वय द्वारा चलती है, खण्ड-खण्ड करके समय को समझती है। अहंकार उसका मूल है और ज्ञेय का पार्यय उसकी शक्ति।

जहाँ यह बुद्धि प्रधान होकर रही, जहाँ उसने नदार्थ को उसके चारों ओर के सम्बन्धों से तोड़कर उसे समझने की चेष्टा की,—और जिसका परिणाम जीवन के रस और नीति से, इस प्रकार, अधिकाधिक विच्छिन्न होकर प्रकट हुआ कि जिससे अनुभूति कम और यत्न अधिक व्यक्त हुआ, और जो अन्ततः रेखाबद्ध और फार्मूला-बद्ध विद्या हो पड़ी,—वही वस्तु है विज्ञान।

मनुष्य के विकास-आरम्भ के पर्याप्त काल के अनन्तर विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। आदि में तो विज्ञान को भी अनुभूति-मय रखने की चेष्टा रही। अर्थात् रूपकों, कहानियों और श्लोकों द्वारा उसे प्रकट किया गया। बहुत पीछे जाकर, उसे व्यवस्था-बद्ध विज्ञान का वह रूप मिला जो जीवन की असली आवश्यकता से विच्छिन्न हो गया।

इसके विरोध में जब मानव ने अपने व्यक्तित्व के पूरे जोर से विश्व को अपनाते की चेष्टा को शब्दों में व्यक्त किया,—जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ लगभग स्रष्टा ज्ञाता है ही नहीं वरन् वह अपनी सृष्टि से एकाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजन का है जानने का नहीं, जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का अर्थव्यय नहीं है और जहाँ स्रष्टा और सृष्टि की एकता है,—वह है साहित्य।

इस तरह विज्ञान प्रथमावस्था में साहित्य है।

और अपनी अन्तिम अवस्था में भी,—जब वह केवल बुद्धि का व्यापार नहीं है, और जब वह प्रसाद-मय, रहस्य-मय, और मानों ईश्वराभिमुख है,—वह साहित्य है।

कहा गया है जानना ही बनना है,—Knowing is becoming; जहाँ जानने का स्वरूप बनते जाने का है, जहाँ ज्ञान संग्रह से अधिक रचना करता है वहाँ विज्ञान शुद्ध ज्ञान है और साहित्य भी शुद्ध ज्ञान है,—अर्थात् एक विज्ञान है। □ □

साहित्य और समाज

हिन्दी-साहित्य में अब जो नई शक्तियाँ आ रही हैं, उसमें बहुभाग को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। कुछ काल पहले तक हमारा साहित्य उच्च-वर्गीय था। उसके उत्पादक समाज के प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति थे। अब अधिकांश ऐसा नहीं रह गया है। जिनको समाज में पैर टेकने को कोई ठीक ठौर नहीं है, वे लोग भी आज लिखते हैं। इससे प्रश्न होता है कि समाज की ओर साहित्य की परस्पर क्या अपेक्षा है?—क्या सम्बन्ध है?

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाज की नीति-अनीति की मान्यताओं की ज्यों की त्यों स्वीकृति साहित्य में प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी साहित्य में समाज की उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओं के प्रति व्यक्ति का विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पड़ता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओं को अपने में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसी वस्तु है जो समाज को प्रतिबिम्बित तो करे, पर चाटुता से अधिक उसे चोट दे, और इस भाँति समाज को आगे बढ़ाने का काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह ला देता ही नहीं, अब वह कराता भी है। हमारी बीती ही उसमें नहीं है, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं।

जो समाज के प्रति विद्रोही हैं, समाज की नीति-धर्म की मर्यादाओं की रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चला चल रहा है, जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है,—ऐसा आदमी भी साहित्य-सृजन के लिए आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर, अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिये जाते हैं। वे लोग जो विश्व के साहित्याकाश में द्युतिमान् नक्षत्रों की भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरम्भ में तिरस्कृत रहे, पर, अन्त में उसी समाज द्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपने जीवन-विकास में समाज की लाञ्छना की वैसे ही परवा नहीं की, जैसे समाज के गौरव की। उनके कल्पनाशील हृदय ने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस, वे उसी की ओर सीधी रेखा में बढ़ते रहे। यह समाज का

काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियों ने अपना काम इतना ही रक्खा कि जो अपने भीतर हृद्गत लौ जलती हुई उन्होंने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहें। समाज ने उन्हें आरम्भ में दरिद्र रक्खा, ठीक। अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनायें तक दीं, हँसी उड़ाई,—यह सभी कुछ ठीक। किन्तु, जो कल्याण-मार्ग उन्होंने थामा उसी पर वे लोग सबके प्रति आशीर्वाद से भरे ऐसे अविचल भाव से चलते रहे कि समाज को दीख पड़ा कि उनके साथ कोई सत्-शक्ति है,—जब कि, समाज की अपनी मान्यताओं में सुधार की आवश्यकता है।

ऐसे लोग पहले तिरस्कृत हुए, फिर पूजित हुए। संसार के महापुरुषों के चरित्रों में यही देखने में आता है। समाज के साथ उनका नाता गुलामी का नहीं होता, नेतृत्व का होता है। वे अपनी राह चलते हैं। समाज उन पर हँसता है, किन्तु, फिर उन्हीं के उदाहरण से अपनी आगे की राह को प्रकाशित भी पाता है।

काल-भेद की अपेक्षा हमने साहित्य की प्रकृति में भेद चीन्हा। किन्तु, गुण-भेद से भी साहित्य में दो प्रकार देखे जा सकते हैं। एक वह जो समाज के स्थायित्व के लिए आवश्यक है, दूसरा वह जो समाज को प्रगतिशील बनाता है।

साहित्य दोनों प्रकार के आवश्यक है। लेकिन, यदि अधिक आवश्यक, अधिक संप्राण, अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसी को हम कहना ही चाहें तो उस साहित्य को कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है, और, चाहे चाबुक की चोट से क्यों न हो, समाज को आगे बढ़ाता है। वह साहित्य आदर्श-प्राण होता है, भविष्यदर्शी होता है, चिरनूतन होता है,—किन्तु, ऐसा साहित्य सहज मान्य नहीं होता।

समाज में दो तत्त्व काम करते हुए दीखते हैं। समाज के सब व्यक्ति न्यूनाधिक रूप में इन्हीं दोनों तत्त्वों के प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। एक ग्राहक है, एक विकीर्णक। एक व्यक्तित्वशून्य, एक सव्यक्तित्व। एक वह जो अपने भीतर ही अपना केन्द्र अनुभव करता है; दूसरा वह जो अपने परिचालन के लिए अपने से बाहर देखने की अपेक्षा रखता है। एक गतिशील, दूसरा संवरणशील।

सामाजिक जीवन अथवा समाज का व्यक्ति इन्हीं दोनों तत्त्वों के न्यूनाधिक अनुपात का सम्मिश्रण है। एक ओर गाँव का बनिया है जो दादा-परदादा के जमाने से अपनी नोन-तेल की दूकान पर बैठता है और लाखों रुपया जोड़कर अपना कुनबा और अपनी जायदाद बढ़ाने में लगा रहता है। दूसरी ओर वह है जिसे घरबार से मतलब नहीं, जहाँ ठौर मिला वहीं बसेरा डाला, व्याह की बात जिसे सुहाती तक नहीं,—चक्कर ही काटता डोलता रहता है। इस व्यवसाय-बद्ध (= Stationary) और गतिशील (= Mercurial),—दोनों प्रकार के जीवनों और व्यक्तियों का साहित्य में समावेश है। दोनों में से कोई उसके लिए अनुपयुक्त नहीं और कोई उसके लिए वर्ज्य नहीं।

किन्तु, समाज साहित्य की भाँति इतनी भावना-जीवी वस्तु नहीं है, इसलिए, वह इतनी उदार और महत्त्वपूर्ण वस्तु भी नहीं है। समाज में व्यवसायशील तत्त्व का

अधिक आदर है और अधिक अधिकार है। इसलिए, दूसरे तत्त्व के प्रति और उस तत्त्व के प्रतिनिधि व्यक्तियों के प्रति समाज में अवमानना और संघर्ष का भाव अधिक रहता है।—अर्थात्, समाज वैश्य-प्रधान है; फकीर उसकी दुनियादारी के लिए अनावश्यक है। वैश्य शासन की सत्ता को हाथ में लेगा, फकीर केवल वैश्य की कृपा पर जीवेगा। अगर फकीर वैश्य की कृपा को साभार स्वीकार नहीं करता तो वैश्य उसके लिए न्यायालय और जेलखाने खड़े करेगा !

यह समाज की हालत है। पर वही समाज अपने साहित्य में और अपने आदर्श में उसी फकीर के गुण-गान करेगा ! फकीर का आदर्श वैश्य के बहुत मन भाता है। फकीर अगर कुछ गड़बड़ न करे तो उसे अपने घर में प्रतिष्ठा देकर वैश्य अपने परलोक की भी सुव्यवस्था कर लेगा। पर, फकीरी के रास्ते पर एक कदम चलने की बात भी अगर उसके नाती-पोतों के मुँह से निकली तो फिर उनकी खैर नहीं !

दोनों तत्त्वों को अपने में समान रूप से धारण करने वाला साहित्य एकाङ्गी जीवन वाले समाज से क्या अपेक्षा रखे ? उससे क्या सम्बन्ध रखे ?—इस प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर यही बन सकता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा ही उसका समाज के साथ सम्बन्ध निर्णीत होगा।

घातु का बना हुआ पैसा-रुपया-गिन्नी ठोस सत्य चीज है। जिनकी सत्य-कल्पना इस ठोस घातुमय तल से ऊँची नहीं उठती या नीची नहीं जाती वे व्यक्ति यदि लिखेंगे तो उनकी रचनाओं का समाज के साथ सम्बन्ध स्वीकृति का, आज्ञाकारिता का अथवा अनुमोदना का होगा।

यह भी हो सकता है कि ऊपर से उनके साहित्य में समाज के लिए उगली हुई गालियाँ दिखाई दें, लेकिन, वे वैसे ही जली-कटी बातें होंगीं जैसी कोई रूठी और कुपित पत्नी खीज में अपने पति को कहती है। उन्हीं जली-भुनी बातों से पता चलता है कि वे समाज की कृपा के और उसके ध्यान के,—Attention के, याचक हैं। जो पैसा चाहते हैं, जो पैसे के लिए जीते हैं, वे बड़ी मीठी-मीठी चीजें या बड़ी चरपरी चीजें लिखकर समाज को भेंट करते हैं। यह कौन नहीं जानता कि मिठाई बिकती है तो चरपरी चाट भी कुछ कम नहीं बिकती ? ऐसे साहित्य और साहित्यकारों का समाज के साथ सम्बन्ध उस दूकानदार-जैसा है जो सबको ग्राहक के रूप में देखना चाहता है, या उस पत्नी के जैसा है जो जानती है कि पति के बिना उसका जीवन नहीं। इस साहित्य में, तीखे-जले व्यंग के तीर चाहे जितने हों, समाज की स्वीकृति प्रधान होती है। मनोरंजन उसमें अधिक होता है, सत्य कम। प्लाट अधिक होता है, विश्लेषण कम। बनावट अधिक रहती है, गहराई कम। साहित्य के गोदाम में अधिक माल इसी रकम का है। क्योंकि, समाज में घर-बार बनाकर छोटी-मोटी कमाई करके जीने वाले लोग ही अधिक हैं।

पर फकीर कम हैं,—वैसे फकीर जिनकी फकीरी दूकानदारी नहीं है। उन फकीरों का समाज के साथ सम्बन्ध क्या है ?—वे समाज के हितैषी हैं। वे समाज को

गाली देना नहीं जानते, पर, समाज की हाट से वे विमुख रह सकते हैं। अपने जीने के लिए वे समाज के इशारे की ओर नहीं देखते। वे लिखते हैं तो हितैषिता के नाते लिखते हैं और अपने धर्म-पालन के नाते लिखते हैं। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए (अर्थात् सत्य के उस रूप की प्रतिष्ठा के लिए जो उनके भीतर प्रतिष्ठित है,—बाहर नहीं) वे लिखते हैं। कहा जा सकता है, समाज के बाजार में डोलने वाले लोगों के लिए वे नहीं लिखते। उनका समाज के साथ सम्बन्ध,—उनकी ओर से कहा जा सकता है,—निरपेक्ष सत् कामना का है,—निष्काम हितैषिता का है। समाज की ओर से वही सम्बन्ध आरम्भ में उपेक्षा, लाञ्छना, बहिष्कार का होता है, अन्त में आदर और पूजा का।

साहित्य के अमर स्रष्टा के रूप में, इस भाँति हम देखते हैं कि, वे ही लोग हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपने को अपनी राह पर अपने आप चलाया। उन्होंने यह कम चाहा कि लोग उन्हें अच्छा गिनें। जैसे भी कुछ वे थे उसी रूप में उन्होंने समाज के सामने अपने को प्रकट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हें महत्-पुरुष भी गिनता हो, लेकिन, चूँकि समाज की नीति-धारणा बहुत धीमी चाल से विकसित होती है, इसीलिए, समाज को बरबस उन्हें दुष्ट-चरित्र और दुःशील मानना पड़ता है। उनकी महत्ता के प्रकाश में निस्सन्देह समाज-सम्मत धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है। फिर भी, वे सहसा इतनी विकसित नहीं हो सकतीं कि हर प्रकार की महत्ता उनकी परिभाषा में बँध जाय। यही कारण है कि आज जिस ईसा को दो-तिहाई दुनिया ईश्वर मानती है, उसी को झूली चढ़ाये बिना भी दुनिया से नहीं रहा जा सका! ईसा का दुनिया से क्या सम्बन्ध था?—वह ब्राता था, उपदेष्टा था, सेवक था। दुनिया ने उसके साथ अपना क्या सम्बन्ध बनाया?—उसे फाँसी दी और, इस तरह, अपनी व्यवस्था निष्कण्टक की। और अब दुनिया ने उसके साथ क्या सम्बन्ध बना रक्खा है? दुनिया कहती है, 'वह प्रभु था, अवतार था।'

साहित्यकार (अर्थात्, दूसरे प्रकार का साहित्यकार) वर्तमान से अधिक भविष्य में रहता है। दुनिया को खुश करने से अधिक दुनिया का कल्याण करना चाहता है। इसलिए, वह दुनिया लाचार होती है कि उसको न समझे, उसकी उपेक्षा करे या, बहुत हो तो, उसकी पूजा करे,—उसका भय करे। दुनिया, क्योंकि उसे समझ नहीं सकती, इसलिए, उसे प्रेम नहीं कर सकती। ऐसे साहित्यकार का यह दुर्भाग्य होता है,—अथवा यही उसका सोभाग्य है, कि वह लौ की भाँति अपने आप में ही जलता चला जाय। वह दुनिया को खुश नहीं करना चाहता, रिझाना नहीं चाहता,—उसका भला करना चाहता है; पर, दुनिया अपना भला क्यों चाहे?—वह अपनी खुशी चाहती है।

अधिकतर साहित्यिक दुनिया के मनोरंजन और विलास का सामान देते हैं। यह ऐन्द्रिय साहित्य है। पद्य साहित्य में लगभग अस्सी फी-सदी साहित्य वैसा वैषयिक साहित्य है, अर्थात्, व्यसनशील साहित्य,—हल्के-से नशे और भुलावे में डालने वाला साहित्य। इस प्रकार के साहित्य के लेखकों का सम्बन्ध समाज के साथ स्वीकृति का है।

वे समाज के मनोरंजन हैं, समाज के जीवन के हमजोली हैं। समाज के हृदय की गहरी वेदना के साथ एकात्म्य पाने की चिन्ता और अवकाश उन्हें नहीं है।

अपने लिए दूसरी अस्पृहणीय स्थिति स्वीकार करके चलने वाले दूसरे वे लोग हैं जो समाज को विलास का साधन,—Indulgence, देने की ओर प्रवृत्त नहीं होते। वे समाज के रुख की ओर नहीं देखते, उनके रोग की ओर देखते हैं। वे अत्यन्त नम्र हैं, पर अत्यन्त कठोर भी। वे वर्तमान को अपने स्वप्न के रंगों में रंगा हुआ देखना चाहते हैं। उनका समाज के साथ सम्बन्ध स्वीकृति का नहीं होता, अहम्मन्य अस्वीकृति का भी नहीं होता,—मानो वह निष्काम होता है।

इस तरह एक साहित्य वह है जिसे समाज की मजे की माँग बनाती है। दूसरा साहित्य वह है जो समाज के नेतृत्व के लिए सृष्ट होता है। पहले प्रकार के साहित्य में समाज स्वाद लेता है, प्रसन्न होता है,—उसे उसमें चाव होता है। दूसरा समाज को शुरू में कुछ फीका-फीका, कठिन, गरिष्ठ, मालूम होता है; पर उसी को फिर वह औषध के रूप में स्वीकार करता है।—उसी भाँति, साहित्यकार हैं जो समाज में सम्पन्न दीखते हैं, और साहित्यकार हैं जो समाज से दूर बहिष्कृत दीखते हैं।

समाज का और साहित्य का आरम्भ से ऐसा ही सम्बन्ध चला आता है। हम नहीं समझते, कभी कुछ और हो सकेगा।

□ □

प्रश्नोत्तर

—साहित्य और समाज का सम्बन्ध कैसा होना चाहिए ?

—साहित्य सामाजिक अवस्था से आगे होकर चलता है। वह वर्तमान को ही प्रतिबिम्बित नहीं करता। भविष्य की सम्भावनाओं को भी धारण करता है। वह अग्रगामी है, अतः, स्वाभाविक रूप में तात्कालिक समाज की प्रगति के साथ उसका सम्बन्ध नेतृत्व का हो जाता है। लेकिन, एक बात तो स्पष्ट ही है; वह यह कि, समाज की प्रगति धीमी होती है, विचार की गति क्षिप्र। इसलिए, विचारकों में और समाज की स्थिति में खाई रहती है;—ऐसा होना अनिवार्य ही है। एक और भी बात है। कल्पना में विचरने वाला विचारक साधनाशील से कल्पनाशील अधिक हो जाता है,—वास्तव से (स्थूलार्थ में) अधिक अवास्तव में वह रह सकता है। इसलिए, समाज उसके अनुगमन में खतरा भी देखता है। इस कारण, समाज अधिकतर साहित्य से अनुरंजन ही पाया करता है, नेतृत्व नहीं। अधिकांश साहित्य होता भी ऐसा है जो लोगों को बहलाता है,—उनका

मनोरंजन किया करता है। ऐसे साहित्य पर समाज कृपाशील रहता है। किन्तु, लगन से अरे और सिरजनशील साहित्य पर समाज उतना कृपाशील नहीं हुआ करता। साहित्य भावना-जीवी है समाज अर्थजीवी। उनमें परस्पर आदान-प्रदान तो है ही, लेकिन साहित्य और समाज के उन-उन प्रतिनिधियों में परस्पर विरोध भी दीख पड़ता है जो, या तो, इस किनारे होकर अतिशय साहित्यिक हैं और स्वप्न लिया करते हैं, अथवा जो, दूसरे छोर पर बैठ कर वेढव सामाजिक और घटना-जीवी और अतिशय व्यवहारवादी बन गये हैं।

— क्या साहित्य के बिना राष्ट्र और समाज का उत्थान असम्भव है ?

— मैं पूछूँ कि क्या हमारे उच्च विचारों पर हमारा उत्थान निर्भर है ? क्या विचार बिना उच्च हुए हमारा उत्थान सम्भव है ? साहित्य और है ही क्या ? अपने सीमित अस्तित्व से हम उस असीम को छूना चाहते हैं, हम अपनी ही सीमाहीनता की अपने सीमाबद्ध अस्तित्व के भीतर अनुभूति पाते हैं,—वे ही क्षण तो साहित्य के जनक हैं। अब, उत्थान किसका नाम है ? समाज का उत्थान, राष्ट्र का उत्थान,—चीज क्या है ? व्यक्तित्व के इस विकास का ही नाम तो मैं उत्थान मानता हूँ। समाज का उत्थान इसमें है कि वह अपने आप में स्वस्थ रह कर अपने से बाहर के प्रति स्नेहशील और सेवा-परायण हो सके। राष्ट्र का उत्थान इसमें है कि वह स्वयं स्वाधीन हो और विश्व के हित में समर्पित हो। मैं अहंकार को उत्थान नहीं मानता। बड़ा साम्राज्य किसी राष्ट्र के उत्थान का लक्षण नहीं है। राष्ट्र के वासियों की अनथक निःस्वार्थ कर्मवृत्ति और स्वस्थ जीवनशक्ति ही उस राष्ट्र के उत्थान का लक्षण हैं। साहित्य उस सबसे कोई अलग चीज नहीं है। मैं आपसे फिर कहना चाहता हूँ कि लाइब्रेरी का नाम साहित्य नहीं है। साहित्य यदि कुछ है तो वह उन भावनाओं का नाम है जो समष्टि के साथ व्यक्ति की सामंजस्य-सिद्धि की साधक हों। इस तरह, क्या व्यक्ति और क्या व्यक्ति-समूह,—सबका उत्थान साहित्य के मार्ग में से है। क्योंकि, साहित्य है ही उस उत्थान-मार्ग का नाम।

□ □

कला क्या है ?

कुछ बातें मुझे जल्दी में कहनी हैं। क्योंकि, जब मुझे अवकाश और स्थिरता हो, तब मैं इन बातों को नहीं कहूँगा। उस समय तो चुप रहना मुझे अधिक प्रिय होता है। या, उस समय कुछ लिखूँ ही या कहूँ ही, तो वह लिखना या करना अच्छा लगता है जो बृहत्-फल न हो और साधारण प्रतीत न होता हो। तब कविता लिखूँगा, कहानी लिखूँगा,—या इसी जोड़ का कुछ निष्प्रयोजन काम कहूँगा। किन्तु, अब अवकाश की कमी में मैं कुछ उन बातों पर लिखकर छुट्टी चाहूँगा जिन पर भगड़ा होता है और जिन्हें काम की और जरूरी समझा करते हैं।

दुनिया में एक तमाशा देखने में आता है—

—जो जीवन में कलामय नहीं है उसे चिन्ता है कि समझे कि कला क्या है। दुनिया को ऐसी चिन्ता आजकल बहुत खा रही है।

—सत्य के साथ एकाकार होकर रहने की जिनके जीवन में चेष्टा नहीं है वे सत्य के सम्बन्ध में विवाद उठाने में काफी कोलाहलपूर्ण हैं।

—धर्म को लेकर धार्मिक लोग सेवा-कर्म में और भगवत्-प्रार्थना में जब लीन हैं तब और लोग हैं जिनकी धर्म के सम्बन्ध में आकुलता जगत में उद्धोषित होती है और जो धर्म को लेकर शास्त्रार्थ और यदा-कदा मानव-मस्तकों की तोड़-फोड़ किया करते हैं।

सामाजिक क्या, राजनीतिक क्या और साहित्यिक क्या,—हर क्षेत्र में जब यह विचित्रता दीखती है तब बड़ा अनोखा भी मालूम होता है और समझ जैसे गड़बड़ में पड़ जाती है। हर क्षेत्र में श्रमी नीचे है, आलोचक ऊपर है। साहित्य में स्रष्टा सृष्टि करेगा, आलोचक राज्य करेगा। समाज के क्षेत्र में दंभी चौधरी बनेगा, धार्मिक पामाल होगा। राजनीति के क्षेत्र में वालंटियर सच्चा होगा, नेता सच्चे से अधिक नीतिज्ञ होगा।

ऊपर से देखने से यह स्थिति मनुष्य को नास्तिक बना सकती है। नास्तिक से अभिप्राय है श्रद्धाशून्य,—Faithless, संदेहग्रस्त।

किन्तु, श्रद्धावान के लिए तो विचलित होने की बात कभी कुछ है ही नहीं। यह समस्त सामग्री आस्तिक की तो आस्तिकता ही बढ़ाती है, श्रद्धालु की श्रद्धा को पुष्ट करती है।—उसे कुछ और अधिक प्रबुद्ध और जाग्रत् ही करती है।

जो ऊपर से देखता है वह क्रुद्ध हो रहता है,—विद्रोही, और विपत्ती बन जाता है। वह अन्त में कहता है, 'असत्य ही सत्य है। मैं ही परमेश्वर हूँ। जो दीखता है, उसे छोड़ और कोई सत्य नहीं है।' वह कहता है, 'मनुष्य की जय है। हाँ, शक्ति ही नीति है।' अहंकार उसके जीवन का मूल मंत्र बनता है।

किन्तु, विश्वासी को तो पत्ते पत्ते में, घटना घटना में, पल पल के भीतर यही ज्वलंत रूप में लिखा हुआ दीखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। जब क्रूर संत की छाती पर पैर रखकर दर्प की हँसी हँसता है तब भी वह श्रद्धावान् संत यही देखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। हिरण्यकशिपु की नियोजित हर विपदा की गोद में बालक प्रह्लाद को यही दीखा कि इस सब में भी उसके प्रभु रामचन्द्र ही हैं। कशिपु के नाश और प्रह्लाद के उद्धार की बात तो उस पुनीत कथा का अंत है,—उस कथा के मर्म का खान तो प्रह्लाद वज्र-श्रद्धा में ही होता है।

पहले प्रकार के पुरुष के,—नास्तिक के, निकट यह साबित नहीं किया जा सकता कि जो वह समझता है वही विश्व का सत्य नहीं है। यानी, यह कि यहाँ गर्वस्फीत शक्ति की ही जय नहीं है,—उसके अन्तर्गत किसी और ही परम सत्ता की जय है।

दूसरे प्रकार के पुरुष के निकट इसी भाँति यह कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि सत्य कभी हारता है। ऐसा पुरुष मरते मर सकता है, पर सत्य की राह छोड़ते उससे नहीं बनता।

इन दोनों प्रकार के तत्त्वों के बीच और इन दोनों भाँति के पुरुषों के मध्य आलाप-संलाप, तर्क-विग्रह और संधि-भेद चलता ही रहता है। इसी का नाम विश्व की प्रक्रिया है।

हमारी मानवीय दुनिया का जो साहित्य-कोष है, वह इसी प्रकार की प्रक्रिया का शब्दबद्ध संग्रह है। इन दो तरह के लोगों में एक दूसरे को समझने की चेष्टाएँ और न समझने की अहंता, परस्पर को पूर्ण बनाने का उद्यम और परस्पर को अकृतकार्य करने का उद्योग आदि, आदिकाल से चलता चला आ रहा है। इसी संघर्ष और इसी समन्वय में से, अर्थात् इसी मंथन में से, ज्ञान ऊपर आता है और प्रगति संपन्न होती है।

किन्तु, हम जल्दी में हैं और यहाँ हम हठात् एक सवाल उठा लेंगे और कुछ देर उसके साथ उधेड़-बुन करके आपसे छुट्टी लेंगे।

सवाल के लिए 'कला' शब्द ही लीजिए। कला क्या है, इस पर बहुत कुछ लिखा गया है, बहुत-कुछ लिखा जा रहा है। कुछ तो उसमें काफी शास्त्रीय है, कुछ ऐसा भी है जिसमें ताजगी है। 'कला' शब्द को ऐसा विवादास्पद शब्द बनाने की हमारी अनुमति नहीं है जिसको लेकर दो व्यक्ति आपस में सहानुभूति से बंति हो जायें।

'कला' शब्द मनुष्य ने बनाया इसीलिए कि उसके द्वारा वह अपने भीतर अनुभूत किसी सत्य को प्रकट करना चाहता था। 'कला' शब्द में यथार्थता मनुष्य के भीतर की उसी अनुभूति की अपेक्षा से है जिसके हेतु से उस शब्द को जन्म मिला और जो उस शब्द

की ध्वनि में और उसके रूप में प्रस्फुट हुई; क्योंकि, व्यक्ति मात्र में एक ही सच्चिदानन्द आत्मा है, इसलिए, कला वह वस्तु नहीं है कि दो व्यक्तियों को लड़ाये! 'कला' शब्द पर यदि दो आदमी उसे समझने के प्रयास में,—मत-भेद रखते हुए नहीं वरन् लड़ते हुए दीखते हैं तो स्पष्ट मान लेना चाहिए कि उन दोनों के बीच में निर्जीव अक्षरों का बना हुआ मात्र 'कला' शब्द ही है,—कोई तन्मियोजित सजीव भाव नहीं।

जो कुछ है उस समग्र के प्रति मनुष्य असंलग्न तो हो नहीं सकता। मनुष्य के आँख है तो रात को तारे भी देखेगा ही, दिन में सूरज भी उसे दिखाई देगा, हरियाली-वनस्पति उसके सामने होगी। नाना भाँति के पशु और रंग-विरंगे पक्षियों को देखकर कैसे न कहेगा कि 'वे हैं',—इन सबके साथ मनुष्य कुछ न कुछ अपना सम्बन्ध रखने को लाचार है। युगों-युगों के भीतर शेष विश्व के साथ मनुष्य का यह अन्तःसम्बन्ध विस्तृत होता गया और व्यवस्थित भी होता गया और जब तक समस्त में एकत्व अनुभूति न प्राप्त हो तब तक उसमें मनुष्य का सम्बन्ध जाने-अनजाने गाढ़तर ही होता जायगा।

अब, एक व्यक्ति व्यवहारवादी है। वह दुनिया को अपने अर्थ-साधन का क्षेत्र बनाकर समझता है कि प्रयोजन के द्वारा उसने दुनिया को अपने से और अपने को दुनिया से मिलने दिया है। पौधों पर से वह फूल लेगा, खेतों में से अन्न, घरती के गर्भ में से अन्य प्रयोजनीय पदार्थ, वृक्षों पर से फल आदि आदि। उन सबकी सार्थकता उस व्यवहारवादी के निकट इसी हेतु के माध्यम से है कि वे उसका प्रयोजन सिद्ध करते हैं। अन्यथा, दुनिया उसके मन में ही नहीं बैठती।

इस व्यवहारवादिता से लगभग उलटी जो दूसरी वृत्ति है उसे 'कलात्मकता' संज्ञा से समझा जाता है। व्यवहार के विरोध में कला है। 'कला' की अभिधा से विश्व के साथ मनुष्य की वह वृत्ति और वह सम्बन्ध समझना चाहिए जिसका लक्ष्य अर्थ-साधन नहीं है, प्रत्युत आनन्द भोग है। पौधों पर फूल हैं तो वे हमें प्रसन्न करते हैं, और, हम मात्र इतने के लिए उनके कृतज्ञ बनते हैं कि उन्हें तोड़कर माला बना लें और माला को अपने गले में डाल लें। शायद, तभी हमारे निकट फूलों में कुछ सार्थकता हो। पर, कलावादी के लिए ऐसा नहीं है। उसके किसी प्रकार काम में आये बिना, अपने वृत्त पर खिला खिला ही, वह फूल तो कलाकार के अपार आह्लाद का विषय है। इसी प्रकार, वृक्षों के फल, खेतों का अन्न, घरती की धातु, नदी का जल, गिरि की गहनता, वायु का ऑक्सीजन, आकाश की नीलिमा, तमिस्रा का नैश सौन्दर्य आदि आदि,—कलाकार के लिए ये सब प्रयोजनीय हैं इस हेतु से सत्य नहीं है; उसके लिए तो वे सब प्रयोजन से कहीं बड़े इस हेतु से सत्य हैं कि वे सुन्दर हैं। सौन्दर्य, कला के लिए, सत्य का प्रधान रूप है; प्रयोजनीयता, कलाकार के लिए, उस समय का गौण भाव है।

उसी भाँति, सत्य कला के निकट मात्र ज्ञेय नहीं है जैसा कि वह विज्ञान के निकट है। विज्ञान अपनी दलील के जोर से विश्वभूत सत्य को बुद्धिगम्य करना चाहता है,—कला की वह स्पर्धा नहीं। कला तो अपने भीतर के आनन्द-बाध द्वारा, अन्तस्थ अनुभूतियों

के सूक्ष्म तन्तुओं से समस्त विश्व को छावर, उनके सहारे, सत्य को हृदयङ्गम करेगी। कला के लिए सत्य प्रेय ही है।

इस तरह, कला व्यवसायी की प्रयोजनीयता और वैज्ञानिक की विज्ञान-सम्मतता और तात्त्विक की शुद्ध ज्ञेयता से कुछ अन्य है,—कुछ अन्यत्र है। जो नाना मनुष्यों के नाना प्रयत्नों का चिर इष्ट है वह सत्य जब सुन्दर का रूप धारण करता है, तब वह कला का आराध्य बनता है। शुष्क सत्य अथवा ज्ञेय सत्य अथवा सार्थक सत्य कला के सिंहासन पर नहीं है। उसके सिंहासन पर तो सत्य सुन्दर होकर ही बैठता है।

इतने से यह प्रकट होगा कि कला के विषय में जो 'क्यों' और 'क्या' का बहुत विवेचन करते हैं वे कला के उपास्य हृदय द्वारा सेव्य सौन्दर्य को मानों बुद्धि की छुरी के नीचे पटककर उसका व्यवच्छेद करने चलते हैं। पर, शस्त्र से हवा जैसा सूक्ष्म भाव कैसे कटेगा ? कोशिश कीजिए कि आकाश का विच्छेद करें—विज्ञान को हारकर लौटना होगा।

इस प्रकार असंभव नहीं है कि कलाकार का उपास्य विलुप्त ही हो रहे और पंडितजन की बुद्धि शस्त्रविच्छेद द्वारा मात्र यहीं पहुँचे कि कला का सिंहासन तो उपास्य-शून्य है और वहाँ निर्वुद्धिता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। बुद्धिवादी इस निर्णय तक पहुँचे, इसमें कलाकार को कुछ भी नहीं। मात्र उसे यही भय है कि बुद्धिवादी निराश होकर नास्तिक न हो जाय,—और नास्तिक भी वह नहीं जिसके लिए नास्तिकता ही ईश्वरसम हो गई है, क्योंकि, वह तो 'नास्तिकता को लेकर आस्तिक' बनता है,—'नास्तिकता' के प्रति कर्मण्य और श्रद्धावान् बनता है।—भय है कि वह निरा संशयसेवी 'श्रद्धाशून्य नास्तिक' न बन जावे।

□ □

किसके लिए लिखें ?

‘विशाल भारत’ ने ‘कस्में देवाय’ शीर्षक लेख में प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है—
‘जनता-जनार्दनाय’। जनता का भी स्पष्टीकरण उसने किया है, अर्थात्, वह जो अपने पसीने के बल रोटी खाते हैं,—किसान मजदूर आदि। उनकी अपेक्षा मध्यवित्त लोग ‘जनता’ नहीं हैं, और सम्पन्न घनिक वर्ग तो है ही नहीं।

मुझे वह लेख पसन्द आया; क्योंकि, उसमें हार्दिकता का जोर है। पर मुझे लगता है, वह भ्रम में डाल सकता है। और मुझे यह भी लगता है कि वह लेख स्वयं भ्रम से खाली नहीं है। स्पिरिट में उसके साथ होते हुए भी मैं उस दृष्टिकोण से तीव्र मतभेद प्रकट करना चाहता हूँ जो उसमें प्रतिपादित है।

क्या वस्तुस्थिति यह है कि हम चुन लें कि हम ‘क’ के लिए लिखते हैं या ‘ख’ के लिए ? और यदि ‘ख’ के लिए नहीं लिखते, तो हम उसके अपराधी बनते हैं ? और ‘क’ या ‘ख’ के लिए लिखना ही होगा, क्योंकि, वह निर्बल है या प्रबल है ? या ऐसा है या वंसा है ?

‘विशाल भारत’ के लेख का आधार यही है कि मनुष्यता मूल रूप के वर्गों में बँटी है, और तुम्हारी सहानुभूति या तो एक वर्ग के साथ है और वह सब वहीं खँच होती है, नहीं तो दूसरे वर्ग के साथ है और पहले वर्ग के तुम दुश्मन हो।

इस दृष्टि को जब व्यवहार में उतार कर देखते हैं तो इसका रूप यह होता है कि, ‘देखो जी, तुम जिस दल में मैं हूँ (और, क्योंकि, मेरी भावनाएँ और सहानुभूतियाँ वहाँ पुष्ट होतीं और व्यय होती हैं, इससे मैं निस्संशय मानता हूँ कि जगत् का उद्धार उसी दल के द्वारा है) उसी के साथ तुम नहीं हो, तो तुम नहीं कह सकते कि तुम हमारे दुश्मन नहीं हो। समझे ? अब चुन लो !’

तर्कवादी तर्क से सिद्ध कर सकता है कि मेरा स्वार्थ अलग है तुम्हारा अलग,— न केवल इतना ही, इससे आगे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि एक के स्वार्थ पर डाका डालकर ही दूसरे का स्वार्थ पुष्ट होगा, अन्यथा नहीं। और इसी भाँति कहा जा सकता है कि मनुष्यता में भी स्वार्थों का परस्पर संघर्ष है,—वर्ग-वर्ग के स्वार्थ और हित भिन्न हैं, विरोधी हैं और अमुक एक वर्ग के प्रति सद्भावना, आवश्यक रूप में, दूसरे वर्ग के प्रति द्वेष-भावना के बल पर ही पोषणीया है, तो मैं कहूँगा, ‘तुम्हारे तर्क का सत्य यह

है तो हो,—साहित्यिक का सत्य यह न हो सकेगा ।'

साहित्यिक का सत्य तो यह है कि मनुष्यता एक है। वह इसी सत्य को निरंतर खोजता है और निरंतर, अपनी भावना और रचना से, वह उसको निकट लाता है। यदि मनुष्यता एक नहीं है,—यदि उसमें विग्रह है, कलह है, विच्छेद है, तो वह मिथ्या है। और इस मिथ्या के साथ लड़ाई ठाने रखना साहित्यिक का सत्य-आग्रह बन जाता है। वह इस मिथ्या को स्वीकार न कर सकेगा; क्योंकि, प्रतिक्षण वह उसे तोड़ने और ढाने में लगा है।

जो जो कुछ मनुष्य ने बनाया है, उसको दृष्टि में प्रधान रखकर हम यदि देखते हैं तो दीखता है कि मनुष्यता असंख्य स्वार्थों में बंटी हुई है,—दूसरे पर एक का हावी हो जाना ही उसकी सिद्धि है, और शक्ति ही न्याय है, और 'अहम्' ही सत्य है; जीवन में विधि-निषेध और राग-द्वेष की आवश्यकता का जंजाल-सा फैल रहा है,—इसने यह किया है, इसे फांसी दो; इसकी लाटरी का नंबर ठीक निकल आया है, इसलिए, इसे पाँच लाख रुपए दो। जीवन में यह विषमता हमें स्वादिष्ट लगती है। फांसी से हम डरते हैं और सोचते हैं,—हाय हाय ! हमारे नाम यह लाटरी क्यों नहीं निकल आती !

मनुष्य ने जो बनाया है,—जो समाज, सरकार सौर सभ्यता खड़ी की है, वह एकदम धता बताने लायक ही हो सो नहीं, पर, जिसने मनुष्य को बनाया है और जिसके लिए मनुष्य बना है और मनुष्य के द्वारा जो व्यक्त और सम्पन्न हो रहा है, उसे भी ध्यान में रख सकें, तो दीखे, कि समता और एकता भी कहीं है।—कहीं क्यों—सभी कहीं है। और, तब अनैक्य और वैषम्य में प्रलोभन हमारे निकट नहीं रह जायें और हम स्पष्ट देखें कि हम वहीं हैं जहाँ मिथ्या नहीं है।

मनुष्य ने एक वस्तु बनाई है—पैसा; धरती में से धातु निकाली, उस पर मोहर ठोकी, और मनुष्य-मनुष्य के बीच वह आदान-प्रदान का सहज साधन बना। पैसे की उपयोगिता से इन्कार करना अपना अभिमत नहीं,—पैसे के अभाव में मनुष्य आपस में कोसों दूर बना रहता, पैसे से वह पास आया है।

लेकिन, मनुष्य की बनाई कौन-सी चीज सम्पूर्ण है ? पैसा जितनी तेजी से बढ़ा मनुष्य का हृदय उतनी तेजी से नहीं बढ़ सकता था,—उन हृदयों को फाड़ने के काम में वह आने लगा। उसने जमा होकर आदमी को आदमी कम रख के, उसे गरीब या अमीर बना देना अधिक आरंभ किया।

अब एक दृष्टि वह है जिससे आदमी आदमी पीछे है वह गरीब और अमीर पहले है। आदमी के बारे में जितना कुछ हमें ज्ञात होता है वह इसमें समाप्त हो जाता है कि वह पैसेवाला है या बेपैसा है। स-पैसा या अ-पैसा यह तो मात्र Condition (= स्थिति, शर्त) है तथ्य-वस्तु तो व्यक्ति है,—यह भाव हमसे खो जाता है। और, हमारी मति में मनुष्य, उपलक्ष्य,—गोण-मात्र रहता है, उसकी गरीबी-अमीरी ही केवल हमें जानने की वस्तु हो जाती है।

२० :: जैनन्द्र के विचार

अमुक के पास पैसा नहीं है, क्या इसीलिए वह मनुष्य से कम है ? या इसीलिए वह मनुष्य से ज्यादा है ? या कोई पैसेवाला है, इसी कारण देवता या राक्षस है ? — ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनुष्यता से अनपेक्षित रहकर गरीबी-अमीरी कुछ चीज नहीं हैं। मुझे भय है कि 'विशाल भारत' के लेख में गरीबी-अमीरी का पार्थक्य जरा जोर के स्वर में और जरा गहरे रंग में भर गया है। और, खुद उसकी खातिर निर्धनता और दीनता के पक्ष का प्रलोभन होना, शायद, खुद उसकी खातिर द्रव्य-लोभ से कुछ कम भयावह वस्तु न हो; पर, फलतः वे दोनों एक-सी अयथार्थ वस्तु हैं।

पर साहित्य, 'विशाल भारत' की ओर से मैं अपने से पूछूँ, क्या बिना Preference या पक्षपात के एक पग भी चल सकता है ? तब, दुपहरी की धूप में पसीने से चुआता नंगा बदन लिये फावड़े से खेत खोदता हुआ और बीच-बीच में खुले गले से राग अलापता रमल्ला और इश्क की कहानी पढ़ती हुई बिजली के पंखे के नीचे अधड़की और अधलेटी रसीली रंभा,—इन दोनों में से, बताओ, साहित्य किसको लेकर धन्य होगा ?

हाँ, मैं कहूँगा, 'सृष्टा' के लिए Preference (= पक्षपात) होते होंगे और जितने स्पष्ट और पने हों उतना अच्छा—यहाँ तक कि उनकी धार इतनी पैनी हो कि वे व्यक्तियों में से पार होते चले जायें और व्यक्ति को दैहिक चोट तनिक न अनुभव हो। और, जिस तरह रमल्ला अधिक से अधिक ईमानदार और उद्यमी और त्रस्त होकर भी अपने ऊपर लिखी गई रचना को निकम्मी होने से नहीं रोक सकता, उसी तरह, रंभा अधिक से अधिक कुटिल होकर भी अपने ऊपर लिखी गई साहित्यिक रचना को अतिशय घन्य होने से नहीं रोक सकती। मेरे भाई, मैं अपने से कहूँगा, किसी की भी आत्मा, वेदना और स्वप्न से खाली नहीं है। अहंकार छोड़कर उसकी आत्मा में तुम तनिक भाँक सको,—चाँडाल हो कि ब्राह्मण, वेश्या हो कि संत, राजा हो या रंक,—सब कहीं वह है जो तुम्हारी खोज की वस्तु है। किसी को तजने की आवश्यकता नहीं, किसी को पूजने की जरूरत नहीं। साहित्य के आदर्श की मूर्ति को 'रमल्ला' में स्थापित करने के लिए उसे 'रंभा' में से क्यों तोड़ते हो ? यों तो मूर्ति ही गलत है, क्योंकि, मूर्ति से बाहर होकर भी साहित्य का आदर्श ठौर ठौर अणु-अणु में व्यापा है। लेकिन, यदि तुम मूर्ति चाहते हो, और रमल्ला में आदर्श-दर्शन सहज तुम्हें होते हैं तो सहर्ष तुम उस मंदिर में सर्वांग-मूर्ति प्रतिष्ठित करो। मैं तो कहता हूँ,—मैं अपने से कहूँगा, 'मेरे लिए पहले से वह मंदिर है: मुझे तो मूर्ति भी वहाँ पानी है। लेकिन, तुम इस नये यत्न में 'रंभा' को, या किसी और की मूर्ति या मंदिर को, तोड़ने की जिद रखना जरूरी न समझो। इससे तुम्हारा ही अपकार होगा।'

लेकिन, प्रश्न तो है,—हम किसके लिए लिखें ? साहित्यिक उद्यमी होने के नाते क्या दिशा हम उसे दें ? क्या सब अंधाधुंध चलने दें ? हमारे युवक बिगड़ते हैं, स्त्रियाँ बपथगा होती हैं, भ्रष्टाचार फैलता है,—यह होने दें ? और तब, जब, दुर्भाग्य से,

संपादक की जिम्मेदारी हमारे अनुद्यत कंधों पर रखी है, और हमें कुछ न कुछ बनाना होता है।

किसके लिए लिखें ? —यह सोचते हुए जब यहाँ पहुँचता हूँ कि दुनिया की भलाई के लिए लिखो, तब मुझे ग्लानि होती है। ध्यान आता है कि हर मिनट जीने के लिए मैं जिसका ऋणी हूँ,—आज उसका उपकारक, उद्धारक होने चला हूँ ! और भलाई कहूँ,—इसमें से पर्याप्त प्रेरणा भी नहीं प्राप्त होती। अपने सुख के लिए लिखूँ, तो नहीं जानता कि लिखने में मुझे सुख होता है या नहीं। और मुझे सुख होता भी है तो तब, जब पाता हूँ कि छपकर वह बात सैकड़ों के पास पहुँच गई है, और दो-एक तारीफ भी कर रहे हैं। मुझे सुख भी तो 'मुझसे दूसरे सुख पा रहे हैं', यह जानकर ही होता है। अच्छा, और जो किसी ने तारीफ नहीं की, बल्कि मेरी रचना की कुछ बुराई ही हुई, तो क्या मैं न लिखूँ ? अपने सुख के लिए लिखूँ तो, ऐसी हालत में, मुझ में लिखने की प्रेरणा शेष नहीं रहेगी।

‘अपने लिए लिखें, या पराये के लिए ?’ जब यह प्रश्न इसी भाँति दो-मुखी होकर मेरे सामने खड़ा रहा,—मुझे सूझा नहीं कि मैं उस पर चलूँ या इस पर (और दोनों से बच निकलने की राह कहाँ थी ?) तब मालूम हुआ—अरे, अपने अहंकार में भरा मैं यह क्यों नहीं सोचता कि एक वह भी तो है, वहाँ पराया भी अपना है और अपना सब-कुछ भी जिसमें समाया है। वस, उसी के लिए तो यह सब रहना, करना, और लिखना है। अपने भीतर और बाहर उसी एकमात्र सत्य की प्रतिष्ठा के लिए मैं लिखूँ।

‘विशाल भारत’ ने जो ‘जनता-जनार्दन’ लिखा है, वह ठीक; लेकिन, क्या ‘जनार्दन’ मेरे निकट और भी ठीक न होगा ? क्योंकि, ‘जनता’ में पशु-पक्षी कहाँ हैं, वनस्पति कहाँ हैं, यह आकाश तारे कहाँ हैं ?—और, ‘जनार्दन’ में तो हमारा ज्ञान-अज्ञान सब है।

लेकिन, ‘जनार्दन’ को आजकल कौन जाने, कौन माने ? इससे आजकल की भाषा में कहना हुआ,—सत्य की शोध, सत्य की चर्चा, सत्य की पूजा के लिए हम लिखें।

उसके बाद, गरीब के लिए लिखें, अमीर के लिए लिखें, साधारण के लिए लिखें या किसके लिए लिखें,—दुराचारी या सदाचारी के लिए, स्त्री के लिए या पुरुष के लिए, मनोरंजन के लिए या साधना के लिए ?—ये बातें अधिक उलझन नहीं उपस्थित करतीं।

सत्य के प्रसार और अंगीकार के लिए हम लिखते हैं। सत्य में जो बाधा है वही गिराना सत्य का ऐक्य है। कुछ एक दूसरे के निकट अछूत हैं, गलत समझे हुए (mis-understood) हैं, आधे समझे हुए (half understood) हैं,—कुछ त्याग्य हैं, दलित हैं, व्रस्त हैं, अपराधी हैं, अभियुक्त हैं, दीन हैं, बेजबान हैं;—कुछ गर्बीले हैं, दर्पोद्धत हैं,

२२ :: जैनन्द्र के विचार

रुष्ट हैं, निरंकुश हैं।—यह सब सत्य है। यह क्यों ? मनुष्य की अहंकृत मान्यताओं में घुटकर जीवन एक समस्या बन गया है और अपने चारों ओर दुर्ग की-सी दीवारें खड़ी करके उसमें अपने स्वार्थ को सुरक्षित बनाकर चलने के लिए सब अपने को लाचार समझते हैं। वे दीवारों सबको अलग बनाये हैं,—हृदय को हृदय से दूर रखती हैं।

एक को दूसरे के हृदय के निकट देखें और सबको विश्व-हृदय के निकट देखें,—इस प्रकार विश्व के जीवन में सत्योन्मुख एकस्वरता उत्पन्न हो। जिससे यह हो, वही तो हम लिखेंगे। और, यदि इस प्रकार कुलटा नारी के प्रति कट्टर पति का हृदय हमने अपनी रचना से पिघला कर आर्द्र कर दिया, प्रेमिका को मारने को उद्यत प्रेमी का खड्ग-सिद्ध हाथ रोक लिया, रोते को हँसा दिया, गर्वस्फीत को मुलायम कर दिया, 'विशाल भारत' को 'रंभा' के प्रति क्षमाशील कर दिया, तो यह उसी भाँति शुभ और आवश्यक है जैसे यह कि मजदूर के प्रति अफसर में, दीन के प्रति धनाढ्य में, और कृषक के प्रति मालिक में, और शासित के प्रति शासक में करुणा जगाई जाय।

जहाँ यह सत्य प्रेम-भाव नहीं, वहाँ ही असत्य है। उस असत्य के मुक्ताबले की अवश्य जरूरत है, पर, सत्य-चर्या में ही हर प्रकार के मुक्ताबले की शक्ति है, और उसी में से स्वयं खप जाने की राह भी प्राप्त होती है।

किसी के प्रति भी तिरस्कार या बहिष्कार का भाव रखने के भाव को साहित्य में मजबूत नहीं होने देना होगा। और न किसी को सीधे दबाने का लोभ होना चाहिए। अपने भीतर की प्रेम-शक्ति का अकुंठित दान ही साहित्य के पास एक अस्त्र है जो अमोघ है।

□ □

साहित्य की सचाई*

भाइयो,

मेरी उमर ज्यादा नहीं है। पढ़ा भी ज्यादा नहीं हूँ। साहित्य-शास्त्र तो बिलकुल नहीं पढ़ा हूँ। फिर भी, लिखने तो लगा। इसका श्रेय परिस्थितियों को समझिए। यों अधिकार मेरा क्या है? लिखने लगा, तो लेखक भी माना जाने लगा। और, आज वह दिन है कि आप विद्वान् लोग भी आज्ञा देते हैं कि मैं आपके सामने खड़े होकर बोल पड़ूँ।

आप लोगों द्वारा जब मैं लेखक मान लिया गया और मेरा लिखा गया कुछ छपने में भी आया, तब मैं अपने साहित्यिक होने से इनकार करने का हक छिना बैठा; लेकिन, अपनी अबोधता तो फिर भी जतला ही सकता हूँ। वह मेरी अबोधता निबिड़ है। साहित्य के कोई भी नियम मुझे हाथ नहीं लगे हैं। साहित्य को शास्त्र के रूप में मैं देख ही नहीं पाता हूँ; पर, शास्त्र बिना जाने भी मैं साहित्यिक हो गया हूँ ऐसा आप लोग कहते हैं। तब मुझे कहना है कि साहित्य-शास्त्र को बिना जाने भी साहित्यिक बना जा सकता है, और शायद अच्छा साहित्यिक भी हुआ जा सकता है। इसमें साहित्य-शास्त्र की अवज्ञा नहीं है, साहित्य के तत्त्व की प्रतिष्ठा ही है।

साहित्यिक यदि मैं हूँ तो इसका मतलब मैंने अपने हक में कभी भी यह नहीं पाया है कि मैं आदमी कुछ विशिष्ट हूँ। इन्सानियत मेरा, सदा की भाँति, तब भी धर्म है। सच्चा खरा आदमी बनने की जिम्मेदारी से मैं बच नहीं सकता। अगर, साहित्य की राह मैंने ली है, तब तो भाव की सचाई और बात की मिठास और खरेपन का ध्यान रखना और इसी प्रकार का अन्य सर्व सामान्य धर्म मेरा और भी धर्म हो जाता है। इस दृष्टि से, मैं आज अनुभव करता हूँ कि साहित्य के लिए वही नियम हैं जो जीवन के लिए हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि जैसा मुझे दुनिया में रहना चाहिए वैसा साहित्य में भी क्यों न रहना चाहिए? जितनी मेरे शब्दों से मेरे मन की लगन है उतना ही तो उनमें जोर होगा! जिदगी ही में नहीं तो शब्दों में जोर आएगा कहाँ से?

अपने जीवन की एक कठिनाई मैं आपके सामने रख दूँ। आँख खोलकर जब

* नागपुर में 'भारतीय साहित्य-परिषद्' में दिए दिये भाषण का एक अंश।

२४ :: जैनेन्द्र के विचार

दुनिया देखता हूँ तो बड़ी विषमता दिखाई देती है। राजा है और रंक है, पहाड़ है और शिशु है, दुःख है और सुख है।—यह विषमता देखकर बुद्धि चकरा जाती है। इस विषमता में क्या संगति है? क्या अर्थ है? पर, वैषम्य अपने आप में तो सत्य हो नहीं सकता। विषमता तो ऊपरी ही हो सकती है। दुनिया में जो कुछ हो रहा है उसके भीतर यदि मैं उद्देश्य की,—अर्थ की झाँकी न ले सकूँ, तो क्या वह सब कुछ पागलपन न मालूम हो? सब अपना-अपना अहंकार लिए दुनिया से अटकते फिर रहे हैं। इसमें क्या मतलब है? मैं सच कहता हूँ, कि इसे देखकर मेरा सिर चकरा जाता है। यह चाँद क्या है? आसमान में ये तारे क्या हैं? आदमी क्यों यहाँ से वहाँ भागता फिर रहा है? वह क्या खोज रहा है? क्या ये सब निरे जंजाल ही हैं, भ्रमजाल ही हैं? क्या यह समस्त चक्र निरर्थक है? इसे जंजाल मानें, निरर्थक मानें,—तो जीयेंगे किस विश्वास के बल पर? अविश्वास पर निर्भर रहकर तो जीना दूभर हो जायगा। जब-जब बहुत आँखें खोलकर और बहुतेरा उन्हें फाड़कर जगत को समझने का प्रयास करता हूँ, तभी तब बुद्धि त्रस्त हो रहती है, और मैं विफलता में डूब जाता हूँ। अरे, श्रद्धाहीन बुद्धि तो बन्ध्या है, उससे कुछ फल नहीं मिलता! वह तो लँगड़ी है, हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती।

बुद्धि से विज्ञान खड़े होते हैं। हम वस्तु का विश्लेषण करके उसकी व्याख्या करके अणु तक पहुँचते हैं। फिर, बुद्धि वहाँ अणु के साथ टकराती रहती है। अन्त में समझ में क्या आता है? अणु बस अणु बना रहता है, थियरी बस थियरी बनी रहती है और, जान पड़ता है कि, न अणु की थियरी सत्य है और न कोई और थियरी अन्तिम हो सकेगी। और, सदा की भाँति विराट् अज्ञेय हमें अपनी शून्यता में समाये रहता है और हम भौंचक रहते हैं।

विज्ञान की दूरबीन में से सत्य को देखते-देखते जब आँखें हार जाती हैं, सिर दुख जाता है, बुद्धि पछाड़ खाकर स्तब्ध हो रहती है, तब हम शान्ति की पुकार करते हैं। तब हम श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव करते हैं, तब हम चैन के लिए,—रस के लिए, विकल होते हैं। निरुपाय हो हम आँख मीचते हैं और अपने भीतर से ही कहीं से रस का स्रोत फूटा देखना चाहते हैं। और जो आँख खोलकर नहीं मिला, आँख मीचकर मिल जाता है। बुद्धिमान् जो नहीं पाते, बच्चे बच्चे बनकर क्या उसे ही नहीं पा लेते हैं? मैं एक बार जंगल में भटक गया। जंगल तो जंगल था, भटक गया तो राह फिर कैसे मिले? वहाँ तो चारों ओर पेड़ ही पेड़ थे जिनकी गिनती नहीं, जिन्हें एक को दूसरे से चीन्हे का उपाय नहीं। घण्टे-के-घण्टे भटकते हो गये और मैं अधिकाधिक मूढ़ होता चला गया। तब मैं हारकर एक जगह जा बैठा और वहाँ बैठा, आँख मीचकर, अपने भीतर ही से राह खोजने लगा। और मैं आप से कहता हूँ कि बाहर कोई हुई राह मुझे भीतर ही मिल गई!

आजकल नये विचारों की लहर दौड़ रही है। मैं आपको अपनी असमर्थता बतला दूँ कि मैं उन लहरों पर बहना नहीं जानता। लहरों पर लहराने में सुख होगा; पर, वह

सुख मेरे नसीब में नहीं है। हमारे मानव-समाज की बात कही जाती है। मानव-समाज टुकड़ों में बँटा है,—उन टुकड़ों को राष्ट्र कहते हैं, वर्ग कहते हैं, सम्प्रदाय कहते हैं। उन या वैसे अन्य खण्डों में खण्डित बनाकर हम उस मानव-समुदाय को समझते हैं; पर, असल में ऐसी कोई फाँकें हैं नहीं। ये फाँकें तो हम अपनी बुद्धि के सहारे के लिए कल्पित करते हैं। मानव-समाज का यह विभाजन हमारी बुद्धि हमें प्रकार-प्रकार से सुझाती है। एक प्रकार का विभाजन अति स्वीकृत हो चला है। वह है—एक मासेज दूसरी क्लासेज; सर्वसाधारण और अधिकार-प्राप्त; दरिद्र और विभूति-मज्जित। इन दोनों सिरों के बीच में और भी कई मिश्र श्रेणियों की कल्पना है। इस विभाजन को गलत कौन कहेगा? लेकिन, यह मानना होगा कि विभाजन सम्पूर्ण सत्य नहीं है। सत्य तो अभेदात्मक है। इस अभेदात्मक सत्य को अपनी बुद्धि से ओझल कर रखने से संकट उपस्थित होगा।

फिर, एक बात और भी है। मानव-समाज ही इति नहीं है। पशु-समाज, पक्षी-समाज, वनस्पति-समाज भी है। यही क्यों, सूर्य-तन्त्र-ग्रह-तारा-मण्डल भी है। यह सभी कुछ है और सभी कुछ की ओर हमें बढ़ना है। मानव-समाज को स्वीकार करने के लिए क्या शेष प्रकृति को इनकार करना होगा? अथवा कि प्रकृति में तन्मयता पाने के लिए मनुष्य-सम्पर्क से भागना पड़ेगा?

दोनों बातें गलत हैं। धर्म सम्मुखता है। हम उधर मुँह रक्खें अवश्य जहाँ वह इन्सान है जो परिश्रम में चूर-चूर हो रहा है, देह से दुबला है, और दूसरों के समस्त अनादर का बोझ उठाये हुए झुका हुआ चल रहा है।—हम उधर देखें जहाँ पुरुष को इसलिए कुचला जाता है कि दानव मोटा रहे। पीड़ित मानव-समाज की ओर हम उन्मुख रहें, अपने सुख का आत्म-विसर्जन करें,—उनकी वेदना में साक्षात् बटायें। यह सब तो हम करें ही,—करेंगे ही। अन्यथा हमारे, लिए मुक्ति कहाँ है? पर ध्यान रहे, मानव-समाज पर जगत का खात्मा नहीं है। उससे आगे भी सत्य है, वहाँ भी मनुष्य की गति है, वहाँ भी मनुष्य को पहुँचना है।

और, इस जगह पर आकर मैं कहूँ कि अरे, जो चाँद-तारों के गीत गाता है, उसे क्या वह गीत गाने न दोगे? उन गीतों में संसार के गर्भ से ली गई वेदना को अपने मन के साथ घनिष्ठ करके वह गायक गीत की राह मुक्त कर दे रहा है। उसको क्या प्रस्ताव से और कानून से रोकोगे? रोको, पर यह शुभ नहीं है? अरे उस कवि को क्या कहोगे जो आसमान को शून्य दिग्गम्बर देखता है, कुछ क्षण उसमें लीन रहता है और उसी लीनता के परिणाम में सब वैभव का बोझ अपने सिर से उतारकर स्वयं निरीह बन जाता है और मस्ती के गीत गाता है? कहें राजनीतिक उसे पागल, पर वह लोकहितैषी है। उसका प्रयोजन चाहे हिसाब की बही में न आये, पर, प्रयोजन उसमें है और वह महान् है।

ज्ञान जानने में नहीं, वैसा बनने में है Knowing is becoming असली जानना पाना है और पाना है तद्रूप तन्मय हो जाना। हम मनुष्य-समाज की सच्ची सेवा स्वयं

सच्चा मनुष्य बनकर कर सकते हैं और अहम्-शून्य हो जाने से बड़ी सत्यता क्या है ? कवि स्वयं एकाकी होता है, सम्पदा से विहीन होता है। वह स्वेच्छापूर्वक सब का दास होता है। स्नेह से वह भोगा है और अपनी नस-नस में गरीब है। जब वह ऐसा है तब उसके आगे साम्राज्य की भी बिसात क्या है ? वह सब उसके लिए तमाशा है। उस कवि से तुम क्या चाहते हो ? क्या उससे सुधार चाहते हो ? क्या उससे प्रचार चाहते हो ? अरे, क्यों चाहते हो कि जिसके मन में फकीरी समाई है वह कुनबेदार बना रहकर बस श्रमिक की भलाई चाहनेवाला साहित्य लिखे ? श्रमिक और मजदूर वर्ग को साइन्स के द्वारा, 'इंजिन' के द्वारा, प्रस्ताव के द्वारा, नहीं जाना जायगा; प्रेम के द्वारा उसे जानना होगा और प्रेम के द्वारा पाना होगा। और जब हम यह करने बढेंगे तो देखेंगे कि हमें उन्हीं जैसा, बल्कि उनसे भी निरीह, स्वयं बन जाना है। फिर हमें कहाँ फुरसत रहेगी कि हम बहुत बातें करें ? अरे, वैसे फकीर की फकीरी और इकतारा क्यों छीनते हो ? अगर वह नदी के तीर पर साँझ के झुटपटे में अकेला बैठा कोई गीत गा रहा है तो उसे गाने दो, छेड़ो मत। उसके इस गीत से किसी मजदूर का, किसी चरवाहे का, बुरा न होगा। होगा तो कुछ भला ही हो जायगा। उसको उस निर्जनता से उखाड़-कर कोलाहलाकुल भीड़ में बलात् बिठाने से मत समझो कि तुम किसी का भला कर रहे हो।

व्यक्ति को वेदना की दुनिया पाने दो और पाकर उसे व्यक्त करने दो, जिससे कि लोगों के छोटे-छोटे दिल क्रंद से मुक्ति पायें और प्रेम से भरकर वे अनन्त शून्य की ओर उठें।

अभी चरचा हुई कि क्या लिखें, क्या न लिखें। कुछ लोग इसको साफ जानते हैं; पर, मेरी समझ तो कुंठित होकर रह जाती है। मैं अपने से पूछता रहता हूँ कि सत्य कहाँ नहीं है ? क्या है जो परमात्मा से शून्य है ? क्या परमात्मा अखिल-व्यापी नहीं है ? फिर जहाँ हूँ, वहाँ ही उसे क्यों न पा लूँ ? भागूँ किसकी ओर ? क्या किसी वस्तु-विशेष में वह सत्य इतनी अधिकता से है कि वह दूसरे में रह ही न जाय ? ऐसा नहीं है। अतः निषिद्ध कुछ भी नहीं है। निषिद्ध हमारा दम्भ है, निषिद्ध हमारा अहंकार है, निषिद्ध हमारी आसक्ति है। पाप कहीं बाहर नहीं है, वह भीतर है। उस पाप को लेकर हम सुन्दर को बीभत्स बना सकते हैं और भीतर के प्रकाश के सहारे हम धूप में सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं।

एक बार दिल्ली की गलियों में आँख के सामने एक अजब दृश्य आ गया। देखता हूँ कि एक लड़की है। बेगाना चली जा रही है। पागल है। अठारह-बीस वर्ष की होगी। सिर के बाल कटे हैं। नाक से द्रव बह रहा है। काली है, अपरूप उसका रूप है। हाथ और बदन में कीच लगी है। मुँह से लार टपक रही है। वह बिल्कुल नग्न है। मैंने उसे देखा, और मन मिचला आया। अपने ऊपर से काबू मेरा उठ जाने लगा। मैंने लग-भग अपनी आँखें मींच लीं और झुटपट रास्ता काटकर मैं निकल गया। मेरा मन ग्लानि से भर आया था। कुछ भीतर बेहद खीझ थी, आस था। जो घिन से खिन्न था। काफ़ी

देर तक मेरे मन पर वह खोज छाई रही; किन्तु, स्वस्थ होने के बाद मैंने सोचा, और अब भी सोचता हूँ, कि क्या वह मेरी तुच्छता न थी ? इस भाँति सामने आपदा और विपदा और निरीह मानवता को पाकर स्वयं कन्नी काटकर बच निकलना होगा क्या ? मैं कल्पना करता हूँ कि क्राइस्ट होते, गौतम बुद्ध होते, महात्मा गान्धी होते, तो वे भी क्या वैसा ही व्यवहार करते ? वे भी क्या आँख बचाकर भाग जाते ? मुझे लगता है कि नहीं, वे कभी ऐसा नहीं करते । शायद वे उस कन्या के सिर पर हाथ रखकर कहते—आओ बेटा, चलो । मुंह-हाथ धो डालो, और देखो यह कपड़ा है, इसे पहिन लो । मुझे निश्चय है कि वे महात्मा और भी विशेषतापूर्वक उस पीड़िता बाला को अपने अन्तस्थ स-करण प्रेम का दान देते ।

पर नग्नता हमारे लिए तो अश्लीलता है न ? सत्य हमारे लिए भयंकर है, जो गहन है वह निषिद्ध है, और जो उत्कट है वह बीभत्स । अरे, यह क्या इसीलिए नहीं है कि हम अपूर्ण हैं, अपनी छोटी-मोटी आसक्तियों में बंधे हुए हैं ! हम क्षुद्र हैं, हम अनधिकारी हैं ।—मैंने कहा, अनधिकारी । यह अधिकार का प्रश्न बड़ा है । हम अपने साथ झूठे न बने । अपने को बहकाने से भला न होगा । सत्य की ओट थामकर हम अपना और पर का हित नहीं साध सकते । हम अपनी जगह और अपने अधिकार को पहचानें । अपनी मर्यादा लाँघें नहीं । हठ-पूर्वक सूर्य को देखने से हम अन्धे ही बनेंगे; पर, बिना सूर्य की सहायता के भी हम देख नहीं सकते, यह भी हम सदा याद रखें । हम जान लें कि जहाँ देखने से हमारी आँखें चकाचौंध में पड़ जाती हैं वहाँ देखने से बचना यद्यपि हित-कर तो है, फिर भी, वहाँ ज्योति वही सत्य की है और हम शनैः शनैः अधिकाधिक सत्य के सम्मुख होने का अभ्यास करते चलें ।

□ □

साहित्य और साधना*

भाइयो,

साहित्य के सम्बन्ध में मैंने कुछ पढ़ा नहीं है, किन्तु, इस बात का मुझे गर्व है कि जो प्रेम के ढाई अक्षर पढ़ लेता है वही साहित्यिक है। इसे आज मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। साहित्यिक के क्षेत्र में पुस्तकों का ज्ञान उतना आवश्यक नहीं है जितनी आवश्यकता है साधना और उपसना की। विश्व के हित के साथ एकाकार हो जाय, यही जीवन का लक्ष्य है। बाह्य जीवन से अंतर-जीवन का सामंजस्य हो, इस सत्य को प्रत्यक्ष करने में ही जीवन की सार्थकता है। ग्रन्थों के पढ़ने से हममें बड़ा विभेद उत्पन्न हो जाता है। साधना का विषय है साहित्य। आप वर्णमाला भी चाहे न जानें, आपको एक अक्षर का भी ज्ञान न हो, किन्तु, आपके मुख से कोई वाणी उद्भूत हो और, सम्भव है, आप में का कवि बोल उठे। वह वाणी सबके हृदयों को प्लावित कर देती है, वह पढ़ने या पढ़ाने से प्राप्त नहीं हो सकती, उससे तो इसका कोई सम्बन्ध हो नहीं। साहित्य का सीधा सम्बन्ध साधना से है। साहित्य यदि लिखने की चीज होती तो बहुत बड़ी चीज होती। पर, यदि वह लिखने की ही चीज होती तो मेरे हृदय की चीज नहीं हो सकती। हमारी भावनाएँ आत्मा से निकलती हैं, जहाँ उनका व्यक्तिकरण हुआ वही साहित्य हुआ। जीवन तो उसके बाद की बात है।

जब तक सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति हम में है तब तक हम सुन्दर साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं; यदि नहीं, तो वह व्यर्थ है,—उसमें केवल दो-चार बुद्धिवादी मनुष्य ही आनन्द पा सकते हैं। जीवन से अनपेक्षित होकर साहित्य न ज़िन्दा रहा है, न रह सकता है। जीवन की जितनी समस्याएँ हैं वे हमारे सामने जीवित समस्या के रूप में उपस्थित हों। वाल्मीकि और तुलसी आदि कोई बड़े विद्वान् न थे,—जो साहित्य के धुरन्धर चूड़ामणि कहलाते हैं, उन जैसे विद्वान् न थे, वे तो सन्त थे। वे ही हमारे लिए सुन्दर से सुन्दर साहित्य छोड़ गये हैं और उनका जीवन विश्व के हित के लिए बलिदान हो गया है। हमारा और साहित्य का जो सम्बन्ध रहा है वह किताब का विषय बना हुआ है, जीवन का नहीं। उसी को कुछ जीवित चीज बनाना होगा।

* इन्दोर—‘हिन्दी साहित्य-सम्मेलन’ के भाषण का अंश।

जो विद्वान के लिए भी गूढ़ है वह जनसाधारण के लिए साधारण हो जाता है। जो साहित्य सबसे ऊँचे दर्जे का है वह विद्वान के लिए उतना ही सुन्दर है जितना जनसाधारण के लिए। फिर भी, उसमें इतनी गूढ़ता है कि उसकी सचाई का अन्त नहीं है। भाषा चाहे जैसी हो, भावना और शैली चाहे जैसी हो, व्याकरण की कठिनता भी न हो, किन्तु, वह जीवन की, हृदय की, चीज जरूर हो। वह हमारी कमजोरियों की दीवार में झरोखे पैदा कर दे जिसमें शुद्ध हवा आने-जाने लग जाय। बीमार के लिए स्वच्छ हवा कैसे हानिकारक है? मनुष्य-मनुष्य के बीच में जो दीवारें खड़ी कर दी गई हैं साहित्य उनमें खड़कियाँ खोल देगा। उनके बीच से निकलेगा और वह राजा के बीच हरिजनों और किसानों का चित्रण करेगा। राजा का चित्रण उसी स्वाभाविक रीति से होगा जिससे किसान का भी चित्र प्रतिबिम्बित हो। सब मनुष्य हैं, सब एक हैं,—यही साहित्य का काम है; उसमें चोर को फाँसी देने वाला न्यायाधीश और चोर स्वयं एक हों, सब में ईश्वर हो,—इसी का नाम साहित्य है।

समन्वय करते करते वस्तुओं के प्रति द्वंद्व का भाव नष्ट हो जाय। महात्माजी ने अपने एक रिकार्ड में कहा है कि जो है सो परमात्मा है। फिर यह पाप और पुण्य क्या है? परमात्मा में से पाप कैसे आया? बात यह है कि पाप भी है और पुण्य भी है, फिर भी, पाप के खिलाफ लड़ते रहो। समाधान श्रद्धा से ही मिलता है। इसी स्वर्गीय समाधान में साहित्य की सिद्धि है।

□ □

लेखक के प्रति

यह तत्त्व लेखक बनने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक महाशय को जान लेना चाहिए कि रामचन्द्रजी को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने में ऋषि वाल्मीकि ने अपनी पवित्रतम भावनाएं और उच्चतम विचार और श्रेष्ठतम अंश का दान दिया। वाल्मीकि में जो सर्वोत्कृष्ट है, वही राम है। लेखक की महत्ता यही है कि जो उसमें सुन्दर है, शिव है, सत्य है,—जो उसमें उत्कृष्ट है और विराट् है उसी को वह सबके अर्थ दे जाय। उसे अपना और अपने नाम का मोह न हो, वह अपने आदर्श के प्रति सच्चा हो, स्वप्न के प्रति खरा हो। उसका आदर्श ही अमर होकर विराजे, पूजनीय हो,—इसी में लेखक की संतुष्टि है सफलता और सार्थकता है।

मेरी इच्छा है कि जो लेखक बने वह पाठक को वह दे जो उसके पास अधिक से अधिक मार्मिक है, स्वच्छ है और बृहत् है। □ □

सम्पादक के प्रति

(‘विद्या’ के सम्पादक को)

भाई, आपका पत्र मिला, क्या यह जबर्दस्ती नहीं है कि आप जो माँगें वही मुझे देना हो ? आप कहानी चाहते हैं। तत्त्व को तात्त्विक ही रहने देकर जब उसे व्यवहारगत उदाहरण का रूप दिया जाता है, तब वह कहानी बन जाता है। इसमें उसकी गरिष्ठता कम हो जाती है, रोचकता बढ़ती है। तत्त्व कुछ कठिन, ठोस, वजनदार चीज जंचती है। कहानी की शकल में वही हल्की, रंगीन, दिलचस्प काल्पनिक वस्तु बन जाती है।

पर आपकी ‘विद्या’ उत्कृष्ट कोटि की होने का संकल्प उठाकर आने वाली है। ऐसी हालत में, मैं शिक्षितों और विद्वानों का अपमान नहीं करूँगा, अर्थात्, कहानी नहीं लिखूँगा। और, कुछ ऐसे शब्द ही लिख सकूँगा जो शिक्षितों की शिक्षा के अनुरूप बेरंग हों और भूलें भी सरल न हों।

सच यह है,—दुनियाँ में द्वन्द्व दिखाई देता है। मन में भी द्वन्द्व है, बाहर भी द्वन्द्व है। बाहर के द्वन्द्व को कुछ लोग व्यक्तियों की लड़ाई समझते हैं, कुछ वर्गों और जातियों का संघर्ष मान लेकर अपना समाधान करते हैं। कुछ और विचक्षण लोग उसे सिद्धान्तों की लड़ाई समझते हैं। वे लोग, राजाओं और राजवंशों के कृत्यों की तारीखों से भरे हुए इतिहास को पढ़ पढ़कर, उस में से सिद्धान्त निकालते हैं। इतिहास, उनके निकट, अमुक सिद्धान्त, अमुक तत्त्व के क्रम-विकास को संपन्न करने वाली अतीत क्रिया का नाम है। उस तमाम इतिहास में उनके निकट एक अनुक्रम है, निश्चित निर्देश है, एक तर्क है।

ये सब ठीक हैं; और, जो दुनिया को व्यक्ति के अर्थ रखने वाली मानें वे उनसे गलत क्यों हैं ? जो व्यष्टि को समष्टि के प्रयोजनार्थ समझते हैं वे गलत क्यों हैं ? और वे गलत क्यों हैं जो इतिहास का तमाम तत्त्व इसमें समझते हैं कि हम जानें कि अमुक राजा किस सन् में मरा और फलाँ लड़ाई किस सन् में लड़ी गई ?

सब बात अपनी अपनी भूमिका और अपनी अपनी दृष्टि की है। और जो द्वन्द्व इस घोरता के साथ घट-घट में व्याप रहा है उसे मैं सत्-असत् का द्वन्द्व कहकर समझूँ, इसमें मुझे सुख मिलता है। साहित्य में भी सत्-असत् की लड़ाई है। असत् कहने से यह न समझा जाय कि जिसमें बल नहीं है वह ही असत् है। नहीं। बल्कि, मात्र आँखों से

देखें तो बात उल्टी दीखेगी। क्रोध में जो बल है, शान्ति में कहाँ है ? और हिंसा का प्राबल्य किसने नहीं देखा ? अहिंसा को कौन मानेगा कि वह उससे चौथाई भी प्रबल है ? लेकिन, फिर भी, हम क्रोध को कहेंगे असत्, हिंसा को कहेंगे असत् ।

किसी को असत् कहकर व्यक्ति के ऊपर जिम्मेदारी आ जाती है कि वह सिद्ध करे, अपने आचरण और उदाहरण द्वारा प्रमाणित करे, कि जिसको उसने सत् माना है वह उससे कहीं शक्तिशाली है—अर्थात् क्रोध शान्ति की शक्ति के सामने अपदार्थ है और हिंसा अहिंसा की सात्त्विक शक्ति के आगे सदा ही पराजित है ।

मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि इस सत्-असत् के युद्ध में साहित्यिक सत् के पक्ष में अपने को खपायेंगे; यानी, लिखेंगे तो उस पर आरूढ़ भी होंगे। इस भावना के साथ—

नवंबर १९३४

आपका
अनेन्द्रकुमार



आलोचक के प्रति*

कई बातें जो आलोचक को उलझाती हैं अपनी खातिर इतनी ध्यान देने योग्य नहीं हैं।—उन्हें जल्दी पार कर लें।

पहली बात है भाषा। भाषा पर मैं किसी को रोकना नहीं चाहता हूँ। भाषा है माध्यम,—मन उलझा है तो भाषा सुलझी कैसे बनेगी? इसलिए, भाषा के निमित्त को लेकर भी ध्यान यदि मन का रक्खा जाय, तो क्या उत्तम न हो? मन के भीतर से भाषा का परिष्कार स्थायी होगा। पर, एक कठिनाई भी है। वह यह कि गहन गहराई में उतर कर चलना ऐसा सरल नहीं होता जैसा ऊपर मैदान में चलना। लिखना क्यों है? अपने भीतर की उलझनों को खोलने के लिए ही तो वह है।—वहाँ भीतर बड़ी अँधेरी गलियाँ हैं,—वहाँ प्रकाश हो जाय तो बात ही क्या? इससे, वहाँ पैठकर राह खोजने वाले की गति कुछ धीमी या कुछ दुर्बोध या चकरीली-सी हो जाय तो क्षम्य मानना चाहिए। यह उसके लिए गर्व की बात नहीं है, लाचारी की बात है।

आलोचक को एक नई कृति में भाषा के प्रयोग कहीं कुछ अनहोने से लगेंगे ही। ऐसा न होना चिंता का विषय हो सकता है, होना तो स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। उसकी वह अद्वितीयता खुरचकर मिटाने से भी बाहर से और भीतर से नहीं मिट सकती। राह यही है कि विनम्र भाव से उस अद्वितीयता के साथ समझौता कर लिया जाय। उससे विरोध नहीं ठाना जा सकता। परन्तु, भाषा के प्रयोग मनमाने हों और चौंकाने के लिए हों तो बुरा है। पाठक को चौंकाये, इसमें तो लेखक का अहित ही है,—चौंकाकर वह किसी को अपना मित्र नहीं बना सकता। फिर भी, यदि चौंका देता है तो उसे क्षमाप्रार्थी भी समझिए,—इसे अकुशलता का परिणाम मान लेना चाहिए। अगर, अपनी ओर से कहूँ कि वह आग्रह का परिणाम नहीं है, तो पाठक को इसे असत्य मानने का आग्रह नहीं करना चाहिए।

भाषा पर मैं क्वचित् ही ठहरता हूँ। राह दीर्घ है, यहाँ ठहरना कहाँ? जब ठहरने का अवकाश नहीं है तब सोच-विचार कहाँ से हो कि भाषा को ऐसा बनाओ अथवा ऐसा न बनाओ। बनाने से भाषा के बिगड़ने का अंदेशा है। सोचकर चलने से

* 'मुनीता' की आलोचना करने वाले आलोचकों को लक्ष्य करके लिखा गया।

भाषा पर व्यक्ति का अहंकार लद जाता है। यों भाषा बढ़िया भी लगे, पर, कृत्रिम हो जाती है। बढ़िया-घटिया तो फैशन की बातें हैं। फैशन बदलता रहता है। बढ़ियापन का लालच पाकर मैं कृत्रिम भाषा पाठक को कैसे दूँ? यदि मैं पूर्ण तरह परिष्कृत नहीं हूँ तो यह मेरा अपराध है; पर; जो हूँ वही रहकर मैं पाठक के समक्ष क्यों न आऊँ? बन-ठनकर कैसे आऊँ? पाठक का तिरस्कार मुझे सह्य होगा; पर, पाठक को धोखे में मैं नहीं रखूँगा। यह विश्वास रखना जाय कि मैं सुगम होना चाहता हूँ, क्योंकि, पाठक से घनिष्ठ और अभिन्न होना चाहता हूँ।—साधारण और स्वच्छ रहना चाहता हूँ, क्योंकि, अपने और सबके प्रति संभ्रमशील रहना चाहता हूँ। दर्प दयनीय है। तब, मैं भला किस की रुचि को चुनौती देने की ठानूँ?

एक बात और भी। किताबों में प्रेस की भूलें भी होती हैं। वे ऐसी दक्षता से किताब में अपनी जगह बना लेती हैं कि बति सावधान पाठक भी उन्हें नहीं पकड़ सकता। वे वहाँ वाक्यों के बीच में जम बैठती हैं और मनमानी करती हैं। दूसरे यह, कि हिंदी में पंचकुण्डल किसी निश्चित और अनुकूल पद्धति पर अभी नहीं जम पाया है। उसे स्थिर होना चाहिए। भाषा को बश में लाने के लिए वह आयुध हिन्दी में अभी पूरा काम नहीं देता।

फिर यह, कि प्रत्येक परिचय में कुछ नवीनता होती है। परिचय की प्रथमता धीरे-धीरे जब दूर होगी तब भाषा के पहनावे पर ध्यान गौण होता जायगा,—उसकी आत्मा के साथ घनिष्ठता बढ़ेगी। यहाँ घबराहट उचित नहीं है; क्योंकि, पहनावा ही आदमी नहीं है, अतः, वह वृत्ति भली नहीं है जो नवीनता को शनैः शनैः पक कर अपने साथ घनिष्ठ नहीं होने देना चाहती।

अपने लेखन-काल में पाठक की हैसियत से मैंने एक बात सीखी है। वह यह कि जगत् के प्रति विद्वान् बनकर रहने से कुछ हाथ नहीं लगता। जो पाना चाहता हूँ वह, इस भाँति, कुछ दूर हो जाता है। जगत् के साथ विद्वत्ता का नाता मीठा नाता नहीं है। विद्वान् के निकट जगत् पहेली हो जाता है,—जगत् अज्ञेय बनता है, और विद्वान्, उसी कारण, उसे स्पर्धा-पूर्वक ज्ञेय-रूप में देखता है। फलतः, विद्वान् में एक रसहीन कुण्ठा और धारदार आग्रह पैदा होता है। जगत् उसके लिए प्रेम की और आनन्द की चीज नहीं हो पाता। विद्वान् प्रत्याशा बाँधता है कि जगत् उसकी शिखरी में,—उसके 'बाब' में, चौखूँट बैठ जायगा; पर, ऐसा होता नहीं और विद्वान् अपनी प्रत्याशाओं में विफल अतः जगत् के प्रति रूक्ष और रुष्ट रहता है। विद्या-गर्व के ऊपर जीवन जीने की यह पद्धति सम्पूर्ण नहीं है।—यह सच्चिदानन्द की ओर नहीं ले जाती।—उपलब्धि की यह राह नहीं। अपना एक 'कोड' बना लिया जाय और दुनिया के प्रति अधीर और असन्तुष्ट रहा जाय कि वह क्यों सीधे तौर पर उस 'कोड' में बँधकर नहीं बैठती है,—ऐसे क्या मिलेगा? इस मनोवृत्ति में सुधार का नशा मिल सकता है, पर, किसी हित अथवा किसी विद्या की अभिवृद्धि इस भाँति कठिनता से ही हो सकती है।

इस वृत्ति से पाठक बचे तो ठीक । उसे रसग्राही वृत्ति चाहिए । वह अपने को खुला रखे,—जमकर निर्जीव बन गई हुई धारणाएँ अपने पास न रखे । विद्वत्ता का बोझ बोझ ही है । उससे जीवनानन्द के प्रति खुले रहने की शक्ति ह्रस्व होती है ।

मैंने अपने सम्बन्ध में पाया है कि जब जब चीज को स्पष्टपूर्वक मैंने अधिकृत कर लेना चाहा है, तभी तब मेरी दरिद्रता ही मुझे हाथों लगी है । और जितना मैंने अपने को किसी के प्रति खोलकर बहा दिया है उतना ही परस्पर के बीच का अन्तर दूर हुआ है और एकता प्राप्त हुई है । ऐक्य-बोध ही सबसे बड़ा ज्ञान है, और तब से मैंने जाना है कि आत्मार्पण में ही आत्मोपलब्धि है, आग्रह-पूर्ण संग्रह में लाभ नहीं है ।

एक और तत्त्व ज्ञातव्य है ।—कुछ भी, कोई भी, अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं है । कोई कथन अपने शब्दार्थ में और कोई घटना अपने सीमित अर्थ में सार्थक नहीं होती । सबका अर्थ विस्तृत है,—वह अर्थ निरसीम में पहुँचने के लिए है ।—उसी ओर उसकी यात्रा है । इससे, सब-कुछ मात्र संकेत रूप में,— इंगित रूप में, ही अर्थकारी है । समग्र से टूटकर अपने खंडित गर्व में वह निरर्थक रह जाता है । निरर्थक ही क्यों,— इस भाँति वह अनर्थक भी है । इसलिए, प्रत्येक विवरण को, जहाँ तक हो वहाँ तक, मूल जीवन-तत्त्व के साथ योग्युक्त देखना होगा ।

पुस्तक में भी यही बात है । हर बात वहाँ पात्र की मनोदशा की अपेक्षा में आशय-युक्त बनती है । पात्र की मनोदशा को व्यक्त, अर्थात् पुस्तकगत जीवन-तत्त्व को उद्घाटित, करने के लिए जो आवश्यक नहीं है वह वर्णन परिह्राय है । ऐसा मोह न लेखक को भला, न पाठक को उचित । 'यह और भी लिख दूँ,—कैसा अच्छा आइडिया है !— अरे ! आगे क्या हुआ ? फिर क्या हुआ ? हमें यह लेखक ने बीच में कहाँ छोड़ दिया !'—इस तरह की बातें मोहजन्य हैं । अपने-आप में कुछ उल्लेखनीय नहीं हैं । जो सर्वांशतः पुस्तक के प्राण के प्रति समर्पित और सम्मुख नहीं है वह वर्णन बहुमूल्य होने पर भी त्याज्य बनता है । ऐसे बाह्य वर्णन पर लेखक अपनी लुब्ध दृष्टि कैसे डाल सकता है ? इस भाँति, स्पष्ट है कि, बड़ी से बड़ी वस्तु भी अनुपयोगी और छोटी से छोटी घटना भी व्यक्ति और ग्रंथ के जीवन में विराट्-आशय बन सकती है । तुच्छ इस सृष्टि में कुछ भी नहीं; किन्तु, यह सृष्टि इतनी अछोर, अपार, अनंत है कि यहाँ बड़ी से बड़ी चीज भी अपने आपके गर्व में उपहासास्पद हो जाती है ।

यहाँ साहित्य की मर्यादा भी हम समझें । पुस्तक में और हमारी आँखों के सामने के ठोस जगत में अन्तर है । पुस्तक दर्पण नहीं है । साहित्य ज्यों का त्यों बाज़ारी दुनिया के प्रतिबिम्ब को अंकित करने के लिए नहीं है । इस दृष्टि से साहित्य विशिष्टतर है,— यह विशिष्टता उसकी मर्यादा भी है । साहित्य के नायक और पात्र दुनिया के आदमी की तुलना नहीं कर सकते । यहाँ दीन-हीन आदमी भी मन-भर से ऊँचा तुलता है और पुस्तकों के महापुरुष मिलकर भी तराजू में फूँक जितने भी नहीं तुल सकते । फिर भी, वे सत्यतर हों, तो यह कम सत्य नहीं है ।—इस अन्तर को खूब समझ लेना चाहिए । पुस्तक

के पात्र अशरीरी होते हैं,—हमारी भावनाएँ ही हैं उनका शरीर।—यों एक ही दम सामाजिक मनुज से वे अतुलनीय हो जाते हैं। वे नहीं दीख सकते, क्योंकि, जड़ शरीर उनके पास नहीं है। फिर भी, वे सतत रूप से हमारे सामने हैं, हमारे भीतर हैं और अमर हैं,—ठीक इसीलिए कि वे पंच-भूतजड़ित नहीं हैं। उनका अस्तित्व मानसिक है, उनका जीवन तर्क हमारी जीवन-नीति से भिन्न है, वह और ही तल पर हैं और हमारे मनोविज्ञान-शास्त्र का बंधन उन पर नहीं है। हमारी संभव-असंभव की मर्यादा भी उन पर लागू नहीं है। वे हमारी ही कृति हों और हैं, पर, हमसे कहीं चिरजीवी सूक्ष्मजीवी हैं। वे हमारी Rarefied वृत्तियाँ हैं जो हमारे भीतर घिरी नहीं हैं, बाहर भी नहीं हैं। देखा जाय, तो भीतर और बाहर से हम ही उनमें घिरे हैं। साहित्य में भूत हो सकते हैं और परियाँ भी हो सकती हैं। वहाँ चर-अचर, मानव-अमानव, समाज और प्रकृति, देवता और दैत्य,—सब हो ही नहीं सकते प्रत्युत सब आपस में एक-एक भी हो जा सकते हैं। गूंगी पृथ्वी अपनी सूनी, फटी, तप्त आँखों से ताकेंती रहकर काले रोप से घुमड़ते हुए बिजली से भरे आसमान में से झर-झर आँसू खींच ला सकती है और उस आदमी को अपनी अथाह करुणा में क्षमा कर सकती है जो इन आँसुओं में झरती पीर को बस, बारिश कहकर विद्वान् बना बैठा है। वहाँ समन्दर की मछली उड़कर सातवें आसमान में बैठे परमात्मा के पास भी फरियाद ले जा सकती है और न सुनने पर घोषणा कर सकती है कि परमात्मा दयालु नहीं है।—यह सब कुछ हो सकता है। जो अपनी विज्ञान की खोज में सच्चा है, वह जानता है कि मानव परिमित है, पंगु है। वह जानता है कि जो 'मानवीय' है झूठ है, और झूठ का सहारा लेकर ही बेचारा मानव सत्य की ओर बढ़ सकता है। समस्त ज्ञान छल-ज्ञान है। यहाँ सत्याभिमुखता ही सत्य है।

आशय मेरा, भूत की बढ़ाई से पाठक को आतंकित करना नहीं है। सीमित धारणाओं में से उठाकर पाठक को असीमित में पटक देने जैसी भी इच्छा नहीं है। हमारा वहाँ वश भी नहीं। उद्दिष्ट मात्र यह दिखाना है, कि हम अपनी सीमितता सत्य पर जब ओढ़ाते हैं तब मानो अपनी ही तुच्छता स्वीकार करते हैं। यदि हम असीम को और अरूप को स्वरूपवान् बनाकर ही हृदयंगम कर सकते हैं, तो अवश्य ऐसा करें। ऐसा करे बिना गति कहाँ ? पर, हमारा सब-कुछ मात्र इस प्रतीति के पारस-स्पर्श से स्वर्ण बन जाता है कि हममें अव्यक्त ही व्यक्त हो रहा है, हमारे ज्ञान-विज्ञान की यात्रा अज्ञेय की ओर है। यह प्रतीति नहीं तो हमारा सब-कुछ मिट्टी ही है।

इसी से जिज्ञासा एक वस्तु है स्वप्न और। साहित्य मर्यादा-हीनता नहीं है, जिज्ञासा संशय नहीं है। पुस्तक के पानों में उनकी अपनी ही एक एक मर्यादा होती है। उनका तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है। मनोविज्ञान की किसी प्रवेशिका में से उनका नियामक नियम नहीं निकाला जा सकता। यदि पुस्तक के चरित्र हमारी इस दुनिया के आदमियों के अनुरूप चलते दीखते हैं तो इस हेतु नहीं कि वैसी अनुरूपता उनका लक्ष्य है, प्रत्युत, केवल इसलिए कि उस अनुरूपता के सहारे लेखक अपने को

दुनिया के उन लोगों के निकट और उन्हें अपने निकट पहुँचाना चाहता है। किन्तु, साहित्य की प्रेरणा आदर्श है। जब तक वह है (और वह तो सर्वथा सनातन है), तब तक चरित्र आदर्शानुगामी होंगे, जगदनुगामी नहीं भी हो सकते हैं। उनका हक है कि वे सामान्य पथ पर न चलें, सामान्यतया साधारण न हों, किसी भी परिचित पद्धति का समर्थन न करें और दुस्साहसिक होकर भी उद्धवगामी बनें।

इस स्थल पर वे शब्द दोहराये जा सकते हैं जो 'सुनीता' पुस्तक की प्रस्तावना में आ गये हैं; वे बहुत काम के मालूम होते हैं।

“...पुस्तक में रमे हुए लेखक को जैसे चाहो समझो, किसी पात्र में वह अनुपस्थित नहीं है और हर पात्र हर दूसरे से भिन्न है। पात्रों की सब बातें लेखक की बातें हैं, फिर भी, कोई बात उसकी नहीं है; क्योंकि, उसकी कहाँ?—वह तो पात्रों की है। कहानी सुनाना लेखक का उद्देश्य नहीं। (उन सबका नहीं जो अपने साहित्य में जीवन-लक्ष्यी हैं।) इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर चित्र बनाया जा सकता है। उस खण्ड में सत्य के दर्शन पाये जा सकते हैं और उस चित्र में उसके दर्शन कराये भी जा सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है।...थोड़े में समग्रता को दिखाना है...”

असल बात उस झाँकी को देना और लेना है जिसको लेकर अक्षर शब्द में लो गये हैं,—शब्द वाक्यों में और वाक्य पुस्तक के प्राणों में। अपने आप में वाक्य भी निरर्थक है, शब्द भी निरर्थक हैं, अक्षर भी निरर्थक हैं। वे अपने में गलत भी नहीं हो सकते, सही भी नहीं हो सकते। वे वही हो सकते हैं जो हैं; और वे मात्र जड़ हैं। उनकी सार्थकता उस जीवन-तत्त्व के वाहन होने में है जिसकी सेवा में वे नियोजित हैं।

वह जीवन-तत्त्व मनोविज्ञानिक नहीं है। वह व्यवहार सिद्ध नहीं, लोक-स्वभाव से घिरा नहीं। वहाँ हमारा ज्ञान-विज्ञान लय होता है, जैसे नदियाँ समुद्र में लय हो जाती हैं। वही इन सबको फिर पोषण भी देता है, पर, वह इन सबसे अतीत है, इनकी रक्षा के दायित्व से वह परिबद्ध नहीं है, क्योंकि, वह तो उनकी आत्मा है।

पुस्तक के भौतिक विवरण भी इसी भाँति स्वाधीन समझे जावें जैसे सजीव पात्र। पुस्तक का हरिद्वार (प्रेमचंद की 'कर्मभूमि' का) भूगोल वाला हरिद्वार नहीं है। ह्यूगो का पैरिस फ्रांस से अधिक ह्यूगो का है। वह नकशे में नहीं हो सकेगा, क्योंकि, वह ह्यूगो के मन में ही होने लायक था। किन्तु नामों में क्या है? पैरिस का वर्णन देने वाली हर कोई पुस्तिका तो अपने लेखक को ह्यूगो नहीं बना दे सकती। इससे, उचित है कि, पाठक इन पर अटके नहीं। इस प्रकार की स्थान-रूप की प्रामाणिकता कोई बहुत अंतिम वस्तु नहीं है।

ये ऊपरी बातें हैं। वैसे त्रुटियाँ तो होती ही हैं। कहाँ वे नहीं होती? खंडित करके देखा गया चित्र धब्बों के अतिरिक्त क्या दीखेगा? प्रत्येक लेखक अपने लेख में वर्कमैनशिप की ऐसी अनेक भूलों को आलोचक के हाथों स्वयं गिरफ्तार करा दे सकता

है। सच पूछा जाय तो इस दृष्टि से सब-कुछ भूल ही है। ठीक Perspective पास न हो तो कौन चित्र असुन्दर नहीं है ? पर, इस प्रकार की त्रुटियाँ लेखक की चिन्ता का विषय नहीं हैं। आलोचक के लालच का विषय भी उन्हें नहीं होना चाहिए। जिसके लिए आलोच्य विषय कलेवर है, लेखक का हृदय उसकी ओर भूखी निगाहों से देखता रह जाता है। कलेवर के भीतर से तो भाँक हृदय रहा है। वह हृदय अपनी स्वीकृति चाहता है, वह अपने को पहिचनवाना चाहता है। जो कलेवर लेकर उसी के साथ शल्य-क्रिया करते और हृदय को छूछा समझ छोड़ देते हैं, उनको कृतज्ञ दृष्टि से देख सकने के लिए वह हृदय तरसता ही रह जाता है।

एक आलोचक ने रविबाबू के 'घर और बाहर' का जिक्र किया। मुझे इससे खुशी हुई। दिन हुए मैंने वह पुस्तक पढ़ी थी। तब मेरा लिखना आरम्भ न हुआ था। मुझे अब भी उसकी याद है। वेशक जो 'घर और बाहर' में है वही 'सुनीता' में भी है।—वही समस्या है। अनजाने ऐसा नहीं हो गया है, जान-बूझकर ऐसा हुआ है। किन्तु, 'घर और बाहर' की समस्या रविबाबू की समस्या तभी तो बनी, जब कि वह जगत् की समस्या है। उसे उस रूप में रविबाबू से पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया, और पीछे भी लोग लेंगे। जग की केन्द्रीय समस्या को व्यक्ति-हृदय की परिभाषा में रखकर जब भी देखा और सुलझाया जायगा, तब उसका वही रूप रहेगा।

समस्या सदा तिखूट है। जगत् में मूल पक्ष दो हैं—'स्व' और 'पर'। 'स्व', यानी 'मैं'। 'मैं', अर्थात् भोक्ता और ज्ञाता। 'पर' अर्थात् भोग्य और ज्ञेय। अपने को भोक्ता मानकर अपनी भोग्य बुद्धि के परिमाण के अनुसार 'मैं' 'पर' को फिर दो भागों में बाँट डालता हूँ—पहला जो मेरा है, दूसरा जो मेरा नहीं है। इसी स्थान पर समस्या बन खड़ी होती है। जिसे 'मेरा' माना उस पर मैं कब्जा चाहता हूँ, जो 'मेरा' नहीं है उससे विरोध ठानता हूँ। इस भाँति, 'मैं' जीता और बढ़ता हूँ—यही जीवन की प्रक्रिया है।

असल में 'स्व' और 'पर' का विभेद माया है। जीवन की सिद्धि उनके भीतर अभेद-अनुभूति में है। पर अभेद कहने ही से तो संपन्न नहीं हो जाता,—उसी के लिए है साधना, तपस्या, याग-यज्ञ। जाने-अनजाने प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धि की ओर बढ़ रहा है। कुछ लोग वस्तु-जगत् को अपने भीतर से पाना चाहते हैं, दूसरे उसे बाहर से भी ले रहे हैं। संसार में इस प्रकार की द्विमुखी प्रवृत्तियाँ देखने में आती ही हैं जिन सबके भीतर से 'स्व' विशद ही होता चलता है,—'मेरा' का परिमाण संकीर्ण न रहकर विस्तृत ही होता है। जितना वह 'मैं' विशद और विस्तीर्ण होता है, अहंकार के भूत का जोर उस पर से उतना ही उतरता जाता है।

'मैं' और 'मेरा' इन दोनों को मिलाकर व्यक्ति अपना घर बनाता है। उस घर में व्यक्ति अपना विसर्जन देता और शेष विश्व से आहरण करता है।—दुनिया में से कमाता है, घर में खर्च करता है; जगत् से लड़ता है, घर की चौकसी करता है; संसार पर अपनी शक्ति का परीक्षण करता है, घर में प्रेम का आदान-प्रदान। घर उसके लिए हाट

नहीं है। इस 'घर' का ही नाम विकास-क्रम से परिवार, नगर, समाज, जाति, राष्ट्र आदि होता है।

इसलिए, अगर समस्या को आब्जेक्टिव विज्ञान की राह से नहीं सब्जेक्टिव कला और हृदय की राह से अवगत और आयत्त करना है, तो उसका यही तिखूँट रूप होगा—
मैं, मेरा, मेरा नहीं।

अब यहाँ एक और भी तत्त्व है जिसे मैं अपना मानता हूँ; अर्थात्, मेरी संपत्ति, मेरी चीज आदि,—वह भी अपने आपमें अहंशून्य नहीं है। उसमें भी सब्जेक्टिविटी है। फिर भी, जो अंश मेरा बन चुका है उसकी सब्जेक्टिविटी कुछ अनुगत हो गई हुई है। इसी से, समस्या के चित्रण में मानव-सम्बन्धों की अपेक्षा 'मेरा' का प्रतीक बन जाती है पत्नी। पत्नी घर का केन्द्र है। वह 'मेरी' है पर स्वयं भी है, अनुगत है पर जड़ पदार्थ नहीं है,—सहृदय है और उसमें भी व्यक्तित्व है।

इन स्वामी और पत्नी के साथ ही, किसी कदर उनके बीच में, आता है तीसरा व्यक्ति जो 'पर' का प्रतीक है। वह भी एकदम अपरिचित नहीं है (अपरिचित कैसे हो सकता है भला ?) प्रत्युत स्पृहणीय है, और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रबल है।

कवि रवीन्द्र ने 'घर' में 'बाहर' का प्रवेश कराया। 'घर' इससे विक्षुब्ध हो उठा है। वहाँ 'बाहर' संदीप के रूप में अनिमंत्रित है पर प्रबल है। 'घर' की विक्षुब्धता महन होती जाती है; मानो, 'बाहर' के धक्के से घर टूट जायगा। 'बाहर' का धक्का दुर्निवार है, सर्वग्रासी है। समस्या घोरतर से घोरतम होती जाती है। तब क्या होता है ?—तब कुछ होता है जिससे समस्या बन्द हो जाती है। संदीप पलायन कर जाता है। पत्नी मुड़कर पति के प्रति क्षमाप्राथिनी बनती है और फिर पत्नीत्व में अधिष्ठित होती है। एवं, मानो तय होता है कि, 'घर' को 'बाहर' के प्रति निरभिलाषी विमुख होकर ही बैठना होगा।

'कवि' की लेखनी की समता ही क्या ! वह अनुलनीय ही है। पर मेरे मन को समाधान नहीं मिला। 'घर' अपने आप में अपने को 'बाहर' के प्रति दुष्प्राप्य और प्रतिकूल बनाकर बैठे और उस 'बाहर' को सर्वथा बहिष्कृत और विरुद्ध बनाये रखे,—क्या यह समाधान है ? क्या यह सिद्धि है ? यहाँ अभेद कहाँ है, यहाँ तो भय है। प्रेम कहाँ है, यहाँ तो अप्रेम भी है।—ऐसा हो तब तो समस्या ही क्या हुई ! ऐसा कुछ समाधान क्या चिर-प्राप्त अहंसिद्ध कंजर्वेटिव समाज-नीति में से भी नहीं प्राप्त हो सकता ?

सो, मन के इस तरह के असंतोष का भी 'सुनीता' के जन्म में प्रभाव है। मैंने 'सुनीता' में अपनी बुद्धि के अनुसार दुस्साहसपूर्वक भी समस्या को ठेलकर आगे बढ़ाया है। मैंने इसमें अपने को बचाया नहीं है और वहाँ तक मैं उसके साथ चला हूँ जहाँ तक समस्या ने चलना चाहा है।

क्या 'सुनीता' का 'घर' टूटा है ? नहीं, वह नहीं टूटा। क्या उस 'घर' को 'बाहर'

के प्रति वन्द किया गया है ? नहीं, ऐसा भी नहीं। दोनों में से कौन किसके प्रति सहानुभूति से हीन है ? शायद कोई भी नहीं।

दोनों शाश्वत रूप में क्या परस्परापेक्षाशील नहीं हैं ?

मैंने, चुनांचे, समस्या के रूप में भी कुछ भिन्नता देखी और रखी है 'बाहर' को निरे आक्रमण के रूप में मैंने 'घर' के भीतर नहीं प्रविष्ट किया। हरिप्रसन्न (पुस्तक में वही 'बाहर' का प्रतीक पुरुष है) किञ्चित् प्रार्थी भी है। वह निरा अनिमंत्रित वहाँ नहीं पहुँचा, प्रत्युत् वहाँ मानो उसकी अभीष्टता है। उसके अभाव में 'घर' एक प्रकार से प्रतीक्षमान है। वहाँ अपूर्णता है, वहाँ अवसाद है,—मानो उस 'घर' में 'बाहर' के प्रति पुकार है। इधर हरिप्रसन्न स्वयं अपने आप में अधूरेपन के बोध से मुक्त नहीं है; और वह जैसे एक प्रकार के उत्तर में और एक नियति के निर्देश से ही एक रोज अनायास 'घर' के बीच में आ पहुँचा है। पहुँच कर वह वहाँ स्वत्वारीपी लगभग है ही नहीं। अपने से विवश होकर ही जो है सो है।

कवीन्द्र का 'घर' भिन्न है और 'बाहर' भी भिन्न है। वह 'घर' आत्म-तुष्ट-सा है, मानो 'बाहर' उसके निकट अभी अनाविष्कृत है। 'बाहर' का आगमन वहाँ एक रोज अप्रत्याशित अयाचित घटना के रूप में होता है। वह संदीप मित्र है; पर, यह मित्रत्व उसके व्यक्तित्व का अप्रधान पहलू है। मानो मित्र होना उसे मात्र सहा है। वह आग्रहशील है, अधिकारशील है,—मानो सहानुभूतिशील है ही नहीं। घर की रानी का संदीप की ओर खिचना स्पष्ट गिरना है। जैसे संदीप अहेरिया है, जाल फैलाता है, और मक्खी फँसने को ही उस ओर खिच रही है। संदीप इस तरह कुछ अति-मानव,—अप-मानव हो उठता है।

तदनुकूल भिन्नता सुनीता और कवि की मधुरानी में भी है। मधुरानी बीच में मानो स्वलन-मार्ग पर चलकर अन्त में प्रायश्चित्तपूर्वक पति-निष्ठा में पुनः प्रतिष्ठित होती है। संदीप का गर्व खर्व होता है और मधुरानी को मोह-निद्रा भंग होती है। संदीप के लिए पलायन ही मार्ग है; क्योंकि, मधुरानी अब पति-परायणा है।

सुनीता को पतिपरायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थल पर नहीं हुई है कि प्रायश्चित्त का सहारा उसे दरकार हो। पति में उसकी निष्ठा उसे हरिप्रसन्न के प्रति और भी स्नेहशील और उद्यत होने का बल देती है। आरम्भ से उसकी आँख खुली है और अन्त तक जो उसने किया और उससे हुआ है, उसमें वह मोह-मुग्ध नहीं है। आरम्भ से वह जागरूक है और कहीं गृहिणी-धर्म से च्युत नहीं है। उस 'घर' में अन्त तक इतना स्वास्थ्य है कि हरिप्रसन्न को हठात् स्मृति से दूर रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत्, हरिप्रसन्न के प्रति सदा वह 'घर' अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रक्खेगा।

असल में 'घर' और 'बाहर' में परस्पर सम्मुखता ही मैं देखता हूँ। उनमें कोई सिद्धान्तगत पारस्परिक विरोध देखकर नहीं चल पाता।

रवीन्द्र कवि है। अपनी भाव-प्रवणता में मानव को उसके मानवीय कॉन्टेक्स्ट से उठाकर उसे अतिमानुषिक बना देने की उनमें क्षमता है। यह उनकी शैली की विशेषता है। यह उनकी दक्षता उपन्यास-पाठक के बूते से बड़ी चीज भी हो सकती है। नित्य नैमित्तिक जीवन के दैनिक व्यापार की संकीर्णता से कवि के उपन्यास का पात्र सहज उत्तीर्ण है। दुनिया के घरातल से उठकर कवि के हाथों वह दार्शनिक भावनाओं के घरातल पर जा उठता है। वहाँ उसके लिए विचरण अधिक बाधाहीन और उसकी संभावनाएँ अधिक मनोरम बनती हैं।

पर, हर किसी को वह सामर्थ्य कब प्राप्त है? उपन्यासकार को तो कदाचित् वह अभीप्सित भी नहीं। 'सुनीता' के पात्रों के पैरों को मैं इस वरती के तल से ऊँचा नहीं उठा सकता। न वहाँ मेरी क्षमता है, न कांक्षा है। फिर भी, मैं उनके मस्तक को धूल में नहीं लोटने दूंगा, — वे आसमान में देखेंगे। इस दृष्टि से सुनीता के पात्रों का बनना असाधारण भी हुआ है। फिर भी, उनके चित्रण में साधारणता के सम्मिश्रण की कमी नहीं है। इससे 'सुनीता' पुस्तक अतिशय भावनात्मक नहीं हो सकी, — उसके अवयवों में पर्याप्त मात्रा में स्थूल साधारणता है।

खैर, वह जो हो। याद रखने की बात है कि हमारा ज्ञान आपेक्षिक है। वह अपूर्ण है। जगत् की विचित्रता उसमें कहाँ अमाती है? अपने को मानव कब पूरा जान सका है? जानने को शेष तो रह ही जायगा। इसलिए, सदा वह घटित होता रहता है जो हमारे ज्ञान को चौंका देता है। Truth is Stranger than Fiction के, नहीं तो, और माने क्या हैं? Truth को क्या यह कहकर बहिष्कृत करें कि वह ज्ञात नहीं है? तब फिर बढ़ने के लिए आस क्या रखें? जीवन की टेक किसे बनावें?

आलोचक के समक्ष मैं नत-मस्तक हूँ। सविनय कहता हूँ कि 'जी हाँ, मैं त्रुटिपूर्ण हूँ। आपको संतोष नहीं दे सका इसके लिए अमाप्राथी हूँ। शायद, मैं आप की चिन्ता के योग्य नहीं हूँ। पर जब आप जज हैं, तब अभियुक्त बने ही तो मुझे गुजारा है। क्या हम दोनों बराबर आकर मिल नहीं सकते? मान लीजिए कि आप जज नहीं हैं, और भूल जाते हैं कि मैं अभियोगी हूँ, तब उस भाँति क्या आदमी आदमी की हैसियत से हम एक-दूसरे को ज्यादा नहीं पायेंगे? मैं जानता हूँ, जज की कुर्सी पर बैठकर अभियुक्त को कठघरे में खड़ा करके उसके अभियोग की छान-बीन का काम करने में आपके चित्त को भी पूरा सुख नहीं है। तब क्या चित्त का चैन ऐसी चीज नहीं है कि उसके लिए आप अपनी ऊँची कुरसी छोड़ दें? आप उस कुरसी पर मुझे इतने दूर, इतने ऊँचे, हो जाते हैं कि मैं संकुचित होता हूँ। आप जरा नीचे आकर हाथ पकड़कर मुझे ऊपर तो उठावें, और फिर चाहे भले ही कसकर दो-चार फ़िड़कियाँ ही मुझे सुनावें। क्योंकि, तभी मेरे मन का संकोच दूर होकर मुझे हर्ष होगा। और तब, आप पायेंगे कि और कुछ भी हो, मैं आपका अनन्य ऋणी बना हूँ।'

जीवन और साहित्य

भाइयो,

आपके सामने मैं साहित्य के कानूनों को नहीं गिनाना चाहता। बहुत-सी किताबें यह काम करती हैं, लेकिन, कानूनों के आसरे चलकर आप साहित्य की असली चीज को नहीं पा सकते। इसलिए, सबसे पहले मैं कहना चाहता हूँ कि आप मेरे विचारों को मेरे विचार ही समझें,—किसी तरह की प्रामाणिकता उन्हें न दें। वैसे, किताब की बातें भी तभी सच होती हैं जब कि उनके पीछे आपकी अनुभूति भी हो, आपका दिल गवाही दे।

ताकत बदलती रहती है। आज जो बड़ा है वह पचास वर्ष की दूरी पर क्षुद्र हो जाता है। अज ईसा बड़ी शक्ति है, लेकिन, अपने जमाने में उसकी मान्यता नहीं थी, यहाँ तक कि दुनिया को लाचार होना पड़ा था कि उसे सूली दे दे। उस समय के पैमाने ने हमें यह भी बताया कि वह नाचीज है, लेकिन, आज के पैमाने से हम देखते हैं कि हम उसे पूजा ही दे सकते हैं। सत्य अन्तिम नहीं है। हम उस पर आपत्ति (=question) करते हैं,—जब हमें दीखता है कि हम इतने बड़े संसार में छोटे-से हैं हम सोचते हैं कि हम मर क्यों न गये ? लेकिन, हमारा छोटापन ही हमें जिन्दा रखता है,—हमारी इच्छाएँ और हमारा ज्ञान भी बन्धन है पर वह हमें जीता रखता है। हमें ज्ञान में हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अज्ञानी हैं।

बाहिरी ऊँच-नीच को देखकर हम दम्भ करने लगें या अपने को छोटा अनुभव करें, तो यह गलत चीज है। हमें सीमाओं से ऊपर उठना है। विभाजन एक तरह से जरूरी है,—हमारी लाचारी है, लेकिन, अगर हम उसमें एकता को भूल जाते हैं तो वह एक क़ैद हो जाती है।

हमारी असमर्थताएँ और सीमाएँ हमें बाध्य करती हैं कि हम समाज में दजों को,—श्रेणियों को देखें,—उनका अनुभव करें। इतना तो हम सीख गये हैं कि समय मात्र बड़ा-छोटा नहीं बनता, पर, जो अंग्रेजी पढ़-लिख सकता है वह बड़ा माना जाता है और स्वयं भी अपने को बड़ा मानता है; क्योंकि, वह कहता है कि मैं पैसे के जोर से नहीं, अक्ल के जोर से ही, बड़ा बना हूँ। यह भी दम्भ ही है। हमें एक-दूसरे को विशिष्टता देकर भी बराबर ही रहना है और हम रह सकते हैं।

आप कह सकते हैं कि यह सपना है,—हमारी वास्तविक दुनिया में ऐसा नहीं है।

४२ :: जैनेन्द्र के विचार

यह ठीक है कि ऐसा मानना भी दम्भ हो सकता है। मैं आपसे नहीं कहता कि आप वास्तविक जीवन में ऐसा समझिए। यहीं पर साहित्य का काम आता है। हमारे जीवन के पैमाने साहित्य में काम नहीं करते। एक गरीब हमारे पास से निकल जाता है, उसे देखकर हम नहीं पिघलते, लेकिन, साहित्य हमें उस पर रुला सकता है। इससे भी आगे, वह हममें इस समस्या की जड़ खोदने की इच्छा भी पैदा करा सकता है। इस प्रकार, हमारे मौलिक असाध्य (= Unbalance) को वह दूर करने की प्रेरणा देता है। साहित्य में हमारे विद्वेष और दम्भ दूर होते हैं। साहित्य वह चीज है जो हमें इस फ़र्क के नीचे एकता देखने को बाध्य करती है और हमें शांति दिलाती है,—वह उस गहरी भीतरी सच्चाई को दिखाती है जो बाहरी सच्चाई के नीचे है।

दूसरी बात जिस पर कि साहित्य का असर है,—वह है हमारा घर। घर क्या है? पहले घर होते थे तो उसका मतलब होता था कि लोग अपने को घेर लेते थे। आजकल बंगले हैं जो खुले रहते हैं। कहा जा सकता है, कि उस दिन के लोग आज से अधिक मजबूत थे, लेकिन, वह बंद रहने की वजह से नहीं था। वह इसलिए था कि उन्हें अधिक से अधिक खुले मैदान में और संघर्ष के जीवन में रहना पड़ता था। कम से कम, घर में दरवाजा जरूर चाहिए। नहीं तो, उसमें रहने वाला दम घुटकर मर जाएगा। एक आदर्श यह भी हो सकता है,—जीवन ऐसा भी हो सकता है, कि हम घर ही क्यों बनाएँ?—हर एक छत के नीचे ही अपना घर हो। इस आदर्श जीवन की बात आप से नहीं कहूँगा। घर हमें चाहिए, लेकिन, द्वार उसके खुले रहें। वैसे घर हम चाहे कहीं बना सकते हैं,—हिन्दुत्व में, इस्लाम में, हिन्दी में, उर्दू में,—घर हो पर द्वार खुला रहे। यही है साहित्य का दूसरा उद्देश्य या function।

कहानी लिखी गई, पढ़ी गई, मनोरंजन हो गया।—पर अनाज तो नहीं मिला! आप पूछें कि तब साहित्य की बात क्यों करते हैं? पेट भरने का,—रोजगारी का कोई नुस्खा बताइए! बाद में आर्ट को भी देखेंगे। लेकिन, आपको एक बात महसूस होनी चाहिए। आपको खाना जरूरी हो गया है, तब तो आप में उसकी माँग है? जिस चीज की चाह नहीं वह आप नहीं माँगते।—हवा आप नहीं माँगते। इसी तरह कहा जा सकता है कि, हम साहित्य की माँग नहीं करते, क्योंकि, हम उसकी कमी को अनुभव नहीं कर पाये। यदि आप में साहित्य की माँग नहीं तो यही कारण है कि आप असली गहरी चीजों से आंख फेरे हुए हैं। यदि कोई आपको रोटी बनाने के लिए अनाज नहीं देता, कविता करता है, तो यह न समझिए कि वह बेवकूफ है। वह जानता है कि वह आपको पेट की चीज नहीं दे रहा है और यह भी कि आप कुतज़ नहीं होंगे। लेकिन, यह मत समझिए कि वह ऐसा काम कर रहा है जिसकी आपको जरूरत नहीं है। आपकी हवा को जो स्वच्छ रखता है आप उसकी ओर ध्यान नहीं देते।—साहित्यिक आप के खयाल की दुनिया को साफ रखता है। दूरदर्शी पहले यह देखता है कि खयाल की दुनिया में क्या होता है। जो बात वास्तविक दुनिया में आती है वह पहिले हमेशा खयाल की,—आइडिया

की, दुनिया में हो चुकी होती है। क्रांति जहां भी हुई है पहिले मन में हुई है। गांधी हमारे संसार में रहता है, फिर भी, वह पहिचानता है कि हमारे मन में क्या दूषित है। इसीलिए वह महात्मा है, न कि इसीलिए कि वह हमसे भिन्न है या कमजोर है।

साहित्य हमारी सुख और तृप्ति की भावनाओं से ऊपर है। जिसमें तृप्ति की मांग है, वह चीज साहित्य हमें नहीं दे सकता। वह हमें एक चटनी दे सकता है जो भोजन का जायका बढ़ा सकती है, लेकिन, वह अधिक सीधी, रूखी और मौलिक Fundamental चीज है।

सत्य बड़ी भयंकर चीज है। हम जब समझते हैं कि हममें यह है, वह है, तब हम दम्भ में पड़ते हैं। फिर, सत्य ही उसे काटता भी है। यह बारीकी है। आपको तो यही देखना चाहिए कि लेखक आप में कोई प्रतिध्वनि उठाता है? आपको निकट खींचता है?—यदि हाँ, तो वह साहित्य है। वह अपना सुख दूसरे को देता है, दूसरे का सुख माँगता है। जायदाद नहीं माँगता, दूसरे के दुख ही को बँटाता है और निरंतर अपना दान देता रहता है। इसी में उसकी सफलता है।

आज फिर ईसा पैदा हो सकता है और हम फिर उसे सूली दे सकते हैं, लेकिन, यह नहीं हो सकता कि उसका प्रेम का सन्देश कभी फलित न हो।

किसी जमाने में मुझे डिक्शनरी से प्रेम था, मैं चाहता था कि उसके द्वारा अपना शब्द-ज्ञान बढ़ा लूँ और दूसरों पर रोव डालूँ। लेकिन, ऐसे मैंने एक शब्द भी नहीं सीखा, क्योंकि, मैंने डिक्शनरी का दुरुपयोग किया। उसका ठीक उपयोग यह है कि जब मुश्किल हुई तब हमने उसमें खोजा और उत्तर पाया। पुस्तकों के बारे में भी ऐसा ही समझिए। हमें रहना है दुनिया में, किताबों में नहीं। किताबों में,—पुस्तकालयों में, कोई ज्ञान नहीं है। उनसे तभी लाभ है जबकि हममें माँग हो,—तड़प हो कि हम पाएँ। पुस्तक से आपका सम्बन्ध हो सकता है तो जीवन के द्वारा ही। जिल्दसाज किताब को जानता है उसके जुज से, विक्रेता जानता है उसकी कीमत से, लेकिन आपको गहरे जीवन के ही जरिये से उसे जानना चाहिए; क्योंकि, इसी जिज्ञासा के उत्तर में साहित्य उत्पन्न होता है।

□□

प्रश्नोत्तर

—साहित्य का जीवन से क्या सम्बन्ध है?

—जीवन की अभिव्यक्ति का रूप साहित्य है कहा जा सकता है कि व्यक्ति जीवन की सत्योन्मुख स्फूर्ति जब भाषा द्वारा मूर्त और दूसरे को प्राप्त होने योग्य बनती है, तब वही साहित्य होती है।

— क्या साहित्य के बिना जीवन अपूर्ण है ?

— कहना पड़ेगा कि अपूर्ण ही है। अपूर्ण न होता तो साहित्य जन्मता ही क्यों ? यह तो जाति की ओर इतिहास की अपेक्षा से समझिए। व्यक्ति की अपेक्षा से आप पूछ सकते हैं कि स्वप्न के बिना क्या व्यक्ति नहीं जी सकता ? असल बात तो यह है, कि स्वप्न के साथ भी व्यक्ति अपूर्ण है। क्या स्वप्न किसी क्षण भी सम्पूर्णता का आकलन कर सकता है ? पर वह सम्पूर्णता की ओर उड़ता तो है, उसे छूता तो है; फिर भी स्वप्न के योग के साथ भी व्यक्ति क्या अपूर्ण नहीं है ? स्वप्न के बिना तो है ही। तब, आप उत्तर यही समझें कि साहित्य के साथ भी जीवन सम्पूर्ण नहीं है। इतना अवश्य है कि साहित्य के बिना तो वह और भी अपूर्ण है। अपूर्णता का आधार लेकर जो सम्पूर्णता की चाह प्राणी में उठती है, वही साहित्य की आत्मा है।

— रोटी मुख्य है या साहित्य ?

— यह सवाल तो ऐसा है जैसे यह पूछना कि जब आप पानी पीते हैं, तो हवा की आपके लिए क्या जरूरत है ? आदमी सिर्फ पेट ही नहीं है और मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि पेट भी वह चीज नहीं है जिसे सिर्फ रोटी की ही जरूरत हो, — हृदय बिना पेट का भी काम नहीं चलता। जब आपने रोटी के मुकाबिले में साहित्य रखा है, तो मैं समझता हूँ आपका आशय किसी जल्द बँधी पोथी से नहीं है आशय उस सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना से है जो साहित्य की जननी है। मैं तो उस स्थिति की भी कल्पना कर सकता हूँ जब रोटी छूट जायगी, साहित्य ही रह जायगा। जातीय आदर्श रोटी नहीं है, — रोटी में नहीं है। रोटी तो जीने की शर्त मात्र है। रोटी ही क्यों, क्या और प्राकृतिक कर्म नहीं हैं जो जीवन के साथ लगे हैं ? लेकिन, उनके निमित्त हम नहीं जीते और न उनके लिए हम मरते हैं। आदर्श रोटीमय नहीं है, — रोटी-सा पदार्थमय भी नहीं है। वह चाहे वायवीय ही हो, लेकिन, उस आदर्श के लिए हम मरते रहते हैं, — उसी में से मरने की शक्ति पाते हैं। साहित्य उस आदर्श को पाने का, उसे मूर्त करने का प्रयास है। रोटी के बिना हम कई दिन रह लेंगे, हवा के बिना तो कुछ क्षणों में ही हमारा काम तमाम हो जायगा, — साहित्य उस हवा से सूक्ष्म, किन्तु, उससे भी अधिक अनिवार्य है। लेकिन, साहित्य और रोटी में विरोध ही भला आपको कैसे सूझा ? वैसा कोई विरोध तो नहीं है। यह ठीक है कि जो रोटी को तरसता है उसके फँसे भूखे हाथों पर साहित्य की किताब रखना विडम्बना है। लेकिन, यह भी ठीक है कि भारत के भूखे कृषक-मजूर रामायण के पाठ में से रस लेते हैं। उनके उस रस पर प्रश्न करना, उसे छीन लेना, भी क्या निरा असम्भव नहीं है ? अन्त में, मैं कहूँगा कि आपके प्रश्न में संगति नहीं है। साहित्य आदमी से सर्वथा अलग करके रखी जाने वाली चीज नहीं है। रोटी का अस्तित्व मनुष्य से अलग है, साहित्य का वैसा अलग है ही नहीं।

□ □

हिन्दी और हिन्दुस्तान*

भाइयो,

आपने इस संघ के वार्षिकोत्सव पर इतने दूर से मुझे बुलाया, इसमें मेरे संबंध में कुछ आपकी भूल मालूम होती है। आ तो मैं गया, क्योंकि इनकार करने की हिम्मत मुझे नहीं हुई। लेकिन, अब तक मुझको आश्वासन नहीं है कि आपने मुझे बुलाकर और मैंने आकर सत्कर्म किया है।

लेकिन, जो हुआ हो गया। अब तो हम सबको उसका फल-भोग ही करना है। और इस सिलसिले में आपके समक्ष पहले ही यह कहना मेरी किस्मत में बदा है कि मैं साहित्य का ज्ञाता नहीं हूँ; साहित्य में विधिवत् दीक्षित भी नहीं हूँ।

लेकिन, साहित्य-सम्बन्धी उत्साह के बारे में भी मेरा अनुभव है कि किन्हीं लौकिक हेतुओं पर टिककर वह प्रबल नहीं होता। लाभ और फल की आशा मूल में लेकर कुछ काल बाद वह उत्साह मुझमें भी लगता है स्थूल लाभ नहीं है। इसलिए, साहित्य संबंधी उत्साह को अपने जल पर ही जीवित रहना सीखना है। अंधेरे से घिरकर भी बत्ती जैसे अपनी लौ में जलती रहती है और जलकर उस अंधकार के हृदय को प्रकाशित करती है, उसी भाँति, उस उत्साह को अपने आप में जलते रहकर स्व-पर को प्रकाशित करना है। साहित्य का यही विलक्षण सौभाग्य है,—दुर्भाग्य इसे नहीं मानना चाहिए। अमान्यता के बीच में वह पलता और जीता है, फिर भी, चूँकि श्रद्धा-स्नेह का बल उसे थामे है, वह हारता नहीं, गिरता नहीं,—अपनी यात्रा पर बढ़ता ही जाता है। इससे देखने में आता है कि आज विपुल अंधकार से घिरकर भी उससे लड़ते रहने वाला साहित्य कल के नन्हें से उजाले को भी जन्म देता है। आज का साहित्य कल की राजनीति बनता है; क्योंकि, भावना है साहित्य तो घटना है राजनीति। प्रत्येक घटना के हृदय में भावना है। घटना भावना का प्रकट फल है और वह हमको चमत्कृत करती है। पर, घटना का मूल तो भावना में है, जो अदृश्य है इसी से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसलिए, इस ओर जिसने कदम उठाया है उसको मन लेना चाहिए कि उसके एवज में किसी ऐहिक फल की कामना और प्रत्याशा उसको नहीं हो सकती,—दावा कुछ

* मुहूर्त-संघ के (मजफरपुर) वार्षिकोत्सव पर दिया गया भाषण।

४६ : : जैनेन्द्र के विचार

नहीं हो सकता। प्रेम की राह उसकी राह है और प्रेम की राह दूसर है। प्रेम मूक सेवा में सफल होता है। प्रेम यदि गहरा है तो मुखर नहीं है। वहाँ आवेश इसीलिए नहीं हो सकता कि वहाँ भावना की इतनी न्यूनता ही नहीं है।

यह मैं इसलिए कहता हूँ कि व्यक्ति के कुछ लौकिक कर्त्तव्य भी होते हैं।—व्यक्ति निरा आदर्श-पुंज ही नहीं है। ऐसा हो तो आदर्श का कुछ मूल्य ही न रहे। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाज से बाहर उसे सांस लेने में भी कठिनाई होती है। एक तल पर पहुँचकर सामाजिक कर्म, राजनीतिक स्वरूप इच्छित्यार कर लेते हैं। मानव-कर्म में राजनीति का भी समावेश है। राजनीति में युद्ध और विग्रह भी आता है।—आतः क्या, वहाँ विग्रह प्रधान बनता है। वह उपादेय भी है,—राजनीति किसी भाँति वर्जनीय नहीं है। उस राजनीति में अनिवार्यतया दल बनते हैं। उन दलों में परस्पर रगड़ होती है और जोश पैदा होता है। उस जोश से जिदगी का बहुत काम निकलता है और वह आवश्यक भी मालूम होता है।

लेकिन, उन सब लौकिक कर्मों की भीड़ में, विग्रह-धमासान और जय-पराजय के बीच, क्या हमको शांति की स्थापना और उसकी साधना ही नहीं करनी है? युद्ध यदि क्षम्य है, और क्षम्य के बाद जायज है, तो तभी की जब वह शांति की चाह में किया जाता और उसे निकट लाता है। इस लिहाज से युद्ध के बीच में भी शांति पर जोर देना अप्रासंगिक नहीं है। बल्कि, युद्ध प्रासंगिक वह तभी है। मानसिक शांति धारण करने से सच्चा युद्ध करने की व्यक्ति की क्षमता कुछ बढ़ ही जाती है। अतः अपने लौकिक कर्त्तव्यों का समर्थन हमें अधिक व्यापक, अथवा मानव-कर्त्तव्य की धारणा में से पाना होगा,—राजनीति का समर्थन सर्व-सामान्य मानव-नीति में से पाना होगा। वह कर्म बंधन-कारक है जिसमें हित-भावना नहीं है, और जिसमें सर्व-हित-भावना है उसी को कहना चाहिए साहित्य। जब और जहाँ प्रवृत्ति उस दिशा की ओर न चले,—सर्वहितात्मकता से उलटी चले, वहाँ मानव का भ्रम मानना चाहिए। शक्ति के अथवा किसी और मोह में ऐसा होता देखा जाता है।—स्व-पर-हित का ध्यान भूल जाता है और कर्म में आसक्ति-भाव आ जाता है। ऐसे स्थल पर उस अविवेक का आतंक कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए; क्योंकि वैसा करने में आतंककारी का अहित है।

ये बातें कहते समय मेरा ध्यान अपने हिंदुस्तान की हालत और हिन्दी-साहित्य की हालत पर जाता है। भारत-राष्ट्र की स्थिति आज आदर्श नहीं है। वह पराधीन है, दीन है, हीन है। फिर भी, आत्मा उसकी जंजर नहीं हो गई है—उसमें पराक्रम का बीज है। पिछले कुछ वर्ष इस सत्य को भले प्रकार प्रमाणित कर देते हैं। वह जाग गया है और अब समर्थ होकर ही दम लेगा। पर, हिंदुस्तान की कठिनाइयाँ उसकी अपनी हैं। कौन जानता है कि उन कठिनाइयों के हल करने में भारत के भविष्य की उज्ज्वलता का भेद भी नहीं छिपा है। आज भारत पराधीन है, लेकिन, उसका भविष्य उतना ही उज्ज्वल क्यों नहीं हो सकता जितना पिछली रात की अंधेरी के बाद का प्रभात उज्ज्वल

होता है। मेरा उस भविष्य में और भारत की क्षमता में विश्वास है। मैं उस संस्कृति को मरा हुआ नहीं मानता जिसने भारत के महिमाय अतीत को संभव बनाया और जिसने उसे अब तक कायम रक्खा है। नहीं तो मिस्र, यूनान, रोम आदि की प्राचीन सभ्यताएँ आज कहाँ हैं? मुझे जान पड़ता है कि उस भारतीय संस्कृत-तत्त्व के व्यापक परीक्षण का यह समय आया है और मुमकिन है दुनिया को उससे लाभ हो।

परिस्थिति की विषमता भी स्पष्ट है।—उस पर आँख मीचना नहीं है। भारत आज बँटा है। अनेक स्वार्थ हैं और वे अपने-अपने दायरों में घिरे और चिपटे हैं। भेद-विभेद इतने और ऐसे हैं कि यहाँ छूत-छात का प्रश्न सम्भव बनता है और लूट-मार की नौबत आती है। जब तब सांप्रदायिक दंगों की खबरें सुन पड़ती हैं और हरिजन-प्रश्न से भी कोई अनजान नहीं है। जान पड़ता है, जैसे शासन,—विशेषकर विदेशी शासन, स्थिति को संभाले हुए भी है, नहीं तो, हिन्दुस्तान चौपट हो गया होता। दो में फूट हो तो तीसरे का शासन सहज होता है। भानों, हम मिले हैं,—मिले रह सकते हैं, तो तीसरे के संरक्षण के नीचे। यह हाल अस्वस्थ है, लज्जाजनक है और इससे हमें उबरना होगा।

स्थिति की इस विषमता को मुख्यता से मेरी समझ में दो बातें घामे हुए हैं—शासनशक्ति का आतंक और उस दृष्टि से आत्मोद्योग का अभाव तथा अंग्रेजी का मोह और अपनी के प्रति तिरस्कार।

इसमें पहली शिकायत को राजनीतिक जागरण और लोक-संग्रहात्मक कर्मों द्वारा दूर करना होगा। दूसरे काम का जिम्मा मुख्यतः साहित्य पर है; क्योंकि, वह व्यापक और सांस्कृतिक काम है। वह मिजाज का रोग है और ज़रा सूक्ष्म है।

आज यदि सच्ची राष्ट्र-भाषा नहीं है या दुर्बल है, सच्चा राष्ट्रीय साहित्य यदि नहीं है या निर्बल है, और प्रान्त-प्रान्त के और सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के आपसी सम्बन्ध यदि आज निर्भीक और सद्भावनाशील नहीं हैं, तो विशेषकर इसलिए कि हम जिस माध्यम से परस्पर मिलते रहे हैं, यानी अंग्रेजी से, यह हमारे मन का माध्यम नहीं है। जो मन का नहीं वह सच्चा माध्यम भी नहीं। उससे ऐसा ही मेल हो सकता है कि प्रयोजन को लेकर ऊपर ऊपर हम मिले रहें, भीतर मन हमारे फटे रहें। अंग्रेजी भाषा का यह अवलम्बन हमारी एकता को खोखला और हमारे अनैक्य को ही हमारे निकट सहा बनाता है। हमारे साहित्य की न्यूनता और दीनता का मुख्य कारण यह है कि हमारे जीवन में इस अंग्रेजी के कारण फाँक पड़ गई है, जीवन कट-फँट गया है, घर अलग और दफ्तर अलग हो गया है; गाँव एक ओर रह गया है, शहरी जिन्दगी और ही तरफ बढ़ रही है। गाँव में और शहर में, जन-सामान्य में और सभ्राज-मान्य में बिलगाव इतना बढ़ गया है कि बीच में पूरी खाई दीख पड़ती है। ज्ञात होता है कि उन दोनों में रिश्ता है तो शोषण का, नहीं तो जैसे और कुछ उनमें आपस में वास्ता ही नहीं है। भद्र-वर्ग अंग्रेजी पढ़ता-लिखता है और मानता है कि देहाती देहाती है,—संसर्ग-सम्पर्क के बिल्कुल योग्य नहीं है। वह यह नहीं जानता कि पानी-वाले की भाषा सिर्फ पानी की भाषा है और विशिष्ट समझे

४८ :: जैनेन्द्र के विचार

जानेवाले अधिकार-प्राप्त वर्ग से अपना नाता जोड़कर शेक्सपियर की भाषा के सहारे वह सच्चे अर्थों में अपने को मजबूत और ज्ञानी नहीं, बल्कि, कमजोर और घमण्डी बनाता है। उधर, इस तरह, गांव का आदमी संस्कृत-विहीन दीन-हीन रह जाता है,—यह तो स्पष्ट है ही।

मुझे जान पड़ता है कि अपनी,—देश या साहित्य की, भलाई की बात करते समय पहली आवश्यकता यह है कि हम मन की भाषा अपनाएँ, अंग्रेजी की परावलंबिता तज दें। अंग्रेजी पढ़ें-लिखें सही, क्योंकि, मुख्यता से उसी के द्वारा भारत औरों को स्वयं पा सकता और उन्हें अपना दान कर सकता है, पर, उस पर निर्भर न हो रहें। छोटे-बड़े सब देश-वासी अपनी भाषा में अपने को कहने-लिखने लगें तो साहित्य चहुँ ओर भरा-पूरा होने से कैसे रह सकता है ?

और, देश जिस भाषा को लेकर एक हो सकता है, जो भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है, वह हिन्दी है। इस प्रकार भारत के भावी-निर्माण में योग देने की सबसे भारी जिम्मेदारी हिन्दी पर आ जाती है। और हिन्दी, अंग्रेजी के समान, हिन्दुस्तान के लिए केवल राजकाजोपयोगी ही भाषा नहीं है,—वह तो समूचे राष्ट्र की ऐक्य-भाषा बने, ऐसी भी संभावना है।

तब, हिन्दी के साहित्य और साहित्यकारों पर भारी दायित्व आता है। निस्संदेह, इस क्रीमती बोझ के आ पड़ने का कारण हिन्दी के साहित्यकारों के कंधों की मजबूती और चौड़ाई नहीं है, बल्कि, इस भाषा को साधारणता है। यह भाषा भारत के भारी भू-भाग में अब भी सुगम है और भारतीय जनता के सबसे निकट है। यह अभी एकदम अंतिम रूप में बन चुकी हुई भाषा नहीं है,—उग रही है, बढ़ रही है, और स्वरूप स्वीकार कर रही है। इसके राष्ट्र-भाषा बनने के अधिकांश कारण यही हैं। लेकिन, अब इस राष्ट्र की भाषा से उत्तरोत्तर श्रेष्ठता भी क्यों नहीं माँगी जायगी ?

अब इसके स्वरूप के संबंध में विवाद भी चले हैं। 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' चीज क्या है ? 'हिन्दुस्तानी' कहकर हम उर्दू के आधिपत्य को तो जाने-अनजाने निमंत्रित नहीं करते हैं ?—कम से कम उर्दू के मेले के खातिर हिन्दी को गर्दन पकड़कर इस भाँति उसके सामने झुकाया तो अवश्य जाता है। और वह उर्दू डेढ़-दो प्रान्तों को छोड़कर और है कहाँ कि जिसके लिहाज में 'हिन्दी' के आगे यह 'हिन्दुस्तानी' पद हठात् बैठाया जाता है ? हिन्दी की एक निश्चित धारा है, निश्चित संस्कार हैं। इसी प्रकार, उर्दू का एक अपना रुख है और अपनी तरतीब है। जबरदस्ती दोनों के मेल कराने का नतीजा दोनों की अपनी खूबियों से हाथ धोना होगा और, इस तरह जो चीज बनेगी, वह भाषा तो होगी नहीं, विडम्बना होगी।

ऐसे विचार और ऐसी शंकाएँ प्रकट की गई हैं। उन पर प्रतिशंकाएँ भी उठी हैं और उत्तर-प्रत्युत्तर भी हैं। भाषा के जानकार पंडितों को बेशक इस सम्बन्ध में सचेत रहना योग्य है। वे अधिकारी व्यक्ति हैं। पर, जिस अर्थ में मैं साहित्य को समझता हूँ

उस अर्थ में, स्वयं अपनी खातिर, इस प्रश्न में साहित्यकार को विशेष महत्त्व और रस नहीं मिलेगा। भाषा उसके लिए शास्त्रगत तत्त्व नहीं है, कुछ उससे अधिक आत्मीय है, अधिक सजीव है। वह एक माध्यम है जिसके साथ उसका अतिशय पवित्रता और सस्नेह सावधानता का सम्बन्ध है,—आग्रह का सम्बन्ध नहीं है। भाषा का सहारा लेकर वह अपने भीतर के अमूर्त को मूर्त करता है। इस भाँति, जो भी भाषा प्रस्तुत है, साहित्यकार उसी के प्रति कृतज्ञ है। साहित्यकार भाषा के द्वार पर भिखारी है।—जो वहाँ से पा जाय उसी को लेकर वह अप्रस्तुत का आह्वान करता है और इस पद्धति से अनायास ही वह उस भाषा को भावनोत्कर्ष का लाभ भी देता है।

इस दृष्टि से राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के बारे में मैं एक ही बात जानता और कह सकता हूँ। वह बात यह कि जो भाषा जितने अधिक राष्ट्र के भाग के साथ हमें स्पर्श में ले आती है वह उतनी ही अधिक राष्ट्रभाषा है, जितने घनिष्ठ और आत्मीय स्पर्श में लाती है उतनी ही उत्कृष्ट (=राष्ट्र) भाषा है। किन्तु, इस भारतवर्ष में न जाने कितनी भाषाएँ, कितनी जातियाँ, और कितने वर्ग हैं ! उनके अपने स्वार्थ हैं, अपने आग्रह और अपने अहंकार हैं।—सबको अपने संस्कार रुचिकर हैं। लेकिन, राष्ट्रभाषा किसी का तिरस्कार नहीं कर सकती। जो राष्ट्र के लिए ऐक्य-विरोधी है, उसी का विरोध राष्ट्र-भाषा में हो सकता है, अन्यथा उसकी गोद सबके लिए खुली है। उस राष्ट्र-भाषा के साहित्य-निर्माण में सबको योग-दान करने का अधिकार क्यों न हो ? उसके बनाव-सँवार में भी प्रेम-परामर्श क्योंकर तिरस्कृत किया जाय ? इसमें हिन्दी के वर्तमान रूप पर,—आज की बनावट पर, निस्सन्देह बहुत दबाव पड़ेगा। लेकिन, जिसको बड़ा बनाया जाता है उसको उतना ही अपना अहंकार छोड़कर सबका आभार स्वीकार करना होता है। इसी तरह, जब हिन्दी के कन्धों पर भारी दायित्व आ गया है, तब उस हिन्दी को अपना जीवन सर्व-सुलभ, विशद और निराग्रही बनाने में आपत्ति नहीं करनी होगी। उसे अपने योग्य ऊँचाई तक उठना होगा। और, जो हिन्दी का साहित्यकार इस विषय में जाग्रत न होकर आग्रही होगा, मुझे भय है कि वह राष्ट्र-भाषा हिन्दी से की जानेवाली प्रत्याशाएँ पूरी न कर सकेगा।

अब दिन दिन हमारे जीवन का और अनुभूतियों का दायरा बढ़ता जाता है। हमारी चेतना घिरी नहीं रहना चाहती। हर रहते हैं तो अपने नगर में, पर जिले और प्रान्त के प्रति भी आत्मीयता अनुभव करते हैं। इसके आगे हमारा देश भी हमारे लिए हमारा है। उसके भी आगे अगर हम सच्चे हैं और जगे हुए हैं, तो इतने में भी हमारी तृप्ति नहीं है। हम समूची मानवता को, निखिल ब्रह्मांड को, अपना पाना चाहते हैं। 'हम सबके हों', 'सब हमारे हों'—यह आकांक्षा गहरी से गहरी हमारे मानस में बिधी हुई है। यह आकांक्षा अपनी मुक्ति-लाभ करने की ओर बढ़ेगी ही। उस सिद्धि की ओर बढ़ते चलना ही सच्ची यात्रा और सच्ची प्रगति है।

अब निरन्तर होती हुई प्रगति के बीच बिलकुल भी गुंजाइश नहीं है कि हम अपने

को समस्त से काटकर अलहदा कर लें। वंसी पृथक्ता भ्रम है, भूठ है। और जहाँ उस पार्थक्य की भावना का सेवन है, जहाँ पार्थक्य सहा नहीं वरन् आसक्ति-पूर्वक अपनाया जाता है, वहाँ जीवन निस्तेज और जड़ हो चलता है। यही प्रतिगामिता है, क्योंकि, इसके सिरों पर केवल अहंकार है और मोत है।

इसलिए, हिन्दी को भी बंद रहने और बंद रखने में विश्वास नहीं करना होगा। बंद तो वह है ही नहीं,—बंद इस जगत् में कुछ भी नहीं है। सब-कुछ सबके प्रति खुला है। और साहित्य वह वस्तु है जो सब ओर ग्रहणशील है। वह सूक्ष्म चिन्ता-धाराओं के प्रति भी जागरूक है, हलका-सा स्पर्श भी उसे छूता और उस पर छाप छोड़ता है। ऐसी अवस्था में, हिन्दी के साहित्य को विश्व की साहित्य-धाराओं से अलग समझना भूल होगी। आदान-प्रदान, घात-संघात, चलता ही रहा है। हम जानें या न जानें, वह संघर्ष न कभी रुका न रुक सकता है। आज, जब कि बातचीत और आने-जाने के साधन विद्युद्गामी हो गये हैं, उस संघर्ष को काफ़ी स्पष्टता में चीन्हा जा सकता है। अतः, आज यदि हिन्दी के प्रस्तुत साहित्य को आँकना हो तो उसे इसी परम्परापेक्षा में रखकर देखना होगा। और इस प्रकार की उस सम्यक्-समीक्षा और विद्वान् समीक्षकों की हिन्दी को आवश्यकता है।

आदमी आदमी के, देश देश के, द्वीप द्वीप के, क्षण क्षण पास से और पास आता जा रहा है। निस्सन्देह, इस ऐक्य की साधना में मानवता को बड़े प्रयोग और परिश्रम भी करने पड़ रहे हैं। आदमी आदमी में, देश देश में, द्वीप द्वीप में डाह और बैर भी दीखते हैं। महायुद्ध होकर चुका है; छुट-मुट युद्ध आँखों-आगे नित्य-प्रति हो रहे हैं और आसन्न भविष्य में अगले महायुद्ध की घटाएँ छाई हैं। उस युद्ध की विभीषिका अब भी मनुष्य के मानस पर दबाव डाल रही है। पर, चाहे मार्ग विकट हो, मानवता को उस पर से बढ़ते ही चलना है। मेरी अंतिम प्रतीति है कि जाने-अनजाने अपनी दुर्भावनाओं और दुर्वासनाओं की मार्फत भी हम अंततः एक दूसरे के निकट ही आ रहे हैं। इससे हमें परीक्षणों और विफलता से घबराना नहीं होगा और लक्ष्य पर से आँख नहीं हटानी होगी।

जीवन की अस्था को और अपनी अंतस्थ ली को सँभाले रखकर व्यक्ति राह के ऊबड़-खाबड़ को पार करता, दुःख-विषाद भेलता, जिये ही चलता है। कभी त्रास से घिर जाता है, कभी अश्रद्धा से भर आता है। तब, वह एकांत में ऊपर के सून को देखता और दो-एक भरी साँस छोड़कर फिर अपने जी को कसकर चल पड़ता है। कभी-कभी यह सब-कुछ बहुत भारी हो आता है। यहाँ तक कि मृत्यु उसे प्रिय और जीवन विष मालूम होता है। ऐसे समय, वह आत्मघात भी कर बैठता है। लेकिन, जब तक बस है, वह जीवन को भाग्य की धारा के साथ आगे खेये ही चलेगा। जीवन के अनेकानेक व्यापारों के मंथन में से जो कटुता का, कल्मष का, व्यथा का, गरल उसके कंठ में भरता है,

नानाविध उपायों से वह अपने भीतर की, आस्था के संयोग से उसी को अमृत बना लेगा। उसे पियेगा, पिलायेगा, और चलता रहेगा।

इसी व्यथा-विसर्जन के यत्न में उस मानव द्वारा कला के नाना स्वरूपों को जन्म मिलता है और साहित्य को जन्म मिलता है। मानव की अन्तस्थ जीवन-प्रेरणा चुक भले जाय, पर चुप नहीं रह सकती; और वह, बिना चैन, बिना विराम, नये नये भावों में अभिव्यक्त होती है। उससे जीवन-यापन में, जीवन संघर्ष में, बल मिलता है,—उससे एक से दूसरे को रस मिलता है।

इस भाँति, जीवन में सभी अनुभूतियाँ उपयोगी हैं। उन्हें जब हम अपनी आसक्ति में संकीर्ण बनाते हैं तभी वह निषिद्ध बनती हैं।

उन्हीं को जब मुक्त करके विस्तीर्ण करते हैं, तब वे साहित्य की निधि हो रहती हैं। इस दृष्टि से, दुःख है कि सुख है जो है सब वरदान है और भाग्य के सम्पूर्ण दान के लिए हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। इस भाव से देखने पर साहित्य के निमित्त जीवन, अपने हलके या गहरे, तीखे या मीठे, सब रंगों और रसों के साथ हमारी प्रीति और अभिनन्दन का भाजन बनता है।

पर, स्वीकृति की इतनी विशाल क्षमता सहसा व्यक्ति में नहीं होती। उत्तरोत्तर ही उसकी ओर उठना होता है। इससे, व्यक्ति के साथ बराबर निषेध भी लगा है। वह सब-कुछ नहीं चाह सकता। कुछ है जो उसे नहीं चाहना होगा। कुछ उसके लिए निषिद्ध रहेगा, अतः कुछ और विधेय। इस द्वित्व के उल्लंघन को वह अपने दर्प में शक्य बनाना चाहेगा तो सिवा व्यर्थता के उसे और कुछ हाथ न लगेगा। हाँ, कोरा शून्य यानी मोत हाथ लगे तो लग सकती है।

आदि-काल से मानव-प्राणी की चिन्ता उठते-उठते इसी प्रश्न से जा टकराई है और सदा ही टकरा कर पछाड़ खाकर रह गई है। विधि-निषेध की वह अन्तर-रेखा कहाँ है? वह रेखा खिची-खिचाई कहीं नहीं मिली है और युग-युग में मानव-मनीषा इस बात पर उद्भ्रान्त हो गई है। मानव-जाति के अनेकानेक कल्याण-साधक पथिक उस रेखा की खोज में दिग्भ्रान्त होकर अकल्याण में जा भटके हैं। मैं अल्पमति उस चर्चा में बढ़ने की स्पृधा नहीं कर सकता। कहना यही चाहता हूँ कि मुझे आशंका है कि पच्छिमी बुद्धि वैसे विभ्रम में पड़कर कुछ चकरा रही है।

पच्छिम आज शक्ति-प्राप्त, विभुता-प्राप्त है। इसका मोह-मद भी उसमें घुस गया है। इसी से वहाँ संकट के बादल भी छाये हैं। उसके नीचे वहाँ का जीवन मानो भ्रमित भाव से गतिशील है। मानो वेग अपने जोर में विवेक को खींचे लिये जाता हो। वहाँ व्यस्तता है, बेचैनी है, और मँहगी है। वही सब-कुछ वहाँ के साहित्य में और भी उभार के साथ झलक रहा है। उस अवस्था का त्रास और दाह उस साहित्य में है और उन्माद भी है। निस्सन्देह, उनका दूसरा पहलू भी वहाँ है और वह अत्यन्त करुण है। शक्ति की पूजा है तो उसके प्रति विद्रोह भी है। पर, सब मिलाकर कुछ असामंजस्य है

५२ :: जैनेन्द्र के विचार

कि जैसे लहरें अपने आप में टकराकर फेनिल और उद्भ्रान्त हो उठी हैं और किसी को अपनी दिशा का पता नहीं है।

निस्सन्देह, पच्छिम में जीवन अधिक चुस्त और सजीव है। जड़ता के लिए वहाँ छिपकर बैठने को भी जैसे ठौर नहीं है। पर, मेरी प्रतीति है कि स्वास्थ्य का जो तापमान है, उष्णता का माप पच्छिम में उससे ऊँचा पहुँच गया है और वह, स्वास्थ्य नहीं, ज्वर है।

मेरी प्रार्थना है कि हम लोग पश्चिम से ईर्ष्या न करें। ईर्ष्या जैसे भी दुर्गुण ही है। वह अपनी हीनता के बोझ में से जन्म लेती है और उस हीनता को दूर नहीं करती, सिर्फ दबाती है। मेरी विनय है कि जैसे भाव की आवश्यकता भी नहीं है। हमारे भीतर जो जड़ता है उससे रुष्ट होकर बुखार को निमंत्रण देना योग्य नहीं है। उद्भ्रान्त पुरुष निर्वीर्य मनुष्य से बेहतर हो, पर इस कारण वह भ्रान्ति स्तुत्य न होगी। पश्चिम से हमें बहुत-कुछ सीखना है, पर, सीखना विवेकपूर्वक ही हो सकेगा। अपने को खोकर सीखा कुछ न जायगा, उल्टे यों स्वयं मिटने का उपाय हो जायगा। पुरुष का असल पुरुषार्थ तो अपने को पाना है।

उस आत्मलाभोन्मुख पुरुषार्थ की हिन्दी में आवश्यकता है। पश्चिम की विभुता के आलोक में अपने को खोने की उद्यतता के लक्षण हिन्दी में अनुपस्थित नहीं हैं, इसी से ऊपर की बात कही गई है। जहाँ से लाभ लेना है वहाँ से लाभ न लेकर आतंकपूर्वक उसका अनुकरण करने लगना सही उपाय नहीं है और मुझको स्वीकार करना चाहिए कि आज के प्रचलित पच्छिमी साहित्य में मुझे मित्र अधिक मालूम होती है, पोषक तत्त्व कम। मित्र का असर तुरन्त होता है, जरा आदत पड़ने पर उसका स्वाद भी अच्छा लगने लगता है, पर वास्तव जीवन को तो पोषक तत्त्व की ही अधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से मुझे यह भी कहना चाहिए कि इधर के साहित्य से पच्छिम कुछ ले भी सकता है और वह ले रहा है।

अपने प्रति सगर्व होना अहंकार का लक्षण है और आज के हिन्दी साहित्य की अवस्था पर गर्व-स्फीत होने का कोई बहाना नहीं है; पर आत्म-ग्लानि की तो और भी किसी प्रकार गुंजाइश नहीं है, और न अन्य भाषाओं के प्रति तनिक भी डाह-पूर्ण लालसा से देखने का अवकाश है। मुझे हिन्दी के प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और प्रसाद पर तनिक भी लज्जा नहीं है। तुलनाएँ भ्रामक होती हैं, लेकिन गहरी समीक्षा-बुद्धि के साथ देखने पर भी मुझे हिन्दी की ओर से क्षमा-प्रार्थी होने की आवश्यकता इधर वर्षों से कभी प्रतीत नहीं हुई।

तिस पर हिन्दी की कुछ अपनी लाचारियाँ हैं। उसका कोई एक प्रान्त नहीं है, कोई एक विशिष्ट संस्कृति-केन्द्र नहीं है। उसकी लिखने की भाषा ज्यों की त्यों शायद ही कहीं बोलने की भी भाषा है। इस प्रकार, उसको वह घनिष्ठ सहयोग और सामाजिक अथवा प्रान्तीय भाई-चारे की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं जो भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं

कों उपलब्ध हैं। लेकिन, कौन जानता है कि ये ही असुविधाएँ आगे जाकर उसकी हित-साधक ही न बन जावें ? और, इधर आकर जिस वेग से हिन्दी बढ़ रही है, देखकर हर्ष होता है।

किन्तु, साहित्य की बात करते समय किसी को प्रतिनिधि बनने की आवश्यकता नहीं है। और मुझे जान पड़ता है कि एक भाषा के माध्यम द्वारा आत्म-साधन अथवा आत्म-दान करने वाला साधक साहित्यकार उस अमुक भाषा की बपीती नहीं होता। भाषा उसकी एक है, पर प्राण उसके व्यापक हैं। वह उस भाषा की राह से संपूर्णतया उस महाचेतना के आलिंगन में पहुँचना चाहता है जिसके लिए सब समान है। वह कवि इसलिए नहीं है कि एक भाषा उसके नाम को लेकर फूले और दूसरी भाषा को तिरस्कृत करे। वह अपनी भावनाओं की व्यापकता के कारण सबके लिए प्रार्थनीय और आत्मीय बनता है।

फिर भी, हम हिन्दी के इतने अपने हैं कि उससे असंतुष्ट होने का हमारा हक है। सतत अभिलाष जीवन का लक्षण है और हम में असंतोष नहीं है तो हमारी उन्नति की संभावना भी नहीं है। इस दृष्टि से, मैं कुछ उस दिशा की ओर संकेत करना चाहता हूँ जिधर संगठित प्रयत्न की आवश्यकता है।

जीवन की कशमकश बढ़ती ही जाती है। आदर्शोन्मुख भावनाएँ उसके बीच पनपती नहीं। युवावस्था पार होते न होते व्यक्ति आदर्श से मानो हाथ धो लेता है और णनीमत मानता है। फिर, दुनियादारी को ऐसा पकड़ता है मानो वही सार है शेष सब निस्सार है। तब बड़े शब्द खोखले, ऊँची भावनाएँ भ्रम, और सदाशयता उसके लिए भावुकता हो जाती है। वह इस प्रकार अपनी अंतरात्मा की अवज्ञा करता है और अनात्म की सेवा में लीन होता है।

पर इसका उपाय ? प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में सद्भावना की ज्योति को जगाए रखना जाय तो कैसे ? साधारणतया वह जोत जगती है कि भोंका आता है और वह बुझ जाती है। समाज का आर्थिक विभाजन ऐसा विषम है और परिणामतः जीवन ऐसा दुरूह कि अकेली सद्भावना को टिकाए रखना कठिन होता है। उपाय यही है कि परस्पर के सहयोग और संस्पर्श से उस जागृति को कायम ही न रखा जाय, प्रत्युत उसे ज्योतिर्भय और कार्यकारी बनाया जाय। आशय यह कि सर्व-हितभावना को बीज-भूत और फलरूप दोनों भाव से स्वीकार करके आपके सुहृद्संघ के समान संघ जगह जगह बनें। वे उतने विधान-जड़ित दल न हों जितने चैतन्य के केन्द्र हों। बुद्धि का विकास, बुद्धि की मुक्ति और सर्वहित-साधन, यह उनका लक्ष्य हो और विज्ञापन की मनोवृत्ति से वे परे हों।

दूसरे एक ऐसे केन्द्र की भी आवश्यकता है जो तमाम हिन्दी साहित्य की प्रगति को एकता के दृष्टि-कोण से देखे, — स्थानीय दृष्टि-कोण से बिल्कुल न देखे। उसके द्वारा साहित्यिक जागरण को संगठित किया जा सके और विकृत-विपरीत साहित्य की बाढ़ को रोका जा सके। इसके जन्म में और विधान में विशुद्ध सांस्कृतिक और नैतिक भावना

होनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ऐसे केन्द्र के निर्माण में बहुत उपयोगी हो सकता है।

लोक-जीवन को बनाने और सँभालने में साहित्य का जो भाग है, उस पर यहाँ कुछ कहना आवश्यक है। साहित्य समाज को व्यक्ति-हृदय के द्वारा छूता और जगाता है। मुझे जान पड़ता है कि जीवन का वास्तव निर्माण उसी राह से होगा। नहीं तो, समाज अपने में स्वरूप-हीन चीज है। व्यक्ति नहीं सुधरता तो समाज कैसे सुधरे? समाज कितना भी बिगड़ा हो, व्यक्ति अपने से तो सुधार का काम उसी क्षण से आरम्भ कर सकता है। ऐसा न करके प्रस्ताव और प्रचार का पीछा पकड़कर सुधार की आशा करना दुराशा है। आत्म-निर्माण में समाज-निर्माण का बीज तो है ही, फल भी है। व्यक्ति समाज की इकाई है, और इकाई ही नहीं वह असल में स्वयं समाज का बीज है। साहित्य उस व्यक्ति के हृदय को ही लक्ष्य में रखता है, क्योंकि, सब महान् परिवर्तन हृदय में ही जन्म लेते हैं। ऊपरी कुछ परिवर्तन यदि किया भी जा सके तो तब तक निरूपयोगी है जब तक हृदय भी अनुरूप परिवर्तित नहीं हुआ है। इस प्रकार, लोक-जीवन के निर्माण का सच्चा उपाय वह साहित्य रह जाता है जो व्यक्ति के हृदय को स्पर्श करके उसे संस्कारी बनाता है। व्यक्ति का संस्कार समाज में फिर फैलता ही है। और अगर चिनगारी सच्ची है तो आग दहकने में थोड़ी फूँक ही चाहिए और फिर तो वह फैली ही रक्खी है।

इस निगाह से राजनीतिक कर्म तब तक अधूरा है जब तक साहित्यिक परिपोषण उसे प्राप्त नहीं है। प्रस्तावों के पीछे प्राणों का बल न हो तो वह उस कागज की कीमत के भी नहीं जिस पर वे लिखे हों। आशा करनी चाहिए कि जीवन-चिन्तक और लोक-नायक दोनों इस विषय में सचेत होकर संगठित उद्योग करेंगे।

यहाँ आते वक्त एक हितैषी ने कहा था कि साहित्य-सर्जन में योग देनेवाले साथियों से तो मैं खुलकर ही बात करूँ, लेकिन, साहित्य के बारे में प्रामाणिक जानकारी मेरे पास क्या है? थोड़ा पढ़ा हूँ उसके बाद सीखा भी विशेष नहीं हूँ, यह सुनकर लोग कहते हैं, 'देखा! पहले तो घमंड, और फिर उस पर दंभ!' वह समझते हैं यह मेरा पाखंड है और भीतर के घमंड पर जरा मिठास का लेप देने के लिए है। वे मुझ पर अदया करते हैं। कुछ मित्र अपने मन में और साथियों के द्वारा मानो कहना चाहते हैं कि 'थोड़ा पढ़े हो तो लज्जित क्यों नहीं होते? गर्व के साथ बघारते क्या फिरते हो? घिक् है इस तुम्हारी गुस्ताखी को। अपने मुँह से बड़ी बड़ी बातें निकालते हो, फिर कहते हो मेरा मुँह छोटा है! छोटा मुँह है तो उसे मत खोलो! क्यों बड़ी बातों को भी उस मुँह से निकालकर उपहास्य बनाते हो?' सच, नहीं जानता कि मैं इन बातों का क्या जवाब दे सकता हूँ। जवाब मेरे पास है ही नहीं। मैं अपने को दोषी कबूल करता हूँ। लेकिन, दोष तो तभी हो गया जब पहले पहल कलम मैंने उठाई। आप कहोगे—'कलम उठाई ही क्यों? कुछ जानते नहीं थे तो कलम उठाने की हिम्मत क्यों की?' वेशक,

यह संगत प्रश्न है, और यही मैं अपने से पूछा करता हूँ। पर, उत्तर में सिर झुका रह जाता है, कुछ बोल नहीं मिलता। आज भी मुझे अचरज है कि किस बूते पर मैंने कलम उठाई और किस बल पर मैं उसे चलाता भी रहा। लेकिन, सच बात यह है कि यदि मुझे स्वप्न में भी कल्पना होती कि मेरा लिखा छापे में आ जायगा तो लिखने का दुस्साहसिक कर्म मुझसे न बनता। इसी से जब मैं पढ़ता हूँ कि ईश-कृपा से बहरा भी सुन पड़ता और मूक बोल उठता है, और उस ईश-महिमा से पंगु भी गिरी लाँघ जाता है, तब, यह देखकर कि मैं आज लिखता हूँ, मुझे उस सत्र अनहोनी के होने का भी विश्वास हो जाता है। इसलिए, घमंड-पाखंड की सब बात परमात्मा ही जाने। उसकी कृपा ही हुई होगी कि मैं कुछ लिख भी सका, नहीं तो—

लेकिन, उसे छोड़िए। अब मैं पूछता हूँ कि जो मैंने आरंभ में लिखा, क्या 'स्वान्तः सुखाय' लिखा? मुझे नहीं मालूम। जो करता हूँ मैं अन्तःसुख के लिए करता हूँ या परिस्थितियों के कारण करता हूँ,—यह मैं कुछ खोलकर समझ नहीं पाता हूँ। अलबत्ता इतना जानता हूँ कि आरंभ में जो लिखा, वह किसी भी प्रकार, किसी के उपकार, सुधार या उद्धार का प्रयोजन बाँध कर मैं नहीं लिख सका था। मैं तब इतना अज्ञातनाम, अपने आप में इतना संव्रस्त, हीन, निरोह प्राणी था कि परहित की कल्पना ही उस समय मुझे अपनी विडम्बना जान पड़ती। इसलिए, मैं किस प्रकार इन चर्चाओं में जाऊँ कि साहित्य-कला किसके लिए है, अथवा किसके लिए हो? यह बात महत्त्वपूर्ण होगी, लेकिन, मैं उस बारे में कोरा हूँ।

हाँ, इधर आकर एक विश्वास मेरी सारी चेतना में भरता-सा जाता है कि जो कुछ हो रहा है, वह सब-कुछ 'एक' के लिए हो रहा है उसी एक 'से' और उसी एक 'में' हो रहा है। और वह एक है, 'परमात्मा'। लेकिन, उस बात को आप मेरी सलज्ज अपराध स्वीकृति,—Confession, ही मानिए। उसमें, हो सकता है कि, न कुछ भावार्थ मिले, न चरितार्थ दिखे। हो सकता है कि वह प्रतीति मेरी असमर्थता की प्रतीक हो। लेकिन, मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि ठीक ठीक मैं कुछ जानता नहीं हूँ।

साहित्य क्यों, क्या, किसके लिए?—इसकी प्रामाणिक सूचना मैं कहाँ से लाकर दूँ? और जहाँ से लाकर दूँ वहाँ से आप क्या स्वयं नहीं ले सकते जो मेरा अहसान बर्दाश्त करें? कैसे लिखा जाता है, इस बारे में कहने को मेरे पास अपना अनुभव और उदाहरण ही हो सकता है। यह कौन जाने कि किस हद तक वह आपके मनोनुकूल होगा, या प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय होगा।

आजकल मानव का समस्त ज्ञान वैज्ञानिक बने तब ठीक समझा जाता है। इस तरह, वह सुनिश्चित और सुप्राप्त बनता है और तभी प्रयोजनीय बनता है। सो, अबल तो ज्ञान ही मेरे पास नहीं, और जो निजी व्यक्तिगत कुछ बोध-सा है वह वैज्ञानिक तो है ही नहीं। इसलिए, उसे आप सहज अमान्य ठहरा दें तो मुझे कुछ आपत्ति न होगी।

जिन्दगी का मन्त्र क्या है? मेरे खयाल में वह मन्त्र है, प्रेम। सूरज-धरती को,

५६ :: जैनेन्द्र के विचार

घरती-चांद को, शत्रु-शत्रु को, पिता-पुत्र को, जन्म-मृत्यु को, 'मैं'-'तू को,' स्त्री-पुरुष को, परस्परकर्षण में कौन थाम रहा है ? वही प्रेम । विराट् की शाश्वत अनन्त महिमा और हमारी क्षणजीवी अपार लघुता,—जो इन दोनों को परस्पर सह्य और सम्भव बनाता है वही प्रेम है । मुझे जान पड़ता है कि साहित्य का भी दूसरा कोई मंत्र नहीं है । प्रेम से बाहर होकर साहित्य के अर्थ में कुछ भी जानने योग्य बाक़ी नहीं रहता । 'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय' यह बात निरी कल्पना मुझे नहीं मालूम होती, सबसे सच्ची सच्चाई मालूम होती है । एक जगह कबीर ने बालक प्रह्लाद के मुँह से गाया है—

मोहे कहा पढ़ावत आल-जाल,
मोरी पटियापै लिख देउ 'श्रीगोपाल' ।
ना छोड़ू रे बाबा राम नाम
मोकों और पढ़नसों नहीं काम ।

कबीर की बानी में उसी प्रेम के माहात्म्य का गान मुझे सुन पड़ता है । न ऊपर की उक्ति का, न कबीर-बानी का, यह आशय समझा जाय कि सब पढ़ना-लिखना छोड़ देना होगा । पर, यह मतलब तो जरूर है कि जो प्रेम-विमुख है, ऐसा, पढ़ना हो या लिखना, सब त्याज्य है । जिसमें केवल बुद्धि का विलास है, जिससे अपने भीतर सद्भावना नहीं जागती और जगकर पुष्ट नहीं होती, वैसा पढ़ना-लिखना वृथा है । और यदि पठन-पाठन निरुद्देश्य है, तो वृथा से भी बुरा है, हानिकारक है ।

गलत समझा जाऊँ, इस खतरे को भी उठाकर मैं यह प्रतीति अपनी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि, जो जानता है कि वह विद्वान् है, ऐसे महापंडित को संभालने की शक्ति शायद साहित्य में नहीं है । साहित्य जिस तरल मनोभावना के तल पर रहता है, ऐसे महापंडित का स्थान उससे कहीं बहुत ऊँचे पर ही रह जाता है ।

जान जान कर जितना जो मैंने जाना है वह ऊपर कह दिया है । वह एकदम कुछ न जानने के बराबर हो सकता है । ऐसा हो, तो कृपापूर्वक आप मुझे क्षमा कर दें । शायद, आपकी कृपा के भरोसे ही उसका दुर्लभ उठाकर, ऊपर कुछ अपने मन की निरर्थक-सी बात कह गया हूँ ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समीक्षा में मैं नहीं जा सकूंगा । वह अधूरा है, अपर्याप्त है, पर यह भी निश्चित है कि वह सचेत है और यत्नशील है । वह बराबर बढ़ रहा है, गद्य के क्षेत्र में वह तेजस्विता की ओर भी बढ़ चला है । पद्य में सुक्ष्मता की ओर अच्छी प्रगति है । हिन्दी-साहित्य में चहुँ-मुखता बेशक अभी नहीं है । वह इसलिए, कि जीवन ही अभी चहुँ ओर नहीं खुला है । पराधीन देश में राष्ट्रीयता इतनी जरूरी-सी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह समूचे जीवन को उसी ओर खींचकर मानो नुकीला बनाने का प्रयास करती है । स्वाधीनता की जरूरत है तो मुख्यतः इसीलिए कि जिदगी सब तरफ की माँगों के लिए खुले और फैले । अनिवार्यतय राष्ट्रीय भाव की प्रधानता अपने साहित्य में रही और अब, जब कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है, संभावना है कि उस प्रकार की साहित्य

की एकांगिता दूर होने में कुछ और भी समय लगे। आधुनिक समाजवाद भी साहित्य की सर्वाङ्गीनता को संपन्न करने में विशेष उपयोगी नहीं हो रहा है। उपाय इसका यही है कि साहित्यकार व्यापक और विस्तृत जीवन की ओर बढ़े,—नगर से गाँव की ओर, गाँव से प्रकृति की ओर, प्रकृति से परमात्मा की ओर बढ़े। हमारे साहित्यकार को प्राण-वायु, शुद्ध जीवन और आसमान की अधिक आवश्यकता है। वह नगर-जीवन की कृत्रिम समस्याओं से घुटता जा रहा है। उसको शहर की तंग गलियों और सटी दीवारों को लाँघकर, न हो तो तोड़कर, खुले मैदान में साँस लेने बढ़ना चाहिए। उससे फँफड़े मजबूत होंगे और सबका भला होगा।

हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में बात करते हुए यह कहना भी जरूरी मालूम होता है कि जैसे सुचारुता के लिए व्यक्ति में विविध वृत्तियों का सामंजस्य आवश्यक है, उसी भाँति, साहित्य में आदर्शोन्मुख भावनाओं और परिणामों के सामंजस्य की ओर हमें ध्यान देना होगा। ऐसा न होने से साहित्य जब कि रोमांटिक (=कल्पना-विलासी) हो उठता है तब उसकी ओट लेनेवाला जीवन संगति-हीन और उथला हो चलता है। कल्पना का विलास तथ्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार, जो अध्यात्म का अथवा दर्शन-ज्ञान का वातावरण बनता है वह भ्रामक होता है, प्रेरक नहीं होता। वह छल में डालता है, बल नहीं देता। स्वप्न खूब मनोरम हो, पर वह स्वप्न ही है तो किस काम का? उसी स्वप्न की कीमत है जिसके पीछे प्रेरणा,—Will भी है। और ऐसा स्वप्न स्वप्न कम, संकल्प अधिक हो जाता है। साहित्य के मूल में यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है; अन्यथा, विवेक-वियुक्त कल्पना धोखा दे सकती है, निर्माण और सर्जन नहीं कर सकती।

यूरोप के साहित्य को जो बात प्रबल बनाती है वह उसकी यही प्रेरक शक्ति है। स्वप्न उनके उतने ऊँचे न हों,—और नहीं हैं, लेकिन, उनके संकल्पों और उन स्वप्नों में उतनी दूरी भी नहीं है कि विरोध मालूम हो। मन-वचन-कर्म का यह सामंजस्य,—यह ऐक्य, ही असली तत्त्व है। इस समन्वय से मन की भावना अधिक प्रेरक, वचन अधिक सफल और कर्म अधिक सार्थक बनता है। इस एकता के साथ तीनों (भावना, शब्द, कृत्य) अलग अलग भी अपने आप में सत्यतर बनते हैं। उस एकता के अभाव में तीनों झूठ हो जाते हैं। तभी तो प्रमत्त का स्वप्न, दम्भी के मुख का शास्त्र-वचन, और पाखण्डी का धर्म-कर्म अपने आप में सुन्दर होते हुए भी असत्य हो जाता है। राजनीति से अधिक साहित्य के क्षेत्र में यह एकता जरूरी है। क्योंकि स्थूल कर्म का परिणाम तो थोड़ा बहुत होता भी है पर शब्द में तो वैसी स्थूल शक्ति है नहीं, उसमें उतनी ही शक्ति है जितनी अपने प्राणों से हम उसमें डाल सकते हैं। अतः, साहित्यकार के लिए मन-वचन-कर्म की एकता साधना जरूरी माननी चाहिए।

एक बात और, और बस। एक प्रकार से वह ऊपर भी आ गई है, पर उसको स्पष्ट कह देना भला ही हो सकता है। वह यह कि हमको सबके प्रति विनयशील होना

५८ :: जैनेन्द्र के विचार

होगा। अविनय जड़ता है। जीवन पवित्र तत्त्व है और साहित्य के निकट, क्योंकि, सब कुछ सजीव है इससे साहित्य-रसिक के लिए सब कुछ पवित्र है। उसके मन में किसी के लिए अवज्ञा नहीं हो सकती। ऐसी अवज्ञा के मूल में अहंकार और अपूर्णता है।

इस बात के संबंध में अधिक से अधिक सावधानी भी इसलिए कम है कि आज चारों ओर राजनीतिक प्रचार के कारण सहानुभूति की मर्यादा-रेखाएँ ढींची दी गई हैं और प्रेम दिलों में बैठ गया है। इस भाँति अवज्ञा की भावना सहज भाव में घर कर जाती है और वह उपयुक्त भी जान पड़ने लगती है। पर निश्चय रखिए कि अनादर की भावना में से कोई निर्माण नहीं हो सकता। सर्जन स्नेह द्वारा ही संभव है।

पर यहाँ भूल न हो। जीवन निरी मुलायम चीज नहीं है। वह युद्ध है। वह इतना सत्य है कि काल भी उसे कभी तोड़ नहीं सकता। निरंतर होती हुई मृत्यु के बावजूद जीवन की धारा अनवच्छिन्न भाव से बहती चली आ रही है, बहती चली जायगी। सत्य को सदा ही असत् से मोर्चा लेना होगा, जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नहीं है, और कोई अंत नहीं है।

पर युद्ध किससे? व्यक्ति से नहीं, घनीभूत मैल से। पापी से नहीं, पाप से। क्योंकि जिसे पापी माना है, उसके भीतर आत्मा की आग है और आग सदा उज्ज्वल है। वह पाप को क्षार करती है। यह पाप से अडिग भाव से जूझने की क्षमता पापी को प्रेम और उसके भीतर की आग में विश्राम करने की साधना में से आवेगी।

मैंने आपका बहुत समय लिया। इस समय में जो सूझा है मैं कहता रहा हूँ। आप मेरे प्रति करुणाशील हुए तो मैं यह अपना कम लाभ नहीं मानूँगा। आप देखते तो हैं कि आपको कृपा का मैंने कैसा फायदा उठा लिया है। मैं उस सबके लिए आप से क्षमा चाहता हूँ और आपको फिर धन्यवाद देता हूँ।

□ □

प्रेमचन्दजी की कला

श्री प्रेमचन्दजी का ताज्जा उपन्यास 'शबन' हाल ही निकला है। निकला तभी मैंने इसे पढ़ लिया। लेकिन, जो मुझे वक्तव्य हो सकता है, वह लिखता अब हूँ। चीज को समझने और पुस्तक के असर को ठंडा होने देने के लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। ठंडा होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तक से अपने को अलहदा खड़ा करके मानों उस पर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्दजी हिन्दी के सबसे बड़े लेखक हैं। हम हिन्दी भाषा-भाषी उनके मूल्य को ठीक आँक नहीं सकते। हम चित्र के इतने निकट हैं कि उसकी विविधता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है; उसमें निवास करती हुई और उस चित्र को सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़ में नहीं आती। जो एकाध दशाब्दि अथवा एक-दो भाषा का अंतर बीच में डालकर प्रेमचन्द को देखेंगे, वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्द को अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में और हिन्दी को छोड़कर जहाँ अनुवादों द्वारा अन्य भाषाओं में पहुँचेंगे, वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन, यत्न द्वारा हम अपनी दृष्टि में कुछ कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत पास की चीज को मानों इतनी दूर से देख सकें कि वह हमें अपनी सम्पूर्णता में, अपनी एकता में, दीखे। अगर रचनाओं के भीतर पँठकर, मानों इस सीढ़ी से, हम रचनाकार के हृदय में पहुँच जायँ जहाँ से कि उसकी रचनाओं का उद्गम है और जहाँ से उसे एकता प्राप्त होती है, तो हम रस में डूब जायँ।

अपने भीतर के स्नेह, सहानुभूति और कौशल को विविध भाँति से कलम की राह उतार कर कलाकार ने तुम्हारे सामने ला रक्खा है। तुम उन शब्दों, भाषा, प्लेट, और प्लेट के पात्रों का मानों सहारा भर लेकर यदि हृदयों में से फूटते हुए झरनों तक पहुँच जा सकते हो, तो वहाँ स्नान करके आनंदित और धन्य हो जाओगे। नहीं तो, कालिजीय विद्वान की तरह उसकी भाषा की खूबी और त्रुटि और उसके व्याकरण की निर्दोषता-सदोषता में फँसे रहकर उसकी छान-बीन का मजा ले सकते हो।

मुझे व्याकरण की चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषा की चुस्ती का या शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की गरज से मैं नहीं रख पाता। भाषा की खूबी या कमी को, सम्पूर्ण वस्तु के समूह के साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामंजस्य बैठाकर

में देख लेना चाहता हूँ। अतः, यह नहीं कि मैं उस ओर से नितांत उदासीन या क्षमाशील हो रहा हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ रहा।

प्रेमचंदजी की कलम की धूम है। बेशक, वह धूम के लायक है। उनकी चुस्त-दुरुस्त भाषा पर, उनके सुजड़ित वाक्यों पर, मैं किसी से कम मुग्ध नहीं हूँ। बात को ऐसा सुलझाकर कहने की आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझा कर, थोड़े से शब्दों में भरकर कुछ इस तरह से कह जाते हैं जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्य-प्रति घरेलू व्यवहार की जानी-पहचानी चीज हो। इस तरह, जगह जगह उनकी रचनाओं में ऐसे वाक्यांश बिखरे भरे पड़े हैं, जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कंठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभव का मर्म भरा रहता है !

प्रेमचंदजी तत्त्व की उलझन खोलने का काम करते हैं, और वह भी सफ़ाई और सहजपन के साथ। उनकी भाषा का क्षेत्र व्यापक है, उनकी कलम सब जगह पहुँचती है; लेकिन, अंधेरे से अंधेरे में भी वह धोका नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। सुदर्शनजी और कौशिकजी की भी कलम दड़े मजे-मजे में चलती है, लेकिन, जैसे वह सड़कों पर चलती है, उलझनों से भरे विश्लेषण के जंगल में भी उसी तरह सफ़ाई से अपना रास्ता काटती हुई चली चलेगी, इसका मुझे परिचय नहीं है।

स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्णायक, खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रों को भी सुस्पष्ट, चारों ओर से सम्पूर्ण बना कर वह सामने लाते हैं। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती है। अपने पात्रों की भावनाओं के उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात का पूरा-पूरा नकशा वह पाठक के सामने रख देते हैं। तद्गत कारण, परिणाम, उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदि के संबंध में पाठक के हृदय में संशय की गुंजायश नहीं रह जाती। इसलिए, कोई वस्तु उनकी रचना में ऐसी नहीं आती जिसे अस्वाभाविक कहने को जी चाहे, जिस पर विस्मय हो, प्रीति हो, बलात् श्रद्धा हो। सबका परिपाक इस तरह क्रमिक होता है, ऐसा लगता है, कि मानों बिल्कुल अवश्य-भावी है। अपने पाठक के साथ मानों वे अपने भेद को बाँटते चलते हैं। अंग्रेजी में यों कहेंगे कि वह पाठक को Confidence में, विश्वास में, ले लेते हैं। अमुक पात्र क्यों अब ऐसी अवस्था में हैं,—पाठक इस बारे में असमंजस में नहीं रहने दिया जाता। सब-कुछ उसे खोल खोलकर बतला दिया जाता है। इस तरह, पाठक सहज रूप में पुस्तक की कहानी के साथ आगे बढ़ता जाता है, इसमें उसे अपनी ओर से बुद्धि-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती,—पात्रों के साथ मानों उसकी सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए, पुस्तक में ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्र के साथ नहीं चल रहा है,—जरा रुककर उसके साथ हो ले। वह पुस्तक पढ़ने को जरा थामकर अपने को सँभालने की जरूरत में नहीं पड़ता। ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ आह खींचकर वह पुस्तक

को बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने और पोंछने में उसे लगाना पड़े; और फिर, तुरंत ही फिर पढ़ना शुरू कर दे। पाठक बड़ी दिलचस्पी के साथ पुस्तक पढ़ता है, और उसके इतने साथ साथ होकर चलता है कि कभी उसके जी को जोर का आघात नहीं लगता जो बरबस उसे रुला दे।

‘गवर्न’ में मार्मिक स्थल कम नहीं हैं, पर, प्रेमचन्दजी ऐसे विश्वास, ऐसी मंत्री और परिचय के साथ सब-कुछ बतलाते हुए पाठक को वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे घक्का-सा कुछ भी नहीं लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है, और अपने साथी ग्रंथकार की जानकारी पर, कुशलता पर, और उसके अपने प्रति विश्वास पर, जगह जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पग पर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानी के स्वर्ग में से उसका हाथ पकड़कर ले जाता हुआ उसका पथदर्शक बड़ा सहृदय और विलक्षण पुरुष है। पाठक बिलकुल उसका होकर रहने को तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता, क्योंकि, उसे भरोसा रहता है कि ग्रंथकार उसे छोड़कर इधर-उधर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए, ग्रंथकार को भागकर छूने का अभ्यास करके उसके साथ रहने और, इस प्रकार, अपरिचित रास्ते पर भटकों-घक्कों को खाते कभी उन पर हँसते और कभी रोते हुए चलने का मजा पाठक को नहीं मिलता; पर पाठक इस स्वाद को भी चाहता है।

में ‘गवर्न’ पढ़ते हुए कहीं भी रो नहीं पड़ा। रवीन्द्र की एकाध किताब पढ़ने में, बंकिम पढ़ने में, शरद पढ़ने में, कई बार बरबस आँखों में आँसू फूट आये हैं। फिर भी, प्रेमचन्द की कृतियों से जान पड़ता है कि मैं उनके निकट आ जाता हूँ, उन पर विश्वास करने लगता हूँ। शरद पढ़ते हुए कई बार गुस्से में मैंने उसकी कृतियों को पटक दिया है, और रोते-रोते उसे कोसने को जी किया है। ‘कम्बख्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा!’ इस भाव से फिर उसकी पुस्तक उठा कर पढ़नी शुरू कर दी है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल, प्रेमचन्द की कृतियों से उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचय का भाव उत्पन्न होता है।

शरद और कई अन्य की रचनाएँ पढ़ते वक्त जान पड़ता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नहीं चाहते; हमारी,—अर्थात् पाठक की, इन्हें बिलकुल पर्वाह नहीं है; हमारे भावों की रक्षा करने की इन्हें बिलकुल चिन्ता नहीं है; जैसे हमारा जी दुखता है या नहीं दुखना, हम नाराज होते हैं या खुश, हमें अच्छा लगता है या बुरा,—इसके क्याल करने का जरा भी दायित्व उन पर नहीं है; हमारे लिए उनके पास जरा दया नहीं है। ये लेखक निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर हमें जी चाहे जितना रुला सकते हैं, परन्तु, प्रेमचन्द हमारे प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकते।

शायद इसी निरपेक्षता की आवश्यकता को विचार कर अंग्रेजी की उक्ति बन गई थी,—Art for Art's sake (—कला कला के लिए)। किन्तु, यह वचन मेरी समझ में सत्य को बहुत अधूरे ढंग में प्रकट करता है; या, कहेँ, सत्य को खोलकर प्रकट

नहीं करता, उसे मानों बाँध कर बन्द करने की चेष्टा करता है। मुझे कहना हो तो कहूँ,—Art for God's sake (= कला परमात्मा के लिए)।

रवीन्द्र आदि की कृति में किसी एक स्थल पर उँगली रखकर कहना कठिन है कि,—‘कैसा अच्छा है!’ शरद की खूबी समझ में नहीं आती कि किस खास जगह है। एक-एक वाक्य करके देखो तो कहीं कोई खास बात नहीं दिखाई देती। इधर प्रेमचंद का कहीं से कोई वाक्य उठा लें,—मानो, स्वयं संपूर्ण है,—चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण।

पहले ढंग की किताब को जी अकुलायगा तभी हम उठाकर देखने लग जायेंगे। चाहे कितनी ही बार पढ़ी हो हमें वह नवीन-सी लगेगी। प्रेमचन्द की किताब को एक बार पढ़ लेने पर उसे फिर-फिर पढ़ने की तबीयत कम शेष रहती है।

मैंने कहा है,—Art for God's sake अर्थात्, परमात्मा के प्रति,—सत्य के प्रति कलाकार का दायित्व है। इसको कलाकार जब समझेगा तो पाएगा कि उसका अपने प्रति दायित्व है, इसलिए, वह पाठक-समाज की धारणाओं की ओर से निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर अपने प्रति सच्चा रहकर अपने को प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति, समाज या पुस्तक के पात्र की भावनाओं की रक्षा के प्रति अत्यन्त आतुर हो उठने का कलाकार को अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यंत निरंकुश होकर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विश्व का संचालन (हमारी-तुम्हारी परिमित समझ के अनुसार) अत्यंत निरंकुश होकर करते हैं; विश्व को जरा-व्याधि, रोग-शोक और जन्म-मृत्यु से भरा बनाए रखते हैं; किसी खास व्यक्ति या समूह की कोई विशेष चिन्ता करते नहीं मालूम होते;—इतना होने पर भी वे परम दयालु हैं। उनकी दयालुता किसी विशेष वस्तु या प्राणी के अच्छा लगने न लगने पर निर्भर होकर नहीं रहती। वह इतनी मर्मगत, इतनी व्याप्त और इतनी बृहद् है कि उसका कार्य-परिणमन हम छोटी बुद्धिवालों को निरंकुश जँचता है। उसी सबके पिता सिरजनहार के अनुरूप सर्जन का अधिकार रखने वाले कलाकार को रहना पड़ता है। वह रचना में अत्यंत निरंकुश होगा, किसी के प्रति उस में विशेष ममता भाव है, ऐसा वह नहीं दिखला सकेगा। विद्वान् पर मौत आएगी तो उसे दिखला देगा, शठ समृद्धिवान् बनता होगा तो उसे बनने देगा। फिर भी, सहानुभूति और प्रेम से उसका हृदय भरा होना ही चाहिए। वह सहानुभूति या स्नेह इतना उयला न हो कि छलकता फिरे।

संसार में प्रकट में दिखने वाली निरंकुशता के मार्ग से एक बृहद् सत्य की लीला सम्पन्न हो रही है। हम नहीं जानते, इसलिए रोते-भीँकते हैं। हम जिन छोटी-मोटी बातों को सिद्धांत बना कर काम चलाते हैं, उनकी ज्यों-की-त्यों रक्षा जब हमें होती नहीं दीखती तब हम दुखी होते और अस्थिर होते हैं। इस तरह, अपने अहं-ज्ञान को बीच में डालकर, हम जिस परमात्मा का विश्वास हमारे लिए सहज होना चाहिए था, उसी को अपने लिए दुष्प्राप्य और दुर्बोध्य बना लेते हैं। सब में निवास करती हुई उसकी दयालुता हम नहीं देख पाते, इसलिए कहते हैं, ‘वह है नहीं’; है तो दयालु नहीं है, मनमाना

(=Capricious) है। हमारा तर्क यह होता है—‘हम भलेमानस हैं, फिर भी गरीब हैं; इसलिए, ईश्वर नहीं है; है, तो ठीक नहीं है।’ इसी तरह, कलाकार की वृत्ति में किसी अन्तरतर सत्य को पाने और सम्पन्न करने की चेष्टा होती है,—दुनिया की बनाई धारणाओं की रक्षा करने की चिन्ता उसे नहीं होती। सदाचार के और अन्य भाँति के अपने नियम कानून बनाकर जीती रहने वाली दुनिया अपनी सब धारणाओं का समर्थन वहाँ पाए ही, ऐसा नहीं होने पाता। ऊपर के तर्क से चलने वाली दुनिया की तुष्टि के लिए और उसके अहं-समर्थन के लिए कलाकार नहीं लिखता। इसी से कहा गया है कि Art for Art's sake,—कला कला के लिए, जिसका कि सम्पूर्ण शुद्ध रूप है Art for God's sake, और जिसका अर्थ है कि कला अहंवादी, बुद्धिवादी दुनिया को खुश रखने की खातिर नहीं होती; वह God अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा के लिए होती है।

प्रेमचंदजी में उक्त प्रकार की निरपेक्षता पूरे तौर पर नहीं आई है। वे पाठक की बराबर परवाह करते हुए चलते हैं, और अपनी किसी बात से सहसा दुनिया को धक्का नहीं देना चाहते। उन्होंने कोशिश करके जिसे सुन्दर और शिवरूप समझा है, लोगों की वर्तमान स्थिति को किसी विशेष गड़बड़ में न डालने की चिन्ता रखते हुए, वह उसी को लिखते हैं। उनके पात्र अशरीरी नहीं होते, सूक्ष्म-शरीरी भी नहीं होते; वे अतर्क्य नहीं हो पाते। वे जो कुछ भी होते हैं, Common sense (=सामान्य साधारण-बुद्धि) के मार्ग से ही होते हैं। असाधारणता उनमें यदि प्रेमचन्द कहीं कुछ रखते भी हैं तो मानों साधारणता के मार्ग से ही उसे प्राप्त और प्राप्य बना लेते हैं। पाठक के दिल में प्रेमचंदजी के पात्रों से एक प्रकार का संतोष होता है, कोई गहरी बेचैनी नहीं जाग उठती, कोई गहरा खिचाव जो मित्रता से आगे हो, एक गंभीर तृप्ति जो संतोष से गहरी हो, नहीं होती। प्रेमचंदजी पाठक का मन रख लेते हैं; अपना ही मन पाठक के सामने रख दें, यह नहीं करते।

मैं फिर भी प्रेमचन्दजी को, हिन्दी का नहीं, संसार का लेखक मानता हूँ। बहुत जल्दी संसार भी यह मान लेगा।—क्यों ?

सामयिकता को लाँघकर, मानो सामयिकता का आधार पकड़ गहरी उतर कर, जो कृति जितनी ही सत्य के अनुरूप होकर चलती है, वह उतने ही अंश में सर्वकालीन और सर्वदेशीय होती है;—उतने ही अंश में वह काल को चुनौती देती हुई चिरजीवी और देश और भाषा की परिधियों को फाँदती हुई विश्वव्यापी हो जाती है।

सत् है एक, अर्थात् सत्य है ऐक्य। संपूर्ण सत्ता को सचेतन एकमय देखो, वही है परमात्मा। इस सनातन ऐक्य को पाने की चेष्टा का नाम है, ‘प्रेम’। पर वह प्रेम सहज सम्पन्न नहीं होता। यह जो चारों ओर लुभाती हुई, भरमाती हुई, भिन्नता फैली है,—उस सब लोभ और भ्रम और माया के सगुद्ग में, आँख-कान मूँद कर गहरी डुबकी लगा

६४ :: जैनेन्द्र के विचार

कर बैठने से वह प्रेम कुछ कुछ दिखाई पड़ सकता है। इसके लिए गहरी साधना की आवश्यकता है। तो भी, इस ऐक्य को पाने की भूख भी प्राणी में कम गहरी नहीं है। पर, बहुत-कुछ उसकी तृप्ति में आड़े आता है और वह भूख बहुत तरफ से परिमित, संकुचित भूखी रहती है। और तो क्या, यह शरीर ही रुकावट बनकर सामने आता है। यह हमको सबसे एकाकार तो होने दे सकता ही नहीं, फिर भी, इसकी सहायता से भी हम आगे बढ़ते हैं। स्त्री, माँ, भाई, बहिन, पिता आदि नातों द्वारा, जो इस शरीर के कारण बन जाते हैं, हम अपने प्रेम का विस्तार फैलाते हैं। वह प्रेम नाना स्थानों पर नाना रूप में प्रकट होता है। वह प्रेम तत्काल को पार कर जितना चिर-स्थायी और शरीर के प्रति-बंध को लाँघकर जितना अखिल व्यापी और सूक्ष्म जीवी होता है, — और इस तरह, तात्क्षणिक स्थूल तृप्ति में न जीकर वह जितना उत्सर्ग जीवी होता है, उतना ही वह सत्य के अनुरूप, अर्थात् शुद्ध, वास्तविक और आनंदमय होता है। लेकिन, काल और प्रदेश की रेखाओं से घिर कर ही तो जीव की जीवन यात्रा चलती है, इसलिए, उसका प्रेम पूर्ण निर्विकार सत्यानुरूपी नहीं हो पाता। इस तरह, व्यक्ति के जीवन में सदा ही द्वन्द्व चलता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो कलुषित कुत्सित प्रेम कुछ नहीं होता। विस्तृत ऐक्य के जिस तल तक मनुष्य उठ आया है उस तल से नीचे की चेष्टाएँ जब किसी में देखता है, तो उसे कुत्सित आदि कहने लगता है।

तो, नाना रूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसा कर उसे अहं-भाव में दृढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानंद इस आयोजन को तोड़-फोड़कर स्वयं प्रतिष्ठित रहने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वंद्वावस्था ही जीवन की चेष्टा और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य-क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वंद्वावस्था को अच्छी सूक्ष्म दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हैं और इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेम भाव की प्रतिष्ठा करते हैं वह देहातीत होता है, — वह बीतते हुए क्षण के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की गलत फ्रहमियों की, अज्ञानता की, विफलता की, हीनता की कितनी ही कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्ग-तत्पर रहता और रह सकता है, — इसका चित्र प्रेमचन्दजी सजीव करके उठा देते हैं। वही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और कर्मशील प्रेम का बीज रख दिया है, वह सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।

सामयिकता से प्राण खींचकर कइयों ने रचनाएँ की हैं जो रंगीन होकर सामने आ गई हैं, पर अगर आज वह हाथों-हाथ विकती हैं तो, हमने देखा है, कल वह मर भी जाती हैं। जो रचना शाश्वत सत्य के श्वास से जितनी अनुप्राणित होगी, वह उतनी ही शाश्वत

और अमर होगी। माया में से रस खींचकर, देश और काल के प्रतिक्षण और प्रति-पग बदलते जाते हुए आदर्शों और भावों को आधार बनाकर, सामयिकता की लहर पर नावती हुई जो कृति हमें लुभाने आती है, वह आज हमें लुभा ले सही, पर कल हमें ही उसकी याद भूल जायगी, इसका हम विश्वास रखें।

प्रेमचन्दजी की कृति सामयिकता की परिधि को लाँघकर और हिन्दी भाषा की परिधि को लाँघकर किसी न किसी हद तक विश्व और भविष्य की ओर बढ़ेगी। निस्संदेह, उसमें ऐसा बीज है।



नेहरू और उनकी 'कहानी'

जवाहरलालजी का जीवन-चरित्र मैंने मूल अंग्रेजी में पढ़ा है। हिन्दी अनुवाद को जहाँ-तहाँ से एक निगाह देख सका हूँ। मूल में क्या और अनुवाद में क्या, पुस्तक तो जवाहरलालजी की आत्म-कथा है। उधर ही हमारा लक्ष्य रहना चाहिए।

जो जवाहरलालजी राजनीति के आगमन में दीखते हैं, वहीं इस चरित्र में घनिष्ठता से व्यक्त होते हैं। राजनीति में उनके व्यक्तित्व की एक झाँकी दीखती है। वहाँ, वह आज और कल में बँटे हुए हैं। पुस्तक में उनके व्यक्तित्व का वह संचित समग्र रूप व्यक्त हुआ है जो बँटा हुआ नहीं है,—जो उनके आज और कल को एक सूत में पिरोए रखता है। जवाहरलाल का जो व्यक्त रूप है उसकी विविधता को कौन से जीवन-तत्त्व थामे हुए हैं, उसके भीतर आत्मा क्या है,—इसी को जानने और खोलने का यत्न पुस्तक में है। जिन्दगी की घटनाओं का वर्णन नहीं है,—उस जिन्दगी का सिद्धान्त पाने की कोशिश है।

अनुवाद में पुस्तक का नाम 'मेरी कहानी' है। हमारा बीता हुआ जीवन हमारे निकट 'कहानी' हो जाता है। बीती घटनाओं के प्रति हममें वासना शेष नहीं रहती, केवल भावना रहती है। उस भावना में रस रहता है, वासना का विष नहीं रहता। इसलिए, बहुत पहले की जिन्दगी का शत्रु अन्त में हमारा शत्रु नहीं रहता। आगे निकल कर शत्रु-मित्र कुछ रहता ही नहीं,—वहाँ से हम स्वयं अपने ही दर्शक बन जाते हैं। साधारणतया जीवन में हम ही अपने प्रदर्शक होते हैं,—अपने को दिखाते चलते हैं और अहंकार में से रस लेते रहते हैं। पर, अगर हम जरा अपने ऊपर ही आँखें मोड़ कर देखना शुरू करें तो दुःख भी बदल जाता है, हमारा चित्त भी बदल जाता है। तब, जीवन का अर्थ हम स्वयं नहीं रहते। मालूम होता है, हम बस यात्री हैं और उस यात्रा-पथ को चिह्नित कर जाना ही हमारा उद्देश्य था जो हम करते चले आये हैं।

इस तरह, बड़ी से बड़ी बात 'कहानी' हो जाती है और कोई घटना अपने आप में महत्वपूर्ण अथवा सम्पूर्ण नहीं रह जाती। मालूम होता है, छोटी चीज क्या बड़ी चीज क्या, सब बस उतने अंश में अर्थ-पूर्ण है कि जितने में वह हमारी पथ-यात्रा में सहायक अथवा बाधक हुई है, अन्यथा वह नहीं जैसी है।

जवाहरलाल का आत्म-चरित्र आरंभ से ही काव्य-सा लगता है। अपना बचपन,

अपना युवाकाल,—लेखक सब एक मधुर तटस्थता से देखते और लिखते गये हैं। प्रानो, उस अतीत से उनका नाता तो है, पर लगाव नहीं रह गया है। वह अपने ही अभिनय के एक ही साथ दर्शक भी हैं।

जहाँ पुरानी याद छिड़ गई है और जहाँ आलोचना है वहाँ वह स्थल अपना ही मधुर काव्य-सा जान पड़ता है। वहाँ साहित्य की छटा है और ऐसे स्थल पुस्तक में कम नहीं हैं। इस प्रकार, पुस्तक शुद्ध साहित्य भी है। साहित्य का लक्षण है, वह वेदना की वाणी जो निरी अपनी न हो, अर्थात् प्रेम की हो। वैसी वेदना पुस्तक में पर्याप्त है। वह ही उसे साहित्य बनाती है।

उस वेदना को हृदयंगम करके हम फिर तनिक जवाहरलाल की जीवन-धारा की ओर मुड़ें और स्रोत पर पहुँचें।

युवा नेहरू ने जीवन में प्रवेश किया है। उत्साह उसके मन में है, प्रेम और प्रशंसा तथा सम्पन्नता उसके चारों ओर है और सामने विस्तृत जीवन के अनेक प्रश्न हैं,—अनेक आकांक्षाएँ और भविष्य की यवनिका के शनैः शनैः खुलने की प्रतीक्षा है। अभी तो वह अज्ञेय है, अँधेरा है।

जवान नेहरू आशा से भरा है। आशा है, इसलिए असंतोष है, भविष्य के प्रति उत्कंठा है, क्योंकि वर्तमान से तीव्र अतृप्ति है। वह विलायत में रहा है, वहीं पला है। जानता है, आज़ादी क्या होती है। जानता है, जिन्दगी क्या होती है। साहित्य पढ़ा है और उसके मन में स्वप्न हैं। लेकिन, अब यही आदमी हिन्दुस्तान में क्या देखता है? देखता है गुलामी! देखता है गंदगी!! देखता है निपट गरीबी!!! उसके मन में हुआ कि यह क्या अन्धेरा है? यह क्या राजव है?—उसका मन छटपटाने लगा। ऐसे और भी युवा थे जो परेशान थे।—जहाँ-तहाँ राष्ट्रीय यत्न चल रहे थे। वह इधर गया उधर मिला, पर कहीं तृप्ति नहीं मिली। ये लोग और ऐसे स्वराज्य लेंगे—वह अशान्त रहने लगा। जिनका प्रशंसक था उनकी आलोचना उसके मन में जागने लगी। वह युवक था आदर्शोन्मुख, अधीर, सम्पन्न और विद्वान्। कुछ वह चाहने लगा जो वास्तव इतना न हो जितना स्वप्न हो। पर, स्वप्न तो अशरीर होता है और मानव सशरीर। स्वप्न भला कब कब देह धारण करते हैं? लेकिन इस जवाहर का मन उसी की माँग करने लगा। उसके छटपटाते मन ने कहा कि ये उदार,—लिवरल लोग बूढ़े हैं। ये क्रान्तिकारी लोग बच्चे हैं। होमरूल में क्या है? समाज-सुधार से न चलेगा। ये छोटे-छोटे यत्न क्या काम आयेगे?—अरे! कुछ और चाहिए, कुछ और! बैरिस्टर जवाहर की सम्पन्नता और उसकी पढ़ाई ने उसमें भूख लहकाई—कुछ और, कुछ और!!

और जवाहरलाल को वह 'कुछ और' भी मिला। स्वप्न चाहता था, वह स्वप्न भी मिला! जवाहरलाल को गाँधी मिला!!

जवाहरलाल ने अपने पूरे बल से गाँधी का साथ पकड़ लिया। साथ पकड़े रहा, पकड़े रहा। पर गाँधी यात्री था। जवाहर ने अपने रास्ते पर गाँधी को पाया हो और,

६८ :: जैनेन्द्र के विचार

इस तरह, उसे अपने ही मार्ग पर गाँधी का साथ मिल गया हो। ऐसी तो बात नहीं थी। इसलिए, थोड़ी ही दूर चलने पर जवाहरलाल के मन में उठने लगा, 'हैं, यह क्या' मैं कहाँ जा रहा हूँ? क्या यही रास्ता है? यह आदमी कहाँ लिये जा रहा है? हैं, यह आदमी सच्चा जादूगर भी है! लेकिन, मुझे तो संभलना चाहिए।

गाँधी का साथ तो पकड़े रहा, लेकिन, शंकाएँ उसके मन में गहरा घर करने लगीं। लेकिन, जब साथ पकड़ा, तो छोड़नेवाला जवाहरलाल नहीं। हो जो हो। और वह अपनी शंकाओं को अपने मन में ही घोंट घोंट कर पीने का यत्न करने लगा।

उसके मन में क्लेश हो आया। शंकाएँ दाबे न दबती थीं। उसने आखिर लाचार हो जादूगर गाँधी से कहा—ठहरो, जरा मुझे बताओ कि यह क्या है? और वह क्या है? आओ, हम जरा ठहर कर सफर के बारे में समझ-बूझ तो लें!

गाँधी ने कहा—यह तो यह है; और वह वह है। मैं जानता हूँ, सब ठीक है। पर ठहरो नहीं, चले चलो।

जवाहर ने कहा—ठहरो! ठहरो!! बिना समझ-बूझ मैं नहीं चलूँगा।

गाँधी ने कहा—यह बहुत जरूरी बात है। जरूर समझ-बूझ लो। लेकिन मैं चला।

गाँधी रुका था कि चल पड़ा। जवाहरलाल ने कहा—चलने में मैं पीछे नहीं हूँ, लो, मैं भी साथ हूँ। लेकिन, समझूँ बूझूँगा जरूर।

गाँधी ने चलते चलते कहा—हाँ! हाँ!! जरूर।

लेकिन, जवाहरलाल की मुश्किल तो यह थी कि गाँधी का धर्म उसका धर्म नहीं था। गाँधी बड़ी दूर से चला आ रहा था। जानता था कि किस राह जा रहा हूँ और कहाँ जा रहा हूँ। जवाहरलाल परेशान, जाने के लिए अधीर, एक जगह किसी स्वप्न-दूत की राह देख रहा था। उसने कोई राह नहीं पाई थी कि आया गाँधी। और जवाहर उसी राह हो लिया। पर, उस राह पर उसे तृप्ति मिलती तो कैसे? हरेक को अपना मोक्ष आप बनाना होता है। इससे, अपनी राह भी आप बनानी होती है, यह तो सब का नियम है। इसलिए, चलते चलते एकाएक अटक कर जवाहरलाल ने गाँधी से कहा—नहीं! नहीं!! नहीं!!! मैं पहले समझ लूँगा और बूझ लूँगा। सुनो तो, इकोनॉमिक्स यह कहती है और पॉलिटिक्स वह। अब बताओ, हम क्यों न समझ-बूझ लें?

गाँधी ने कहा—जरूर समझ लो और जरूर बूझ लो। इकोनॉमिक्स की बात भी सुनो। पर रुकना कैसा? मेरी राह लम्बी है!

जवाहरलाल ने कहा—मैं बच्चा नहीं हूँ।

गाँधी ने कहा—तुम वीर हो।

जवाहरलाल ने कहा—मैं हारा नहीं हूँ, चलना नहीं छोड़ूँगा।

गाँधी ने कहा—चले तो चलो।

वह यात्रा तो हो ही रही है। लेकिन, जवाहरलाल के मन की पीड़ा बढ़ जाती है। उसके भीतर का क्लेश भीतर समाता नहीं है।—गांधी स्वप्न-पुरुष की भाँति उसे मिला। अब भी वह जादूगर है! ...लेकिन, अरे ! यह क्या बात है ? देखो, पॉलिटिक्स यह कहती है, इकोनॉमिक्स वह कहती है। और गांधी कहता है, धर्म। धर्म ? दकियानूसी बात है कि नहीं ? ...है गांधी महान्, लेकिन, आखिर तो आदमी है। पूरी तरह पढ़ने-पढ़ाने का उसे समय भी तो नहीं मिला। इंटरनेशनल पॉलिटिक्स जरा वह कम समझे, इसमें अचरज की बात क्या है ? ...और हाँ, कहीं यह रास्ता तो ग़लत नहीं है ? ...पॉलिटिक्स ...इकोनॉमिक्स ...लेकिन गांधी महान् है, सच्चा नेता है।

जवाहरलाल ने कहा—गांधी, सुनो, तुम्हें ठहरना जरूर पड़ेगा। हमारे पीछे लाखों की भीड़,—यह कांग्रेस, आ रही है। तुम और हम चाहे गड्डे में जायें, लेकिन कांग्रेस को गड्डे में नहीं भेज सकते। बताओ, यह तुम्हारा स्वराज्य क्या है जहाँ हम सबको लिये जा रहे हो ?

गांधी ने कहा—लेकिन ठहरो नहीं, चलते चलो। हाँ स्वराज्य ? वह राम-राज्य है।

—राम-राज्य ! लेकिन हमको तो स्वराज्य चाहिए,—आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक ...।

—हाँ ! हाँ !! ठीक तो है, आर्थिक, राजनीतिक ...पर धीमे न पड़ो, चले चलो।

—धीमे ? लेकिन, आपका रास्ता ही ग़लत हो तो ?

—सही होने की श्रद्धा नहीं है तो अवश्य दूसरा रास्ता देख लो। मैं जा रहा हूँ।

जवाहरलाल समझने-बूझने को ठहर गया। गांधी अपनी राह कुछ आगे बढ़ गया। जवाहरलाल ने चिल्लाकर कहा—लेकिन सुनो ! अरे जरा सुनो तो !! तुम्हारा रास्ता ग़लत है। मुझे थोड़ा थोड़ा सही रास्ता दीखने लगा है।

गांधी ने कहा—हाँ होगा, लेकिन जवाहर, मुझे लम्बी राह तय करनी है। तुम मुझे बहुत याद रहोगे।

जवाहरलाल को एक गुरु मिला था, एक साथी। वह कितना जवाहरलाल के मन में बस गया था ! उसका प्यार जवाहरलाल के मन में ऐसा ज़िन्दा है कि खुद उसकी जान भी उतनी नहीं है। उसका साथ अब छूट गया है।—लेकिन, राह तो वह नहीं है, दूसरी है,—यह बात भी उसके मन के भीतर बोल रही है। वह ऐसे बोल रही है जैसे बुखार में नब्ब। वह करे तो क्या करे !

इतने में पीछे से कांग्रेस की भीड़ आ गई।

पूछा—जवाहर, क्या बात है ? हाँफ क्यों रहे हो ? रुक क्यों गए ?

जवाहरलाल ने कहा—रास्ता यह नहीं है।

भीड़ के एक भाग ने कहा—लेकिन, गांधी तो वह जा रहा है !

७७ : जेनेन्द्र के विचार

जवाहरलाल ने कहा—हाँ, जा रहा है। गाँधी महान् है। लेकिन, रास्ता यह नहीं है। पॉलिटिक्स और कहती है।

भीड़ में से कुछ लोगों ने कहा—ठीक तो है। रास्ता यह नहीं है। हम पहले से जानते थे, आओ जरा सुस्ता लें, फिर लौटेंगे।

जवाहरलाल ने कहा—हाँ, रास्ता तो यह नहीं है और आओ जरा सुस्ता भी लें। पर लौटना कैसा ? देखो, दायें हाथ रास्ता जाता है।—इधर चलना है।

भीड़ में से कुछ लोगों ने कहा—लेकिन गाँधी...

जवाहरलाल का कण्ठ आर्द्र हो आया। बड़ी कठिनाई से उसने कहा—गाँधी महान् है, लेकिन रास्ता...

आगे जवाहरलाल से न बोला गया। वाणी रुक गई, आँखों में आँसू आ गये।

इस पर लोगों ने कहा—जवाहरलाल की जय !

कुछ ने वही पुराना घोष उठाया—गाँधी की जय !

और गाँधी उसी रास्ते पर आगे चला जा रहा था जहाँ इन जयकारों की आवाज थोड़ी थोड़ी ही उस तक पहुँच सकी।

ऊपर के कल्पना-चित्र से जवाहरलाल की व्यथा का अनुभव हमें लग सकता है। उस व्यथा की कीमत प्रतिक्षण उसे देनी पड़ रही है, इसी से जवाहरलाल महान् है। उस व्यथा की ध्वनि पुस्तक में व्यापी है, इसी से पुस्तक भी साहित्य है। जिसकी ओर बरबस मन उसका खिंचता है, उसी से बुद्धि की लड़ाई ठन पड़ी है। शायद, भीतर जानता है, यह सब बुद्धि-युद्ध व्यर्थ है, लेकिन व्यर्थता का चक्कर एकाएक कटता भी तो नहीं। बुद्धि का फेर ही जो है। आज उसी के व्यूह में घुसकर योद्धा की भाँति जवाहरलाल युद्ध कर रहा है, पर निकलना नहीं जानता।

यहाँ मुझे अपने ही वे शब्द याद आते हैं जो न जाने कहाँ लिखे थे—

"While Gandhi is a consummation, Jawaharlal is a noble piece of tragedy. Describe Gandhi as inhuman if you please, but Jawaharlal is human to the core. May be, he is concertingly so."

जहाँ से जवाहरलाल दूसरी राह टटोलते हैं और अपना मत-भेद स्पष्ट करते देखते हैं, उसी स्थल से पुस्तक कहानी हो जाती है। वहाँ जैसे लेखक में अपने प्रति तटस्थता नहीं है। वहाँ लेखक मानो पाठक से प्रत्याशा रखता है कि जिसे मैं सही समझता हूँ, उसे तुम भी सही समझो, जिसे ग़लत कहता हूँ उसे ग़लत। वहाँ लेखक दर्शक ही नहीं, प्रदर्शक भी है। वहाँ भावना से आगे बढ़कर वासना भी आ जाती है। यों वासना किसमें नहीं होती ?—वह मानव का हक है। लेकिन, लेखक का अपनी कृति में वासना-हीन का ही नाता खरा नाता है। वही आर्टिस्टिक है। जवाहरलाल की कृति में वह आ गया है जो इनार्टिस्टिक है, अमुन्दर है। आधुनिक राजनीति (या कहो कांग्रेस-राजनीति) में

जिस समय से अधिकारपूर्वक प्रवेश करते हैं, उसी समय से अपने जीवन के पर्यवेक्षण में लेखक जवाहरलाल उतने निस्संग नहीं दीखते ।

आत्म-चरित लिखना एक प्रकार से आत्म-दान का ही रूप है । नहीं तो, मुझे किसी के जीवन की घटनाओं को जानने अथवा अपने जीवन की घटनाओं को जताने से क्या फायदा ? परिस्थितियाँ सबकी अलग होती हैं । इससे घटनाएँ भी सबके जीवन में एक-सी नहीं घट सकतीं । लेकिन, फिर भी, फायदा है । वह फायदा यह है कि दूसरे के जीवन में हम अपने जीवन की झाँकी लेते हैं । जीवन-तत्त्व सब जगह एक है और हर एक जिन्दगी में वह है जो हमें लाभ दे सके । वस्तुतः जीवन एक क्रीड़ा है । सबका पार्ट अलग अलग है । फिर भी, एक का दूसरे से नाता है । लेकिन, यदि एक दूसरे से कुछ पा सकता है तो वह उसका आत्मानुभव ही, अहंता नहीं ।

इस भाँति, आत्म-चरित अपनी अनुभूतियों का समर्पण है । जवाहरलालजी का आत्म-चरित सम्पूर्णतः वह ही नहीं है । उसके समर्पण के साथ आरोप भी है, आग्रह भी है । लेखक की अपनी अनुभूतियाँ ही नहीं दी गई हैं,— अपने अभिमत, अपने विधि-निषेध, अपने मत-विश्वास भी दिये गये हैं और इस भाँति दिये गये हैं कि वे स्वयं इतने सामने आ जाते हैं कि लेखक का व्यक्तित्व पीछे रह जाता है ।

यहाँ क्या एक बात मैं कहूँ ? ऐसा लगता है कि विधाता ने जवाहरलाल में प्राणों की जितनी श्रेष्ठ पूँजी रक्खी उसके अनुकूल परिस्थितियाँ देने की कृपा उसने उनके प्रति नहीं की । परिस्थितियों की जो सुविधा जन-सामान्य को मिलती है, उससे जवाहरलाल को वंचित रक्खा गया है । जवाहरलालजी को वाजिव शिकायत हो सकती है कि उन्हें ऊँचे घराने और सब सुख-सुविधाओं के बीच क्यों पैदा किया गया ? इस दुर्भाग्य के लिए जवाहरलाल सचमुच रुष्ट हो सकते हैं और कोई उन्हें दोष नहीं दे सकता । इस खुश और बद-नसीबी का परिणाम आज भी उनके व्यक्तित्व में से घुलकर साफ नहीं हो सका है ।

वह हठीले समाजवादी हैं,—इतने राजनीतिक हैं कि बिल्कुल देहाती नहीं हैं ।—सो क्यों ? इसीलिए तो नहीं कि अपनी सम्पन्नता और कुलीनता के विरुद्ध उनके मन में चुनौती भरी रहती है ? वह व्यक्तित्व में उनके हल नहीं हो सकी है, फूटती रहती है और उन्हें बेचैन रखती है ।

बीस से चौबीस वर्ष तक की अवस्था का युवक सामान्यतया अपने को दुनिया के आमने-सामने पाता है । उसे झगड़ना पड़ता है तब जीना उसके लिए सम्भव होता है । दुनिया उसको उपेक्षा देती है और उसकी टक्कर से उस युवा में आत्म-जागृति उत्पन्न होती है । चाहे तो वह युवक इस संघर्ष में डूब सकता है चाहे चमक सकता है ।

इतिहास के महापुरुषों में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जहाँ विधाता ने उन्हें ऐसे जीवन-संघर्ष का और विपत्तियों का दान देने में अपनी ओर से कंजूसी की हो । पर, मैं क्या आज विधाता से पूछ सकता हूँ कि जवाहरलाल को आत्मा देकर, जवाहरलाल

की किस भूल से, उसने लाड़-प्यार और प्रशंसा-स्वीकृति के वातावरण में पनपने को लाचार किया ? मैं कहता हूँ, विधना ने यह छल किया ।

परिणाम शायद यह है कि जवाहरलाल पूरी तरह स्वयं नहीं हो सके । वह इतने व्यक्तित्व नहीं हो सके कि व्यक्ति रहें ही नहीं । थियरी उनको नहीं पाने चलती, वही उसको खोजते हैं । शास्त्रीय ज्ञान की टेकन उनकी टेकन है,—हाँ, शास्त्र आधुनिक हैं । (पुस्तक में कितने और कैसे कमाल के रेफरेन्स और उदाहरण हैं !) शास्त्र उनके मस्तक में है, दिल में नहीं । दिल में शास्त्र का सार ही पहुँचता है, बाकी छूट जाता है । इसी से, अनजान में वह शास्त्र के प्रति अवज्ञाशील हो जाते हैं । एक 'इज़म' का सहारा लेते हैं, दूसरे 'इज़मों' पर प्रहार करते हैं । सब यह है कि वह पूरे जवाहरलाल नहीं हो सके हैं तभी एक 'इस्ट' (सोशलिस्ट) हैं और, ध्यान रहे वह पैतृक 'इज़म' नहीं है ।

चूँकि उन समस्याओं से उन्हें सामना नहीं करना पड़ा जो आये दिन की आदमी की बहुत करीब की समस्याएँ हैं, इसी से उनके मन में जीवन-समस्याओं के अतिरिक्त और अलग तरह की बौद्धिक समस्याएँ घिर आईं ।

आदमी का मन और बुद्धि खाली नहीं रहते । सचमुच की उन्हें उलझन नहीं है, तो वह कुछ उलझन बना लेते हैं । जीवन-समस्या नहीं तो बुद्धि-समस्या को वे बौद्धिक रूप ही दे देते हैं । क्या यह इसी से है कि उनकी बौद्धिक चिन्ता रोटी और कपड़े के राजनीतिक प्रोग्राम से ज्यादा उलझी रहती है,—क्योंकि, रोटी और कपड़े की समस्या के साथ उनका रोमांस का सम्बन्ध है ।

स्थूल अभाव का जीवन उनके लिए रोमांस है । क्या ऐसा इसीलिए है कि उनका व्यावहारिक जीवन जब कि देहाती नहीं है तब बुद्धि उसी देहात के स्थूल जीवन की ओर लगी रहती है ? और लोग तो चलते धरती पर हैं, कल्पना आस्मानी करते हैं ! जवाहरलालजी के साथ ही यह नियम नहीं है । क्या हम विघाता से पूछ सकते हैं कि यह विषमता क्यों है ?

जवाहरलालजी को देखकर मन प्रशंसा से भर जाता है । पुस्तक पढ़कर भी मन कुछ सहमे बिना न रहा । जब उस चेहरे पर झल्लाहट देखता हूँ, जानता हूँ कि इसके पीछे ही पीछे मुस्कराहट आ रही है ।

पर उनका मुस्कराता चेहरा देखकर भय-सा होता है कि अगली ही घड़ी इन्हें कहीं भीकना तो नहीं पड़ेगा !

पुस्तक में उसी रईस और कुलीन, लेकिन मिलनसार, वेदना में भीनी, खली और साफ़ तबीयत की झलक मिलती है । मन का खोट कहीं नहीं है, पर मिजाज जगह-जगह है ।

निकट भूत और वर्तमान जीवन के प्रति असंलग्नता पुस्तक में प्रमाणित नहीं हुई है, फिर भी, एक विशेष प्रकार की हृदय की सच्चाई यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है ।

पुस्तक में अन्त की ओर खासे लम्बे विवेचन और विवाद हैं। हमारे अधिकतर विवाद शब्दों का झमेला होते हैं। जब तक मतिया भिन्न हैं, तब तक एक शब्द का अर्थ एक हो ही नहीं सकता। सजीव शब्द अनेकार्थवाची हुए बिना जियेगा कैसे ? यह न हो तो वह शब्द सजीव कैसा ? पर जवाहरलाल जी इसी कथन पर विवाद पर उतारू हो सकते हैं। उन्होंने एक लेख में लिख भी दिया था कि एक शब्द दिमाग पर एक तस्वीर छोड़ता है और उसे एक ओर स्पष्टार्थवाची होना चाहिए वगैरह वगैरह....। पर, वह बात उनकी अपनी अनुभूत नहीं हो सकती। सुनने में भी वह किताबी है। इसलिए, उन विद्वत्तापूर्वक किये गये विवादों को हम छोड़ दें। यह अपनी अपनी समझ का प्रश्न है। कोई नहीं कह सकता है कि जवाहरलाल गलत हैं, चाहे वह यही कहें कि वह और वही सही हैं।

जवाहरलालजी आज की भारत की राजनीति में जीवित शक्ति हैं। उनके विश्वास रेखाबद्ध हों, पर वे गहरे हैं। कहने को मुझे यही हो सकता है कि रेखाबद्ध होने से उनकी शक्ति बढ़ती नहीं घटती है, और स्वरूप साफ नहीं विकृत होता है। उस पर वह कर्म-तत्पर भी हैं। विभेद उनके राजनीतिक कर्म की शिला है। वे जन्म से ब्राह्मण, वर्ग से क्षत्रिय हैं, पर मन उनका अत्यन्त मानवीय है। सूर्योदय की वेला के प्रभात में भी उन्हें प्रीति है। पशु-पक्षियों में, वनस्पतियों में, प्रकृति में, तारों से चमक जाने वाली अँधेरी-उजली रातों में, भविष्य में, इस अज्ञेय और अजेय शक्ति में, जो है और नहीं भी है,—इन सब में भी जवाहरलालजी का मन प्रीति और रस लेता है। उस मन में कट्टरता हो, पर जिज्ञासा भी गहरी भरी है। वही जिज्ञासा से भीना स्नेह का रस जब तनिक-तनिक अविश्वस्त उनकी मुस्कराहट में फूटता है, तब कट्टरता भी अमृत में नहा जाती है। वह नेता हैं और चाहे पार्टी राजनीतिक भी हो, पर यह सब तो बाहरी और ऊपरी बातें हैं। जवाहरलालजी का असली मूल्य तो इसमें है कि वह तत्पर और जाग्रत व्यक्ति हैं। उस निर्मम तत्परता और जिज्ञासु जागृति की छाप पुस्तक में है और इसी से पुस्तक सुन्दर और स्थायी साहित्य की गणना में रह जायगी।

□ □

आप क्या करते हैं ?

जब पहले पहल दो व्यक्ति मिलते हैं तो परस्पर पूछते हैं, 'आपका शुभ नाम ?' नाम के बाद अगर आगे बढ़ने की वृत्ति हुई तो पूछते हैं, 'आप क्या करते हैं ?'

'क्या करते हैं ?' इसके जवाब में एक दूसरे को मालूम होता है कि उनमें से एक वकील है, दूसरा डॉक्टर है। इसी तरह वे आपस में दूकानदार, मुलाजिम, अध्यापक इंजीनियर आदि आदि हुआ करते हैं।

पर इस तरह के प्रश्न के जवाब में मैं हक्का-बक्का रह जाता हूँ। मैं डॉक्टर भी नहीं हूँ, वकील भी नहीं हूँ, कुछ भी ऐसा नहीं हूँ जिसको कोई संज्ञा ठीक ठीक ढँक सके। बस वही हूँ जो मेरा नाम है। मेरा नाम दयाराम है तो दयाराम मैं हूँ। नाम रहीमबख्श होता तो मैं रहीमबख्श होता। 'दयाराम' शब्द के कुछ भी अर्थ होते हों, और 'रहीम-बख्श' के भी जो चाहे माने हों, मेरा उनके मतलब से कोई मतलब नहीं है। मैं जो भी हूँ वही बना रहकर दयाराम या रहीमबख्श रहूँगा। मेरा सम्पूर्ण और सच्चा परिचय इन नामों से आगे होकर नहीं रहता, न भिन्न होकर रहता है। इन नामों के शब्दों के अर्थ तक भी वह परिचय नहीं जाता। क्योंकि, नाम नाम है, यानी, वह ऐसी वस्तु है जिसका अपना आपा कुछ भी नहीं है। इसलिए, उस नाम के भीतर सम्पूर्णता से मैं ही हो गया हूँ।

खैर, वह बात छोड़िए। मुझ से पूछा गया, 'आपका शुभ नाम ?' मैंने बताया—'दयाराम'। दया का या और किसी का राम मैं किसी प्रकार भी नहीं हूँ। पर किसी अतर्क्य पद्धति से मेरे दयाराम हो रहने से उन पूछने वाले मेरे नए मित्र को मेरे साथ व्यवहार-वर्णन करने में सुभीता हो जायगा। जहाँ मैं दीखा, बड़ी आसानी से पुकार कर वह पूछ लेंगे, 'कहो दयाराम, क्या हाल है ?' और मैं भी बड़ी आसानी से दयाराम के नाम पर हँस-बोल कर उन्हें अपना या इधर-उधर का जो हाल-चाल होगा बता दूँगा।

यहाँ तक तो सब ठीक है। लेकिन, जब यह नए मित्र आगे बढ़ कर पूछते हैं, 'भाई, करते क्या हो ?' तब मुझे मालूम होता है कि यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि क्या कहूँ ? 'क्या कहूँ' का प्रश्न तो मुझे अपने पग-पग आगे बैठा दीखता है। जी होता है, पूछूँ, 'क्या आप बताइएगा, क्या कहूँ ?' मैं क्या क्या बताऊँ कि आज यह यह किया।—

सबेरे पाँच बजे उठा; छह बजे घूम कर आया; फिर बच्चे को पढ़ाया; फिर अखबार पढ़ा; फिर बगीचे की क्या-कियाँ सींचीं; फिर नहाया, नाश्ता किया,—फिर यह किया, फिर वह किया। इस तरह अब तीन बजे तक कुछ न कुछ तो मुझ से होता ही रहा है, यानी मैं करता ही रहा हूँ। अब तीसरे पहर के तीन बजे यह जो मिले हैं नए मित्र, तो इनके सवाल पर क्या मैं इन्हें सबेरे पाँच से अब तीन बजे तक की अपनी सब कार्रवाइयों का बखान सुना जाऊँ? लेकिन, शायद, यह वह नहीं चाहते। ऐसा मैं कलूँ तो शायद हमारी उगती हुई मित्रता सदा के लिए वहीं अस्त हो जाय। यदि उनका अभिप्राय वह जानना है जो उनके प्रश्न पूछने के समय मैं कर रहा हूँ, तो साफ है कि मैं उनका प्रश्न सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ। तब क्या यह कह पड़ूँ कि, 'मित्रवर, मैं आपकी बात सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ।' नहीं, ऐसा कहना ठीक न होगा। मित्र इससे कुछ समझेंगे तो नहीं, उल्टा बुरा मानेंगे। दयाराम मूर्ख तो हो सकता है, पर बुरा होना नहीं चाहता। इसलिए, उस प्रश्न के जवाब में मैं, मूर्ख का मूर्ख, कोरी निगाह से बस उन्हें देखता रह जाता हूँ।—बल्कि, थोड़ा-बहुत और भी अतिरिक्त मूढ़ बनकर लाज में सकुच जाता हूँ। पूछना चाहता हूँ कि 'कृपया आप बता सकते हैं कि मैं क्या कलूँ—यानी क्या कहूँ कि यह करता हूँ?'

किन्तु, यह सौभाग्य की बात है कि मित्र अधिकतर कृपापूर्वक यह जान कर संतुष्ट होते हैं कि दयाराम मेरा ही नाम है। वह नाम अखबारों में कभी कभी छपा भी करता है। इससे, दयाराम होने के बहाने मैं बच जाता हूँ। यह नाम की महिमा है। नहीं तो, दिन में जाने कितनी बार मुझे अपनी मूढ़ता का सामना करना पड़े।

आज अपने भाग्य के व्यंग्य पर मैं बहुत विस्मित हूँ। किस बड़भागी पिता ने इस दुर्भागि बेटे का नाम रक्खा था 'दयाराम'। उन्हें पा सकूँ तो कहूँ, 'पिता, तुम खूब हो! बेटा तो डूबने ही योग्य था, किंतु तुम्हारे दिये नाम से ही वह भोला, चतुर मित्रों से भरे, इस दुनिया के सागर में उतराता हुआ जी रहा है। उसी नाम से वह तर जाय तो तर भी जाय। नहीं तो, डूबना ही उसके भाग्य में था। पिता, तुम जहाँ हो, मेरा प्रणाम लो। पिता, मेरा विनीत प्रणाम ले लो। उस प्रणाम की कृतज्ञता के भरोसे ही, उसी के लिए मैं जी रहा हूँ, जीना भी चाहता हूँ पिता, नहीं तो, मैं एकदम मतिमंद हूँ और जाने क्यों जीने-लायक हूँ!'

पर आपसे बात करते समय पिता की बात छोड़ूँ। अपने इस जीवन में मैंने उन्हें सदा खोया पाया। रो-रोकर उन्हें याद करने से आपका क्या लाभ? और आपको क्या, मुझे क्या—दोनों को आपके लाभ की बात करनी चाहिए।

तो मैंने कहा, 'कृपापूर्वक बताइए, क्या कलूँ? बहुत भटका, पर मैंने जाना कुछ नहीं। आप मिले हैं, अब आप बता दीजिए।'

उन नए मित्र ने बताया कुछ नहीं, वे बिना बोले आगे बढ़ गये। मैं भी चला। आगे उन्हें एक अन्य व्यक्ति मिले। पूछा, 'आप क्या करते हैं?'

७६ :: जैनेन्द्र के विचार

उत्तर मिला, 'मैं डॉक्टर हूँ।'

सज्जन मित्र ने कहा, 'ओ: आप डॉक्टर हैं ! बड़ी खुशी हुई। नमस्ते डॉक्टरजी, नमस्ते। खूब दर्शन हुए। कभी मकान पर दर्शन दीजिए न।—जी हाँ, यह लीजिए मेरा कार्ड।...रोड पर...कोठी है।—जी हाँ, आपकी ही है। पधारिएगा। कृपा कृपा। अच्छा, नमस्ते।'

मुझे इन उद्गारों पर बहुत प्रसन्नता हुई। किन्तु, मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे दयाराम होने से उन व्यक्ति का डॉक्टर होना किसी कदर अधिक ठीक बात है। लेकिन, दयाराम होना भी कोई ग़लत बात तो नहीं है !

किन्तु, मित्रवर कुछ आगे बढ़ गये थे। मैं भी चला। एक तीसरे व्यक्ति मिले। कोठी वाले मित्र ने नाम-परिचय के बाद पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

'वकील हूँ ?'

'ओ: वकील है ! बड़ी प्रसन्नता के समाचार हैं। नमस्ते, वकील साहब नमस्ते। मिलकर भाग्य धन्य हुए। मेरे बहनोई का भतीजा इस साल लॉ फाइनल में है। मेरे लायक खिदमत हो तो बतलाइए। जी हाँ, आप ही की कोठी है। कभी पधारिएगा। अच्छा जी नमस्ते, नमस्ते नमस्ते।'

इस हर्षोद्गार पर मैं प्रसन्न ही हो सकता था। किन्तु, मुझे लगा कि बीच में वकीलता के आ उपस्थित होने के कारण दोनों की मित्रता की राह सुगम हो गई है।

यह तो ठीक है। डॉक्टर या वकील या और कोई पेशेवर होकर व्यक्ति की मित्रता की पात्रता बढ़ जाय इसमें मुझे क्या आपत्ति ? इस संबंध में मेरी अपनी अपात्रता मेरे निकट इतनी सुस्पष्ट प्रकट है, और वह इतनी निविड़ है कि उस बारे में मेरे मन में कोई चिंता ही नहीं रह गई है। लेकिन, मुझे रह-रहकर एक बात पर अचरज होता है। प्रश्न जो पूछा गया था वह तो यह था कि, 'आप क्या करते हैं ?' उत्तर में डॉक्टर और वकील ने कहा कि वे डॉक्टर और वकील हैं। मुझे अब अचरज यह है कि उन प्रश्नकर्त्ता मित्र ने मुड़कर फिर क्यों नहीं पूछा कि, 'यह तो ठीक है कि आप डॉक्टर और वकील हैं। आप डॉक्टर रहिए, आप वकील रहिए। लेकिन, कृपया, आप करते क्या हैं ?'

समझ में नहीं आता कि प्रश्नकर्त्ता मित्र ने अपने प्रश्न को फिर क्यों नहीं दोहराया, लेकिन, मतिमूढ़ मैं क्या जानूँ ? प्रश्नकर्त्ता तो मुझ जैसे कम समझ नहीं रहे होंगे। इसलिए, डॉक्टर और वकील वाला जवाब पाकर वह असली भेद की बात समझ गये होंगे। लेकिन, वह असली बात क्या है ?

खैर, इन उदाहरणों से काम की सीख लेकर मैं आगे बढ़ा। राह में एक सदभिप्राय सज्जन मिले जिन्होंने पूछा—

'आपका शुभ नाम ?'

'दयाराम।'

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं कायस्थ हूँ, श्रीवास्तव ।’

‘जी नहीं, आप करते क्या हैं ?’

‘मैं श्रीवास्तव कायस्थ हूँ । पाँच बजे उठा था, छः बजे घूम कर लौटा, फिर... और फिर...’

लेकिन, देखता क्या हूँ कि वह सज्जन तो मुझे बोलता ही हुआ छोड़कर आगे बढ़ गये हैं, पीछे घूमकर देखना भी नहीं चाहते । मैंने अपना कपाल ठोक लिया । यह तो मैं जानता हूँ कि मैं मूढ़ हूँ । बिल्कुल निकम्मा आदमी हूँ । लेकिन, मेरे श्रीवास्तव होने में क्या गलती है ? कोई वकील है, कोई डॉक्टर है । मैं वकील नहीं हूँ, डॉक्टर भी नहीं हूँ । लेकिन, मैं श्रीवास्तव तो हूँ । इस बात की तसदीक दे और दिला सकता हूँ । अखबार वाले ‘दयाराम श्रीवास्तव’ छाप कर मेरा श्रीवास्तव होना मानते हैं । मतलब यह नहीं कि मेरी श्री वास्तव है, न यही कि कोई वास्तव श्री मुझमें है; लेकिन जो मेरे पिता थे वही मेरे पिता थे । और वह मुझे अकाट्य रूप से श्रीवास्तव छोड़ गये हैं । जब यह बात बिल्कुल निर्विवाद है तो मेरे श्रीवास्तव होने की सत्यता को जानकर नए परिचित वैसे ही आश्चर्य क्यों नहीं होते जैसे किसी के वकील या डॉक्टर होने की सूचना पर आश्चर्य होते हैं ?

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं डॉक्टर हूँ ।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं वकील हूँ ।’

‘तुम क्या करते हो ?’

‘मैं श्रीवास्तव हूँ ।’

मैं श्रीवास्तव तो हूँ ही । इसमें रस्ती-भर झूठ नहीं है । फिर, मेरी तरह का जवाब देने पर वकील और डॉक्टर भी बेवकूफ क्यों नहीं समझे जाते ?

वे लोग मेरे जैसे, अर्थात् बेवकूफ, नहीं हैं यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ । तब फिर उनके वकील होने से भी अधिक मैं श्रीवास्तव होकर बेवकूफ किस बहाने समझ लिया जाता हूँ, यह मैं जानना चाहता हूँ ।

‘मूर्ख !’ एक सद्गुरु ने कहा, ‘तू कुछ नहीं समझता । अरे, डॉक्टर डॉक्टरी करता है, वकील वकालत करता है । तू क्या श्रीवास्तवी करता है ?’

यह बात तो ठीक है कि मैं किसी ‘श्री’ की कोई ‘वास्तवी’ नहीं करता । लेकिन, सद्गुरु के ज्ञान से मुझ में बोध नहीं जागा । मैंने कहा, ‘जी, मैं कोई श्रीवास्तवी नहीं करता हूँ । लेकिन, वह वकालत क्या है जिसको वकील करता है ? और वह डॉक्टरी क्या है जिसको डॉक्टर करता है ?’

‘अरे मूढ़ !’ उन्होंने कहा, ‘तू यह भी नहीं जानता ! अदालत जानता है कि

‘नहीं ? अस्पताल जानता है कि नहीं ?’

‘हाँ, मैंने कहा, ‘वह तो जानता हूँ।’

‘तो बस’ गुरु ने कहा, ‘अदालत में वकील वकालत करता है। अस्पताल में डॉक्टर डॉक्टरी करता है।’

‘अजी, तो वकालत को वह ‘करता’ क्या है ! जैसे मैं खाना खाता हूँ, यानी, खाने को मैं खा लेता हूँ, वैसे वह वकालत को क्या करता है ?’

‘अरे तू है मूढ़ !’ उन्होंने कहा, ‘सुन, वह अदालत के हाकिम से बोलता है, बतलाता है, बहस करता है, कानूनी बात निकालता है। कानून में फँसे लोगों की वही तो सार-संभाल करता है !’

‘तो यह बात है कि वह बात करता है, बतलाता है, बहस करता है। कानून की बात निकालता है, उसके सताए आदमियों की मदद करता है। लेकिन, आप तो कहते थे कि वह ‘वकालत’ करता है ! वकालत में बात ही तो करता है ! फिर, ‘वकालत’ कहाँ हुई ?—बात हुई। बात तो मैं भी कर रहा हूँ। क्यों जी ?’

उन्होंने झट्लाकर कहा, ‘अरे, इस सब काम को ही वकालत कहते हैं !’

‘तो वकालत करना, बात करना है। मैं तो सोचता था, न जाने वह क्या है। अच्छा जी, वकालत को करके वह क्या करता है ?—यानी, अदालत में वह बहुत बातें करता है। उन बातों को करके भी, वह क्या करता है ?’

उन्होंने कहा, ‘रे मतिमंद, तू कुछ नहीं जानता। बातों ही का तो काम है। बात बिना क्या ? वकील के बातों के ही तो पैसे हैं। उन बातों से वह जीता है, और फिर उन्हीं से बड़ा आदमी बनता है।’

उन बातों को करके वह बड़ा आदमी बनता है,—अब मैं समझ गया, जी। लेकिन जो बड़ा नहीं है, आदमी तो वह भी है न—क्यों जी ? मैं दिन भर सच-झूठ बात कहेँ तो मैं भी बड़ा हो जाऊँ, और बड़ा न होऊँ, तब भी मैं आदमी रहा कि नहीं रहा ?’

उन्होंने कहा, ‘तू मूढ़ है। बड़ा तू क्या होगा ? तू आदमी भी नहीं है।’

‘लेकिन जी, बात तो मैं भी करता हूँ। अब कर रहा हूँ कि नहीं ? लेकिन, फिर भी मैं अपने को निकम्मा लगता हूँ। ऐसा क्यों है ?’

‘अरे तू मतलब की, काम की बात जो नहीं करता है ?’

‘अजी, तो बात करने का काम तो करता हूँ ! यह कम मतलब है ?’

वह बोले, ‘अच्छा, जा जा, सिर न खा। तू गधा है।’

अब यह बात तो मैं जानता हूँ कि गधा नहीं हूँ। चाहूँ तो भी नहीं हो सकता। गधे की तरह सींग तो अगर्चे मेरे भी नहीं हैं, लेकिन, इतना मेरा विश्वास मानिए कि यह साम्य होने पर भी गधा मैं नहीं हूँ। मैं तो दयाराम हूँ। कोई गधा दयाराम होता है ? और मैं श्रीवास्तव हूँ,—कोई गधा श्रीवास्तव होता है ? वकील-डॉक्टर नहीं हूँ, लेकिन श्रीवास्तव तो मैं हर वकालत-डॉक्टरी से अधिक सचाई के साथ हूँ। इसलिए, उन गुरुजन

के पास से मैं चुपचाप भले आदमी की भाँति सिर झुकाकर चला आया।

लेकिन, दुनिया में वकील-डॉक्टर ही सब नहीं हैं। यों तो इस दुनिया में हम-जैसे लोग भी हैं जिनके पास बताने को या तो अपना नाम है या बहुत-से बहुत कुल-गोत्र का परिचय है ! इसके अलावा जिन्होंने इस दुनिया में कुछ भी अर्जित नहीं किया है, ऐसे अपने जैसे लोगों की तो इनमें गिनती क्या कीजिए ! पर सौभाग्य यह है कि ऐसे लोग बहुत नहीं हैं। अधिकतर लोग संभ्रान्त हैं, गणनीय हैं, और उनके पास बताने को काफ़ी कुछ रहता है।

‘आप क्या करते हैं ?’

‘बैकर हूँ।—जी हाँ, साहूकार।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘कारोबार होता है। बम्बई, कलकत्ता, हाँगकाँग में हमारे दफ्तर हैं।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं एम० ए० पास हूँ।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मैं एम० एल० ए० हूँ,—लाट साहब की कौंसिल का मेंबर।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘ओ ! आप नहीं जानते ? हँ,—हँ,—हँ : राजा चंद्रचूड़सिंह मुझे ही कहते हैं। गोपालपुर,—८६ लाख की स्टेट, जी हाँ, आपकी ही है।’

‘आप क्या करते हैं ?’

‘मुझ राजकवि से आप अनभिज्ञ हैं ? मैं कविता करता हूँ।’

‘कविता ! उसका क्या करते हैं ?’

‘श्रीमान्, मैं कविता करता हूँ। मैं उसी को कर देता हूँ साहब। और क्या करूँगा ?’

अत्यन्त हर्ष के समाचार हैं कि बहुत लोग बहुत-कुछ करते हैं और लगभग सब लोग कुछ न कुछ करते हैं। लेकिन, मेरी समझ में न बहुत आता है न कुछ आता है।

दुकान पर बैठे रहना, गाहक से मीठी बात करना और पटा लेना, उसकी जेब से पैसे कुछ ज्यादा ले लेना और अपनी दुकान से सामान उसे कुछ कम दे देना,—व्यापार का यही तो ‘करना’ है ! इसमें ‘किया’ क्या गया ?

पर क्यों साहब, किया क्यों नहीं गया ? कसकर कमई जो की गई है ! एक साल में तीन लाख का मुनाफ़ा हुआ है,—आपको कुछ पता भी है ! और आप कहते हैं किया नहीं गया !

लेकिन, दयाराम सच कहता है कि, दो रोज़ के भूखे अपने समूचे तन को और मन को लेकर भी, उन तीन लाख मुनाफे वालों का काम उसे समझ में नहीं आता है।

और साहूकार रुपया दे देता है और ब्याज संभलवा लेता है।—देता है उसी

८० :: जैनेन्द्र के विचार

इकट्ठे हुए ब्याज में से। देता कम है, लेता ज्यादा है। इससे वह साहूकार होता जस्ता है और मोटा होता जाता है।

अगर वह दे ज्यादा और ले कम,—तो क्या हम यह कहेंगे कि उसने काम कम किया ? क्यों ? उसने तो देने का काम खूब किया है ! लेकिन इस तरह एक दिन आएगा कि वह साहूकार नहीं रहेगा और निकम्मे आदमियों की गिनती में आ जायगा।

तो साहूकारी 'काम' क्या हुआ ? खूब काम करके भी आदमी जब निकम्मा बन सकता है तो उससे तो यही सिद्ध होता है कि साहूकारी अपने आप में कुछ 'काम' नहीं है।

और राजा, राजकवि, कौंसिलर, एम० ए० पास,—ये सब जो भी हैं क्या वह वह मेरे अपने श्रीवास्तव होने से अधिक हैं ? मैं श्रीवास्तव होने के लिए कुछ नहीं करता हूँ। बस, यह कहता हूँ कि अपने बाप का बेटा बना रहता हूँ। तब, इन लोगों में, इनकी उपाधियों से, अपने आप में कौन-सा 'काम करना' गभित हो गया,—यह मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता है।

मैं भी बात करता हूँ और कभी कभी तो बहुत ही बढ़िया बात करता हूँ;—सच, आप दयाराम को झूठा न समझें ! काम-बेकाम की बातें लिखता भी हूँ; अपने घर में ऐसे बैठता हूँ जैसे कौन्सिलर कौन्सिल में बैठता है ; बच्चों पर नवाब बना हुकूमत भी चलाता हूँ,—लेकिन, यह सब करके भी मैं बड़ी आसानी से छोटा आदमी और निकम्मा आदमी बना हुआ हूँ। इससे मुझे कोई दिक्कत नहीं होती।

फिर, बड़ा-आदमीपन क्या ? और वह है क्या जिसे 'काम' कहते हैं ?

एक किताब है, गीता। ऊपर के तमाम स-‘काम’ आदमी भी कहते सुने जाते हैं कि गीता बड़े 'काम' की किताब है। मैं मूढ़-मति क्या उसे समझूँ ! पर एक दिन साहस-पूर्वक उठाकर जो उसे खोलता हूँ, तो देखा, लिखा है, 'कर्म करो। कर्म में अकर्म करो।'।

यह क्यों बात हुई ! करना अकर्म है, तो वह कर्म में क्यों किया जाय ? और जब वह किया गया तो 'अकर्म' कैसे रह गया ? जो किया जायगा वह तो 'कर्म' हैं, उस 'कर्म' को करते करते भी उसमें 'अ-कर्म' कैसे साधा जाय ? और गीता कहती है—उस अकर्म को साधना ही एक कर्म है,—वह परम पुरुषार्थ है।

होगा। हमारी समझ में क्या आवे ! दुनिया तो कर्म-युतों की है। आप कर्मण्य हैं,—आप धन्य हैं। तब, क्या कृपा कर मुझ दयाराम को भी अपने कर्म का भेद बताएँगे ?

कहानी नहीं

अभी कहानी की बात न कीजिए। मैं आज ही बाहर से आया हूँ और मेरा दिमाग जिस बात से भरा है वह कहानी नहीं है; इसलिए, खुशनुमा भी वह नहीं है। वह सच्ची सच्चाई है, साफ़ है और बदनुमा है। मैं उससे छुट्टी पाना चाहता हूँ। मैं दिमाग साफ़ चाहता हूँ। वेमत्तलब की कोई बात मैं कहा नहीं चाहता।

मुझे किसी बहस से क्या बहस है? मैं आराम से रहना चाहता हूँ। कमाता हूँ, खाता हूँ और चैन से रह सकता हूँ। मुझे किसी के रोग-सोग से क्या काम है? मैं बखेड़ा नहीं चाहता। जिदगी मेरी अपनी है। मौज से बिताऊँगा और कुछ आड़े नहीं आने दूँगा।

अपनी जिदगी अपने हाथ है। बनाओ, चाहे बिगाड़ो। मैं उसे बिगाड़ूँगा नहीं। मैं उसे बना-बनाकर ऐसा खूब बनाना चाहता हूँ कि सब डाह करें।—देखा तो है लोगों को! बहक में दसियों बिगड़ गये हैं। दिल देने में क्या लगता है? दिल पर काबू पाना आना चाहिए।

यहाँ जो ये सतरें लिखता हूँ इससे यह न समझना चाहिए कि दिल मेरा कमजोर है। बात असल यह है कि जो वाक्या अभी देखकर आ रहा हूँ उसे कह डालकर खत्म कर देना चाहता हूँ। उस पर परेशान होना मुझे मंजूर नहीं। जायदाद के किराए और बैंक के सूद की आमदनी खासी चोखी है। सो क्यों न मैं चैन से दिन काटूँ? जितने दिन हैं उतने दिन हैं। उन्हें रोककर बिताओ तो, ऐश में गुजार दो तो! मैं रोने का कायल नहीं। अपनी तो ऐश से बीतेगी।

लेकिन, ये ऐसे ऐसे वाक्यात क्यों हो जाते हैं? होते हैं तो हों, लेकिन हमारी आँख के सामने क्यों आते हैं? गोया वह हमें डराना चाहते हैं! पर मैं डरना नहीं चाहता।

जी हाँ, लिटरेचर पढ़ता हूँ। मजहब की किताबें भी देखी हैं। वक्त पर मेरा दिल भी मुलायम होता है। आईडियल की बात नहीं जानता सो नहीं। साधू-संत, फकीर-दरवेश, सबकी इबादत करता हूँ। क्या नहीं करता? क्या नहीं जानता? नेकी का कायल हूँ। हकपरस्त हूँ। हकीकत पाने की स्वाहिश रखता हूँ। दान देता हूँ। सोसाइटी में आता-जाता हूँ।

८२ :: जैनेन्द्र के विचार

यह सब सही है। लेकिन, उस सबके बाद यह और भी सही है कि मेरी जिंदगी मेरी है। किसी और को उसमें उलझाना गलती है। भलाई करनी चाहिए, लेकिन खुद खटाई में न पड़ना चाहिए। जो अपने पास है, वही अपना है। बाकी सब वेगाना है। जिसने यह पहचाना, वह रहा। जो यह भूला, वह गया।

लेकिन, सवाल यह उठता है कि वेहूदे वाक़आत दुनिया में क्यों होते हैं ? उसके बाद सवाल यह है कि अगर वे होते ही हैं, तो हम जैसे खुशबख्तों की आँखों के सामने क्यों आते हैं ?

मिसाल के लिए लीजिए कि दुनिया में गीदड़ होते हैं। इस दिल्ली में काफ़ी हैं, नई दिल्ली में और भी कसरत से हैं। रात में वे हो-हो-हो-हो की आवाज़ में भूंकते हैं। मैंने अपनी कोठी में इंतज़ाम किया है कि एक आदमी बंदूक लेकर रात-भर बैठा जागता रहे, हो-हो की आवाज़ आए और बंदूक दाग दे। यह इंतज़ाम पक्का है और मेरी कोठी भी ढंग की बनी है। वह गीदड़ों की आवाज़ तो होती ही होगी, होती ही है, लेकिन मुझसे वह दूर रहती है। यानी मतलब यह, कि इंतज़ाम को बीच में डालकर मैंने अपने को उससे दूर बना लिया है।

अब, जनाब, इसी नई दिल्ली में वायसराय साहब भी रहते हैं। मेरी तो कोई बात नहीं, लेकिन क्या यह क़यास किया जा सकता है कि किसी भी हालत में उनकी नींद हाराम होने दी जाती होगी ? गीदड़ भूंकते हैं तो भूँकें, लेकिन, क्या उनको पता भी लग सकता है कि गीदड़ भूँक रहे हैं ?

यही उसूल है। बहुत से नाखुश-गवार वाक़आत होते हैं। वे नहीं रुक सकते तो न रुकें। उन्हें होना ही है, तो हों। लेकिन, यह तो आम लोगों का फ़र्ज़ है कि वे हम खास लोगों के सामने न आने दिये जायें। और पहले तो उन वाक़आत का ही फ़र्ज़ है कि वे अगर अपनी बदबख्त सूरत नहीं बदल सकते तो हम जैसे नेकमाश और खुशबख्त लोगों के नसीब से तो डरें, और हमारे सामने मुंह दिखाने की जुरअत न करें।

पर ज़माना खराब है और किसी को अपने फ़र्ज़ का ख़याल नहीं है। और तो और, ऊँच-नीच का भेद ही मिटा जाता है ! अदना आला होने का दम भरता है और स्तबे और हैसियत का लिहाज़ नहीं रह गया है ! खैर, वह छोड़िए। दिन बुरे तो हैं ही। उनका गिला क्या ? क़यामत नज़दीक ही है और बदबख्तों को अपनी बदबख्ती का फल चखना होगा। लेकिन, सवाल यह है कि जो हुआ वह हुआ क्यों ? और अगर उसे होना ही था तो मेरी आँखों के आगे क्यों हुआ ? आप नहीं जानते, यह सवाल कितना अहम है और मुझे कितना तंग कर रहा है। आँखों की राह चीज़ दिल तक चली जाती है तो परेशानी का बायस होती है। यों, कुछ होता रहे, दिल पाक चाहिए। आँखों के अंधे में यही तो खूबी है। आँखें देखती हैं, पर जो देखती हैं वह कहीं भी अंदर नहीं पहुँचता,— बाहर ही बाहर रहता है; न दिमाग को हरकत देता है, न दिल पर असर करता

है। मैं कहता हूँ कि ऐसे लोग गैरत हैं। जो हाँ, गैरत हैं, उनकी आँख हुई न हुई, एकसाँ है।

मैं उन लोगों में नहीं हूँ। आँख रखता हूँ और उनके पीछे दिलोदिमाग रखता हूँ। जो देखता हूँ सो समझता हूँ और उसकी तह में जाता हूँ। जो हाँ, तभी तो मैं इस कदर परेशान दीखता हूँ!

और आप कहते हैं,—कहानी कहानी। मैं बाज आया आपकी कहानी से। कहानी न हुई बला हो गई! कहानी खेल नहीं है। यूँ, कहानी खेल से भी बदतर है। दिलबस्तगी की कहानी चाहिए तो हटिए, मुझे न सताइए।

किसी ने आपको गलत खबर दी कि वह चीज मुझे मयस्सर है। दिल यहाँ यूँ ही बेकस है। मसले पर मसले दरपेश है और दिल उलझन में रहता है। एक पेंच खुलता नहीं कि दूसरा पेंच आ लड़ता है। दिमाग वाले की कैफियत बस कुछ न पूछिए,—वह है कि पल भर चैन नहीं। कुछ न कुछ उकड़ा खुलने के लिए सिर पर अड़ा खड़ा है। यही है कि क्रिस्मत ने ज़रा दौलत बख़्शी है तो दिल-बहलाव का कुछ सामान भी हो जाता है और तबीयत ज्युं-त्युं हलकी कर लिया करता हूँ। नहीं तो, दिमाग पर वह वह जिम्मेदारियों के बोझ हैं कि क्या अफलातून संभालता होगा!

मैं क्या क्या ज़िक्क करूँ? एक बात तो है नहीं। दसियों बातें हैं। और वह ऐसी एक में एक उलझी हैं कि एक को छेड़ा नहीं कि सब उधड़ पड़ती हैं। तब संभालिए,—कैसे संभालिएगा? लीजिए, दिमाग में वह जूएँ-सी रेंग रेंग कर फिर रही हैं! और आपने किसी को पकड़ने की कोशिश की नहीं कि वह पंजे गाड़ सिमित कर वहीं चिपक रहती हैं। अब किये जाइए कोशिश।—वह वहाँ से उखड़ती ही नहीं। खैरियत यही है कि आप सकून से बैठे रहें और दिमाग के साथ छेड़छाड़ न करें। वह दिमाग भी क्या अजब चीज है! एक बार छेड़ा कि भन्नाकर ही दम लेता है, फिर उसे चुप करना मुश्किल है।

मुद्दा यह है,—यानी, सवाल यह है, यानी—जी, मैं क्या कह रहा था? हाँ, यानी—

तो ठहरिए। असली बात याद कर लूँ।—जाने क्या कहना शुरू किया था? बताइए साहब—

जी हाँ, ठीक ठीक। अब याद आया। सवाल यह है कि,—जी हाँ, यही है कि—अलीगढ़ का स्टेशन था। मैं सेकिंड क्लास में था। एक साहब और थे। वह अखबार में महब थे।—और ठीक वही चीज थी, यानी अखबार, जिससे मैं ऊबा हुआ था। प्लेटफार्म पर बहार थी। मेल-ट्रेन से जाने वाले दोस्तों को छोड़ने के लिए दोस्त लोग आये थे। कुछ दोस्त अपने दोस्तों के इस्तक्रवाल के लिए आये होंगे। वे ही दोस्त, दो यहाँ चार वहाँ, मिल बोल रहे थे। सब अपना अपना ढब और सभी अपने बारे में मुतमअन थे। प्लेटफार्म जीता जागता गैरगाह था और अपनी बहार पर था। खोमचे वालों की

बन रही थी और वह वह आवाजें आती थीं कि चिड़ियाघर मात था ।

लेकिन, क्रिस्मत की मार देखिए कि मैं अपनी सीट पर आकर रेल की दूसरी तरफ भी निगाह डालता हूँ । बोलिए, इसकी क्या जरूरत थी ? खाली बैठे मुझे यह क्या सूझा ? यह मेरा अहमकपन था कि नहीं ? क्या खुशनुमा था जो प्लेटफार्म पर न था ? इधर निगाह डालने की आखिर जरूरत क्या थी ? ? पर गलती की, तो उसका नतीजा भी सामने आया ! देखता क्या हूँ कि चार-छः उठाईगीरे-से लड़के नीचे खड़े गिड़-गिड़ा कर पैसे माँग रहे हैं और दुआएँ दे रहे हैं । दो-एक उनमें लड़कियाँ भी थीं । जाने वे कहाँ की पैदावार थे ! आँखें, कान, नाक, मुँह तो इनसान जैसे उनके थे, पर क्या वे इनसान के बच्चे थे ? तोबह ! तोबह ! हुलिए की कुछ न पूछिए । एक-एक के पास कपड़े वह नुमायशी थे कि क्या बात ! अबल तो वह इतने मुस्तसर थे कि इसमें शक है कि थे भी कि नहीं । फिर नये मकूले के मुताबिक उनमें हवा न रोकने की खास सिफ़त थी । झरोखे उनमें काफ़ी तदाद में और काफ़ी कुशादा थे । कपड़े वे बिना रंगरेज की मदद के सियाह थे । लड़की एक पाँच बरस की होगी । अंधी थी और कोढ़ से उसके दाँयें हाथ की दो उँगलियाँ दो ठूँठ-सी आधी आधी रह गई थीं और एक लड़का उसका हाथ पकड़कर आगे आगे खींच रहा था । जाने इन लड़कों को दुआएँ देना कौन सिखाता है ! ऐसी दुआएँ दे रहे थे कि बेतरतीब, बेसलीके ।

एक एक डिब्बे पर ठहरते और एक साँस में वहाँ अपनी सब दुआओं का खज़ाना उड़ेल देते । फिर पैसा माँगते,—इनसान की फ़ितरत पर उनका झरोखा अब भी कायम था । ताज्जुब है, क्यों कायम था, क्यों उठ नहीं चुका था ! वह बिना पैसा पाये आसानी से डिब्बा न छोड़ते थे । इस डिब्बे से वह डिब्बा और फिर अगला डिब्बा और फिर अगला और—

अजब हैरानी तो यह है कि मैं उन्हें देखकर फिर भी देखता ही रह गया । क्यों नहीं उधर की खिड़की चढ़ाकर मैं अपना अँग्रेजी जासूसी नाविल पढ़ने लगा ? सचमुच ख्याल आता है कि इतनी ज़रा-सी समझ मुझे उस वक़्त क्यों न हुई ! नाविल मज्जेदार था और हिज लार्डशिप के क्रल का भेद कुछ इस तरीक़े से खुलता जाता था कि हर लेडीशिप परेशान थी और अग़लब था कि क्रल में मुहई यानी हर लेडीशिप की शरकत ही न साबित हो जाय ! नाविल के उस संगीन मामले को छोड़कर इधर इन बाहियात भिखमगे लड़के-लड़कियों की बदसलीबी देखने में लग जाना सरासर हिमाक़त थी, लेकिन फिर भी मैं उस तरफ़ क्यों देखता रह गया, यह ताज्जुब है ।

आखिर वे मेरे डिब्बे के नीचे ही आ खड़े हुए । मैंने झिड़क कर कहा—हटो, हटो !

—बाबू, तुम्हारे लड़के-बच्चे जियें ! बाबू, तुम्हें राजपाट मिले ! बाबू, तुम्हारी नौकरी बढ़े ! बाबू, तुम्हें धन मिले ! बाबू, एक पैसा !

मैंने कहा—यह सेकिड क्लास है ! हटो, हटो ! !

—बाबू, तुम्हारे औलाद-पुत्र जियें ! बाबू, तुम्हें धन मिले ! तुम्हें राज्य मिले ! नौकरी बढ़े ! बाबू, एक पैसा !

मैंने झिड़ककर कहा—क्या है ? भीख माँगते शर्म नहीं आती है ? आगे बढ़ो, आगे बढ़ो !

इस झुंड में पीछे की तरफ एक लड़की खड़ी थी। दस बरस की उसकी उम्र होगी। वह सबसे डरपोक थी, शर्मीली थी और पीछे रहती थी। वह सबसे दुबली थी और आँखें उसकी सबसे बड़ी थीं। वह मुँह से कुछ भी नहीं कहती थी, वह आँखों से देख कर रह जाती थी। ऐसा मालूम होता था कि एक डिव्वे के सामने खड़े होकर वह किसी एक आदमी पर आँखें गड़ा लेती थी। जब झुंड चलता, वह भी चल पड़ती थी। उससे पहले वहाँ से आँख न हटाती थी। मैंने देखा, उसकी आँखें मुझ पर एक-टक गड़ गई हैं। इतने में अगले, शायद तीसरे दर्जे के, डिव्वे से किसी ने उसी लड़की को मुखातिब करके एक पैसा पीछे की तरफ फेंका। पैसा गिरा, कई बच्चे झपटे। लड़की नजदीक थी और पैसा झट झपट कर उसने उठा लिया। इतने में देखता क्या हूँ कि एक लड़का उस पर झपट पड़ा है और उसकी गत बना कर पैसा उसने छीन लिया है। बाल उसके ओर फैल गये हैं, तन पर खरोंच लग गई हैं, लेकिन लड़की फिर वैसी ही गुम-सुम सूनी आँखों से मेरे डिव्वे में मुझे देखती हुई वहीं खड़ी हो गई है !

इतने में रेल चल दी। पहले तो लड़की खड़ी ही रही, फिर दौड़कर मेरे डिव्वे के पास आ गई और साथ साथ भागने लगी।—बाबू ! एक पैसा !

वह साथ साथ भागती रही। प्लेटफार्म का करीब करीब किनारा ही आ गया था। मैंने पैसा निकाला और उसकी तरफ फेंक दिया।—जी हाँ, यह बेवकूफी भी की !

वह तो, खैर, हुआ, लेकिन सवाल यह है कि मेरी परेशानी का सबब क्या है ? यह सही है कि भिखमंगे नहीं होने चाहिएँ। लेकिन, यह सही क्यों है कि अगर भिखमंगे हैं तो मुझे परेशान होना चाहिएँ,—मेरा क्या जिम्मा है ? मैं तो भिखारी नहीं हूँ। मेरे पास तो पैसा है और मैं तो चैन से रह सकता हूँ। फिर रहें भिखारी तो रहें ! मेरा उनसे क्या सरोकार है ? क्या वास्ता है ?

लेकिन, सवाल तो असल यही है कि मैं जानता हूँ, ताहम मैं परेशान हूँ। आखिर किस वजह से परेशान हूँ ? सबब क्या ? अलीगढ़ स्टेशन अब कोसों दूर गया। मैं नई दिल्ली की कोठी में हूँ। यहाँ बीबी है, बच्चे हैं, लाइब्रेरी है, दोस्त-अहवाब हैं, सिनेमा-तमाशे हैं। तब फिर मेरा दिल आराम क्यों नहीं पा रहा है ?

क्या मैं समझता हूँ कि मेरा एक पैसा हालात में कुछ भी फर्क डालेगा ? पैसा न देता तो क्या कोई खास खराबी हो जाती ? ताहम एक पैसा मैंने निकाल फेंका, वह क्यों ?

सवाल यही है क्यों मैं पैसा दे छूटा ? भिखमंगा मेरा कौन था ? कौन है ? किस

८६ : : जैनेन्द्र के विचार

इस्तिथार से, किस हक से, वह मेरे दिल के सकून में दखलन्दाज होता है ?

क्यों कर उसे यह जुरअत है ? क्यों वह मेरे दिमाग का पीछा करता है ?
किसने उसे यह इजाजत दी ? क्यों उन्हें कोई जेलखाने में बन्द नहीं कर देता ?—
मेरी आँखों से दूर रहें ।—लेकिन, क्या जेलखाने में होकर मुझसे दूर वह हो जाएँगे ?
हकीकतन, हो जाएँगे ?

जी हाँ,—सवाल यह है । यह सवाल बड़ा है और मुझे परेशान कर रहा है ।
यही मुझ में भरा है, और इस वक्त मैं आपकी कहानी-वहानी कुछ नहीं जानता ।

□ □

राम-कथा

एक बार पड़ोसी सज्जन के यहाँ से निमन्त्रण आया। दशहरा पास आ रहा है, दूर से एक विद्वान् पण्डित पधारे हैं, रामायण की कथा होगी,—मैं कृपा कर कथा में सम्मिलित होकर उत्सव की शोभा बढ़ाऊँ।

उत्सव की तो शोभा मुझ से क्या बढ़ सकती है; लेकिन, रामायण कोटि कोटि भारतीयों को प्यारी है। मैं भी उस प्यार को चाहता हूँ। मैंने रामायण नहीं पढ़ी है, अंग्रेजी पढ़ी है; पर मुझे इस अंग्रेजी की जगह रामायण न पढ़ने पर गर्व नहीं है। कई मौकों पर जब सहस्रों नर-नारियों के समुदाय को राम-सीता के स्तुति-गान पर गदगद हो जाते देखा है, तब मैं उन सब लोगों को 'मूढ़-मति' कहकर टाल नहीं सका हूँ। मैं बरबस उनसे प्रभावित हो जाता हूँ। राम के प्रति और सीता के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उठती है। मैं अंग्रेजी पढ़ा हूँ और हो सकता है कि बुद्धिमान के लिए श्रद्धा की अपेक्षा तर्क अधिक बुद्धि-संगत हो; पर मेरी श्रद्धा मुझे बुरी नहीं लगती। यह श्रद्धा अति अनायास भाव से मेरी तर्क-बुद्धि को लाँघ जाती है। नहीं मानूँगा कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूँ; पर, सच कहूँ तो, श्रद्धा में मुझे अपनी बुद्धि की विफलता नहीं मालूम होती, कुछ सफलता ही मालूम होती है।

रामायण मैंने पढ़ी नहीं है, फिर भी मैं प्रकृत भाव से उन कोटि कोटि भारतीयों के समक्ष बन जाना चाहता हूँ जो राम में परमात्मा देखते हैं और राम-नाम के स्मरण से जिनको चित्त-शुद्धि प्राप्त होती है।

भारत दीन है, वह परतन्त्र है। पश्चिम बढ़ रहा है और भारत मूढ़ता में पड़ा है। विज्ञान आविष्कार कर रहा है, भारत धर्म पर माया टेके वहीं ऊँघ रहा है। धर्म भारत का नशा है, वह क्लैव्य है, वह बुद्धि-हीनता है। भारत ऐसे ही तो परतन्त्र बना ! पश्चिम ने उस पर प्रभुता स्थापित की और भारत पद-दलित बना हुआ अब भी अपने धर्म के गीता गाता और अतीत के सपने लेता है। उसे शक्ति चाहिए, शक्ति ! उसे क्षमता चाहिए, बुद्धि चाहिए, विज्ञान चाहिए। उसे धर्म से छुट्टी चाहिए। यह धर्म ही तो उसका रोग है। जिसने उसे निष्प्राण बना डाला है !

ऐसा कहा जाता है। ठीक ही कहा जाता होगा ! कहने वाले वाग्मी विद्वान् हैं, वे विचक्षण हैं, वे गलत क्यों कहेंगे ? वे अध्ययन तुलनात्मक करते हैं। वे पक्षहीन बात

करते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान देखा है और विलायतें भी देखी हैं। उनकी बात क्यों पुरता नहीं होगी? यह किसकी स्पर्धा है कि कहे वह बात गलत भी हो सकेगी। बात उनकी है, तब क्यों ठीक ही नहीं होगी?

लेकिन, मैं जानता नहीं। पढ़कर भी कुछ अधिक नहीं जाना हूँ। तभी तो जन-सामान्य से मैं प्रभावित होता हूँ! सचमुच प्रभावित होता हूँ! उस प्रभाव से इनकार कैसा? कोटि कोटि ग्रामीणों के प्रणम्य उन सीता, राम, लक्ष्मण को तर्क से छिन्न-भिन्न करके अपने से दूर मुझ से नहीं किया जाता। मैं तो स्वयं उनके उस उत्साह में भाग लेने लगता हूँ। मुझे यह सब पसन्द भी आता है। तर्कवादी के सम्मुख मैं अपनी इस भावना को लेकर नहीं पड़ सकता। मैं जानता हूँ, वह अतर्क्य है। तर्क के सामने वह चुप हो रहेगी और मैं निरुत्तर दीखूंगा। मैं तर्कवादी से यही निवेदन कर सकूंगा कि वह मुझे क्षम्य स्वीकार करें और मुझे इजाजत दें कि मैं पड़ोसी मित्र की रामायण की कथा में चला जा सकूँ।

मैं कथा में गया। पंडितजी बहुत अच्छी कथा बाँचते थे। सुन्दर गाते थे और तुलसीदासजी की रामायण उन्हें कण्ठस्थ थी। वह गौर-वर्ण सुडौल आकृति के पुरुष थे। कण्ठ सुरीला था, मुख आत्म-विश्वास में प्रसन्न। श्मश्रु-हीन चेहरे पर कुछ स्निग्ध आभा थी। अत्यन्त अनुकूल भाव-भंगिमा के साथ वे कथा बाँचते थे।

सुन्दरता सब जगह काम आने वाली चीज है। तपस्वी सुन्दर क्यों न हो? पंडित अपने को सुन्दर क्यों न रखे? कुछ और गुण पीछे भी दीखें, सुन्दरता तो सामने से ही दीखती है! उससे काम आसान होता है। सुन्दरता गुण है। चाहो तो वह आयुध भी है। मुझको ऐसा मालूम हुआ कि पंडितजी इस तत्त्व के तत्त्वज्ञ भी हैं। वे अज्ञान में नहीं हैं कि वे सुन्दर हैं और वे अपने को सुयत्नपूर्वक वैसा रखते भी हैं। उन्हें अभी युवा ही कहिए, यौवन की दीप्ति उनके आसपास है।

शताधिक नर-नारी वहाँ उपस्थित हैं और पंडितजी का गला स्वच्छ है। अब मेरे साथ एक त्रुटि है कि श्रीरामचन्द्र की महिमा मुझे इस प्रकार के आयोजन की सहायता पाकर कुछ विशेष उन्नत हो गई हुई नहीं जान पड़ती है। मैं अपने और राम के बीच में माध्यम अपनी श्रद्धा का ही पाऊँ, यह मुझे सचिकर होता है। जब मध्य में कोई व्याख्या अथवा व्याख्याता उपस्थित हो, तब मेरी श्रद्धा मेरे ही भीतर सिमट रहती है और वहाँ आलोचना जागती है। यह मेरे स्वभाव की प्रकृति मुझे बहुत खलती है। आलोचना मनुष्य पर क्यों छाये? आलोचना सदा बन्ध्या है, वह उपलब्धि में बाधा है; पर, सोच लिया करता हूँ कि एक बात है—व्यक्ति को विवेक तो चाहिए ही। विवेक में अस्वीकृति अनिवार्य है। अस्वीकृति की शक्ति न हो तो जीवन क्या रह जाय,—निश्शक्त गीले मोम की भाँति कुछ आकार धारण करने के लिए बस वह निरा परापेदी ही न हो जाय! पर जीवन को तो कहीं हीरे की भाँति दृढ़ होना पड़ता है और कहीं

वायु की भाँति अवकाशसारी बनना पड़ता है। इसलिए, मैं किंचित् आलोचना को कथंचित् अपने साथ चलने भी देता हूँ।

पण्डितजी ने गले में कुछ मालाएँ स्वीकार कीं, फिर कुछ पूजन आदि किया, मंगलाचरण किया, और रामचन्द्र के जीवन के इतिवृत्त का संक्षिप्त बखान आरम्भ किया। बताया कि अमुक तिथि, अमुक घड़ी, अमुक लग्न में अपने पिता राजा दशरथ के अयोध्या के महलों में माता महारानी कौशल्या की कुक्षि से भगवान् ने अवतार धारण किया। इससे आगे वह कुछ और कह रहे थे, तभी मेरा ध्यान अन्यत्र चला गया।

मनुष्य भी विचित्र प्राणी है। वह क्या विचित्र है ! —असल में जो उसके भीतर छोटा-सा मन दबककर बैठा हुआ है, सारी विचित्रता तो उस मन की है ! वह मन न देश की बाधा मानता है, न काल की। इस घड़ी यहाँ बैठे हो, तो यह मन उड़कर कहाँ पहुँच गया है, ठिकाना नहीं। दस बरस, बीस बरस, पचास, सौ, लाख, करोड़ बरस पहले कहीं मन चला गया है, या वह मन लाखों बरस आगे पहुँच गया है,—कुछ भी हिसाब नहीं। यह सारा सफ़र वह मन छन में कर लेता है। इसी मन के बूते पर ही तो कवि लोग कह देते हैं कि व्यक्ति असीम है। साढ़े तीन हाथ का मानव व्यक्ति असीम भला क्या ? इस अनन्त योजनाओं के विस्तार वाले विश्व में वह नन्ही-बूंद-सा भी तो नहीं है ! पर उस नन्हीं बूंद के भीतर नन्हीं से भी जो कुछ नन्हीं चीज है, वही कम्बख्त तो समीपता में बँधकर पल-भर के लिए भी चैन से बैठती नहीं।

और, न उस मन के लिए देश की बाधा है। यहाँ घरती पर रक्खी कुर्सी पर बैठे हो, पर मन आसमान में उड़ रहा है। आसमान क्यों, वह सूरज में चला गया है। सूरज को पार कर वह जाने फिर कहाँ कहाँ भागा फिर रहा है ! उस पर रोक-थाम ही नहीं चलती। मन तो मन है, उसके लिए कब यह नियम बन सका है कि वह किसी पण्डित की सुस्वर-कंठ-लहरी में गाई जाती हुई राम-कथा में से उठकर और कहीं न जा सकेगा ! सो मेरा मन और ही तमाशे की ओर चला गया।

—कुछ रोज पहले की बात है। सप्ताह-भर हुआ होगा। ऊपर बादल हो रहे थे। वर्षा होने वाली थी। मौसम अनुकूल था। उस समय वह कमरा मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ जहाँ ऊपर साँवला आसमान तो है नहीं, कोरी छत है। और जहाँ चारों दिशाएँ भी खुली नहीं हैं, बस चारों ओर से पक्की दीवारें घिरी हैं। सो मैं कमरे में से निकलकर बाहर आया। बाहर आकर देखता हूँ कि हरीश और विमला में कुछ चर्चा छिड़ी है। वह किसी तत्त्व पर उलझे हैं और मेरे बाहर आने का उन्हें पता ही नहीं लगा है।

हरीश ने कहा—मैं बड़ा हूँ। मैंने ज्यादा आम खाये।

विमला बड़ी न हो; पर लड़की है। उसने जोर से कहा—मैंने खाये !

हरीश—मैंने पाँच खाये।

विमला—मैंने पाँच खाये !

हरीश—मैंने दस खाये !

विमला—मैंने दस खाये !

हरीश—मेरी बात तू क्यों कहती है ? —मैंने बीस खाये !

विमला—मैंने बीस खाये !

हरीश—तू झूठ बोलती है ।—मैंने चालीस खाये ।—मैंने पचास खाये ।

विमला को सहसा याद आया कि एक बड़ी चीज होती है जिसका नाम है, 'सौ' ।

उसने कहा—मैंने सौ खाये !

हरीश—सौ ! —मैंने पचास सौ हजार खाये ।

विमला ने बड़े गर्व से कहा— मैंने सत्तह खाये !

हरीश ने ताली बजाकर कहा—ओहो जी, सत्तह ज्यादा होते ही नहीं !

तब विमला ने तल्लीनता के साथ दोनों हाथ फैलाकर कहा—मैंने इत्ते खाये ।

हरीश एकदम खड़ा हो गया । पंजों के बल तनकर और अपनी दोनों बांहें खूब फैलाकर उसने कहा—मैंने इत्ते सबके सब खाये ।

विमला ने हरीश को देखकर कहा—नहीं खाये ।

हरीश बोला—मैंने खाये । सबके सब, बादल—जित्ते मैंने आम खाये ।

विमला—नहीं खाये ।

हरीश—मैंने,—मैंने,—मैंने रामजी-जित्ते खाये !

यह कहते कहते उसका फेंफड़ा भर गया, मानो अब इससे अधिक पूर्णता कहीं और नहीं है । मानो कि बस, अब आगे किसी के लिए भी गति नहीं है ।

विमला ने हरीश के इस निश्चिन्त गर्व को देखा । उनकी तमाम गिनती जहाँ पहुँचकर शान्त हो जाती है,—तमाम कल्पना, तमाम शक्ति जहाँ पहुँचकर समाप्त और सम्पूर्ण हो जाती है, वह हैं रामजी ! पर वह रामजी क्या हैं ?

विमला ने कहा—मैंने दो रामजी-जित्ते खाये ।

इस पर तनिक गम्भीर सदय भाव से हरीश ने कहा—रामजी दो होते ही नहीं, विमला ?

विमला आग्रही बनकर बोली—होते हैं ।

उस समय गुरुता के साथ हरीश ने कहा—विमला, रामजी दो नहीं होते ।

सुनकर विमला चुप हो गई । उस समय उसे यह मालूम नहीं हो रहा था कि वह हारी है; न हरीश को अपने जीतने का मान था, मानो हार-जीत दोनों रामजी में आकर अपना द्वित्व खो बैठे हैं । मानो जीत भी वहाँ वही है जो हार है ।

मैं यह सब देख रहा था । मैंने देखा कि रामजी तक आकर वे दोनों परस्पर निस्तब्ध हो गये हैं । वे दोनों एक दूसरे को देख रहे हैं पर ऐसे जैसे कि कहीं अन्यत्र पहुँचकर वे मिल गये हों और आपस की पृथक्ता उन्हें समझ न आ रही हो । मानो कि एक-दूसरे को देखते रहने के अतिरिक्त और कुछ उनके बीच संभव ही न हो ।

थोड़ी देर बाद हरीश ने कहा—अच्छा बताओ विमला, मेह कौन बरसाता है ?

विमला—बादल बरसाते हैं ।

हरीश—बादल नहीं बरसाते हैं !

विमला—तो कौन बरसाता है ?

हरीश ने बताया—रामजी बरसाते हैं ।

उस समय मुझसे रुका न गया और चलता हुआ मैं पास पहुँच गया; कहा—
कोई भी मेह नहीं बरसाता जी । इतनी देर से बादल भर रहे हैं । बताओ, कहीं मेह बरस
भी रहा है ? (और मैंने विमला को गोदी में उठा लिया) और क्यों जी हरीश बाबू,
तुम्हारा रामजी मेह जल्दी क्यों नहीं बरसाता है, क्या बैठा सोच रहा है ?

हरीश लजा गया और विमला भी लजा गई ।

पंडितजी की कथा सुनकर मुझे वह बालकों वाला रामजी याद आ गया ।
पंडितजी वाले रामचन्द्रजी, जो बाकायदा दशरथ के पुत्र हैं और जो निश्चित घड़ी में
जन्म लेते हैं, क्या वही हैं जो बालकों का मेह बरसाते हैं ? दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जी तो
पंडितजी की पंडिताई के मालूम हुए । बादलों के ऊपर, आसमान के भी ऊपर, सभी कुछ के
ऊपर, फिर भी सब कहीं जो एक अनिश्चित आकार-प्रकार के रामजी रहा करते हैं,
मेह तो वह बरसाते हैं । वह रामजी पंडिताई के नहीं, वह तो बालकों के बालकपन के ही
दीखते हैं । मैं सोचने लगा कि पंडित का पाण्डित्य क्या सचमुच बच्चे के बचपन से गम्भीर
सत्य नहीं है ? बालक का रामजी, जिसका उसे कुछ भी ठीक अता-पता नहीं है, उन
राजा रामचन्द्र से, जिनका रत्ती रत्ती व्यौरा पंडितजी को मालूम है, क्या कभी जीत
सकेगा ? क्या बालक बालक और पण्डित महान् नहीं हैं ? लेकिन वहाँ बैठे बैठे मुझे
प्रतीत हुआ कि दशरथ के पुत्र वाले रामचन्द्र में, जो कि पण्डित की व्याख्याओं में
प्रत्यक्षतः अधिकाधिक ठोस होते जा रहे हैं, मेरे मन को उतनी प्रीति नहीं प्राप्त होती है
जितनी बच्चों के 'रामजी' में । बच्चों का रामजी, कुछ हो, मुझे प्यारा तो मालूम
होता है ।

तभी पण्डितजी की ओर मेरी निगाह गई । उन्होंने मुख पर हाथ फेरा, केशों को
तनिक सँवारा, शिखा ठीक की, किञ्चित् स्मित से मुस्कराये और अत्यन्त सुरीली वाणी
में तनिक अतिरिक्त मिठास के साथ ताल-लय के अनुसार रामायण की चौपाई गा उठे ।

उनके निर्दोष गायन और पाण्डित्य-पूर्ण वक्तृत्व से प्रभावित होकर मैं सोचने
लगा कि क्या सचमुच इस समय पंडितजी के निकट अपनी वाणी-विलास, अपना वाक्-
कोशल, अपनी ही सत्ता दशरथ-पुत्र की सत्ता से अधिक प्रमुख और अधिक प्रलोभनीय
नहीं है ? मुझको ऐसा लगा कि उन पुण्यश्लोक रामचन्द्र को तो मैं मानूँ या न भी मानूँ;
पर उनकी कथा को लेकर इन पंडितजी के मुँह से अविराम निकलती हुई सुललित
वाग्धारा को तो मुझे प्रामाण्य मानना ही होगा,—कुछ ऐसा जादू पंडितजी में था । मुझे
प्रतीत हुआ कि राम-कथा साधन है, साध्य तो रामकथा का सुमिष्ट वाचन है । राम तो

६२ :: जेनेन्द्र के विचार

राम थे; वह कभी रहे होंगे; पर आज तो देखो, यह पंडितजी उस कथा का कैसा सुन्दर पारायण करते हैं ! कहो, पण्डितजी श्लाघनीय नहीं हैं ?

मुझको वे बच्चे याद हो आये जो रामजी की याद में जैसे सुध-बुध विसार बैठे थे। उनके लिए रामजी चाहे कितना ही अरूप-अव्यक्त हो; पर वह था। उस नाम पर वे उत्साहित हो सकते थे, या चुप हो सकते थे। था तो वह बालकों का बचपन ही, पर फिर भी वह बचपन उनका भाग था। 'राम'—यह मात्र शब्द के लिए न था, इससे कुछ बहुत अधिक था, बहुत अधिक था।

पण्डितजी के दशरथ-पुत्र रामचन्द्र भी क्या वैसे उनके निकट हैं ? मुझे जानना चाहिए कि वह रामचन्द्र अधिक स-इतिहास हैं, उनका नाम-धाम, पिता-माता, सगे-सम्बन्धी, तिथि-व्यौरा, उनके बारे का सब कुछ यह पण्डितजी जानते हैं। वह रामचन्द्रजी आवश्यक-रूप में अधिक प्रमाण-युक्त, शरीर-युक्त, तर्क-युक्त हैं। उनके सम्बन्ध में कम प्रश्न किये जा सकते हैं और लगभग सब प्रश्नों का उत्तर पंडितजी से पाया जा सकता है। लेकिन, क्या इसी कारण वह रामचंद्र पंडितजी से दूर और अलग नहीं बन गये हैं ? रामचन्द्र दशरथ के पुत्र थे; पर पण्डितजी अपने पिता के पुत्र हैं। इसलिए रामचन्द्रजी जो रहे हों रहें, पण्डितजी तो पण्डित ही रहेंगे। हाँ, राम-कथा करना उनका काम हो गया है, सो बड़े सुन्दर ढंग से वे उस कथा को कहेंगे। तदुपरांत, रामचन्द्र अलग वह अलग। उनका जीवन अपना जीवन है। वे जीवन का कोई भाग रामचन्द्र (के आदर्श) के हाथ में क्यों देंगे ?

यह सोचते-सोचते मैंने देखा कि राम-कथा-स्नेह से भीगी पण्डितजी की तल्लीन दृष्टि असावधान और कर्म-कठोर पुरुष-वर्ग की ओर से हटकर, रह-रहकर, धर्म-प्राण भक्ति-प्रवण अवलाओं की ओर अधिक आशा-भाव से बँध जाती है !

मुझे मालूम हुआ, कि मैं पण्डितजी के रामचन्द्र को छोड़कर बालकों के रामजी की ओर इस समय उठकर तनिक चला जाऊँ तो यह मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का अपमान शायद न होगा।

मैं उठा। इतने में पड़ोसी सज्जन लपककर पास आये, बोले—बैठिए बैठिए, बाबूजी।

मैंने कहा—मैं जाऊँगा जरा...

सज्जन ने हाथ जोड़कर कहा—जाइएगा ? आपने बड़ी कृपा की। लीजिए, यह प्रसाद तो लेते जाइए।

मैंने प्रसाद लिया और चला आया।



जरूरी भेदाभेद

भेद

एसोसिएशन का सदस्य तो मैं नहीं हूँ, सदस्य कहीं का भी नहीं हूँ, पर एक मित्र सदस्य हूँ, उनकी वजह से कभी कभी यहाँ आ जाता हूँ। एसोसिएशन को ज्ञात हुआ है कि मैं विलायत गया हूँ, अंगरेजी बोल लेता हूँ, अतः मेरी उपस्थिति उन्हें अप्रिय नहीं होती।

यही क्यों, कुछ लोगों से वहाँ बेतकलुफी भी हो गई है। एक है लाला महेश्वर-नाथजी। बहुत ज़िन्दादिल आदमी हैं। वकील हैं, और अच्छे बड़े वकील हैं। जायदाद भी है। अध्ययनशील हैं और नये विचारों के प्रशंसक हैं। सार्वजनिक सेवा के कामों में अच्छा योग देते रहते हैं। दिल खोलकर मिलते और बात करते हैं। मैं उनसे प्रभावित हूँ।

आज बीच में मसला सोशलिज्म का था और बैठक सरगम थी।

महेश्वरजी को सोशलिज्म का कायाल होने से कोई बचाव नहीं दीखता। उन्हें अचरज है कि कोई आदमी ईमानदार होकर सोशलिज्म को माने बिना कैसे रह सकता है! — यह सच्ची बात है, कोई जबरदस्ती सच्चाई से आँख मीचना चाहे तो बात दूसरी; पर सोशलिज्म उजाले के समान साफ है। हम और आप उसके समर्थक हो सकते हैं, चाहें तो विरोधी हो सकते हैं। पर हमारे समर्थन और विरोध की गिनती क्या है? सोशलिज्म युग-सत्य है, वह युग-धर्म है।

मैं इस तरह की बातों के बीच में कुछ विमूढ़ बन जाता हूँ,—सत्य क्या है, यह मैं नहीं जानता। और जब कोई निभ्रान्त होकर सामने कहता है कि सत्य अमुक और अमुक है, तब मैं ससम्भ्रम उसके चेहरे की ओर देखकर सोच उठता हूँ 'क्या पता है कि वही सत्य हो। तुम स्वयं तो कुछ जानते हो नहीं, तब यही कैसे कह सकते हो कि वह सत्य नहीं है!'

महेश्वरजी कहते रहे कि "जी हाँ, सोशलिज्म युग-धर्म है। मनुष्य व्यक्ति बन कर समाप्त नहीं है। वह समाज का अङ्ग है। समाज व्यक्ति से बड़ी सत्ता है। व्यक्तिगत परिभाषा खड़ी करके आदमी अपने को बाँध लेता है, कहता है, 'यह मेरी चीज, मेरी जायदाद!' इस तरह जितने व्यक्ति हैं उतने असंख्य स्वार्थ खड़े होते हैं। उन स्वार्थों में संघर्ष होता है और फलतः क्लेश उत्पन्न होता है। मनुष्य के कर्म में से और कर्म-फल में

से उसका यानी एक व्यक्ति का, स्वत्व-भाव उठ जाना चाहिए। एक संस्था हो जो समाज की प्रतिनिधि हो, जिसमें समस्त केन्द्रित हो,—एक सोशलिस्ट स्टेट। वह संस्था स्वत्वाधिकारी हो,—व्यक्ति समाज-संस्था के हाथ में हो, वह साधन हो, सेवक हो। और स्टेट (यानी वह संस्था) ही मूल व्यवसायों की मालिक हो, उपादानों की भी मालिक हो, भूमि की भी मालिक हो और फिर पैदावार की भी मालिक वही हो। व्यक्ति को आपा-घापी न करने दी जाय।—देखिए न आज एक दास है दूसरा प्रभु है। एक क्यों,—जब दस दास हैं तब एक प्रभु है। लड़ाइयाँ होती हैं,—कभी देश-प्रेम और दायित्व-रक्षा के नाम पर होती हैं पर असल में वे लड़ाइयाँ प्रभुओं के स्वार्थों में होती हैं और उन्हीं के पोषण के लिए होती हैं। उन युद्धों में हजारों-लाखों आदमी मरते हैं। पर उन लाखों की मौत उनको मोटा बनाती है जो युद्ध के असली कारण होते हैं। यह हालत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से पैदा हुई है। मनुष्य पशु है,—वह एक सामाजिक पशु है, नैतिक पशु है, या और कुछ चाहे कहिए, पर वह है औसतन् पशु। समाज का शासन उस पर अनिवार्य है। स्वत्व सब समाज में रहें, व्यक्ति निस्स्वत्व हो। व्यक्ति का धर्म आत्म-दान है, उसका स्वत्व कुछ नहीं है। उसका कर्तव्य सेवा है।—आज इसी जीवन-नीति के आधार पर समाज की रचना खड़ी करनी होगी। सोशलिज्म यही कहता है और उसके औचित्य का खंडन नहीं किया जा सकता।”

महेश्वरजी से असहमत होने के लिए मेरे पास अवकाश नहीं है पर उनकी-सी दृढ़ता भी मुझमें नहीं है और न उतनी साफ साफ बातें मुझे दीख पाती हैं। यह मैं जानता हूँ कि मानव पशु है, फिर भी मन इस पर सन्तुष्ट नहीं होता कि वह पशु ही है। पशु हो, पर मानव भी क्या वह नहीं है? और महेश्वरजी की ओर सस्पृह-सम्भ्रम के साथ देखता रह जाता हूँ।

“आप कुछ कहिए, लेकिन मैं तो सोलह आने इस चीज में बँध गया हूँ। आप जानते हैं, मेरे पास जायदाद है। लेकिन मैं जानता हूँ वह मेरी नहीं है। मैं प्रतीक्षा में हूँ कि कब स्थिति बदले और एक समर्थ और सदाशय सोशलिस्ट स्टेट इस सबका अपने जिम्मे ले ले। मैं खुशी से इसके लिए तैयार होऊँगा। सोशलाइजेशन हुए बिना उपाय नहीं। यों उलझनें बढ़ती ही जायँगी। आप देखिए, मेरे दस मकान हैं, मैं अकेला हूँ। मैं उन सब दस मकानों में कैसे रह सकता हूँ? यह बिलकुल नामुमकिन है। फिर यह चीज कि वे दस मकान मेरे हैं, कहीं न कहीं भूठ हो जाती है,—गलत हो जाती है। जब यह मुमकिन नहीं है कि मैं दस मकानों में रह सकूँ, तब यह भी नामुमकिन है कि वे दस मकान मेरे हों। किन्तु, यही असम्भवता आज का सबसे ठोस सत्य बनी हुई है। मैं कहता हूँ यह रोग है, मैं कहता हूँ यह भूठ है। लेकिन सोशलिस्ट स्टेट आने में दिन लग सकते हैं, तब तक मुझे यह बर्दाश्त ही करते रहना होगा कि वे दसों मकान मेरे हों और मैं उन्हें अपना मानूँ;—यद्यपि मैं अपने मन में जानता हूँ कि वे मकान मुझसे ज्यादा उनके हैं जो अपने को किरायेदार समझते हैं और जिन्हें उनकी जरूरत है।”

इस स्थल पर एकाएक रुककर मेरी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा—क्यों कैलाश बाबू ?

शायद मैंने ऊपर नहीं कहा कि जिस मकान में मैं रहता हूँ वह महेश्वरनाथजी का है। मैं उनके प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं दे सका।

उन्होंने फिर पूछा—क्यों कैलाश बाबू, आप क्या कहते हैं ? सोशलिज्म में ही क्या समाज के रोग का इलाज नहीं है ? हमारी राजनीति के लिए क्या वही सिद्धान्त दिशा-दर्शक नहीं होना चाहिए ? हम कैसी समाज-रचना चाहते हैं, कैसी सरकार चाहते हैं, मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों के कैसे नियामक चाहते हैं ?—आप तो लिखा भी करते हैं, बताइए क्या कहते हैं ?

मैं लिखता तो हूँ, पर छोटी छोटी बातें लिखता हूँ। बड़ी बातें बड़ी मालूम होती हैं। लेखक होकर जानते जानते मैंने यह जाना है कि मैं बड़ा नहीं हूँ, विद्वान् नहीं हूँ। बड़ी बातों में मेरा वश नहीं है। कहते हैं, लेखक विचारक होता है। मालूम तो मुझे भी कुछ ऐसा होता है। पर मेरी विचारकता छोटी छोटी बातों से मुझे छूटी नहीं लेने देती। मैंने कहा—मैं इस बारे में क्या कह सकता हूँ ?

महेश्वरजी ने सहास प्रसन्नता से कहा—वाह, आप नहीं कह सकते तो कौन कह सकता है ?

मैंने कहा—मुझे मालूम नहीं। मैंने अभी सोशलिज्म पर पूरा साहित्य नहीं पढ़ा है। पाँच-सात किताबें पढ़ी हैं। और सोशलिज्म पर साहित्य है इतना कि उसे पढ़ने के लिए एक जिन्दगी काफी नहीं है। तब मैं इस जिन्दगी में उसके बारे में क्या कह सकता हूँ ?

महेश्वरजी ने कहा—भाई, बड़े चतुर हो ! बचना कोई तुम से सीखे।

पर मुझे जब इस तरह अपनी ही हार पर चतुराई का श्रेय दिया जाता है, तब मैं लज्जा से ढँक जाता हूँ। लगता है कि मेरी अज्ञानता कहीं उनके व्यङ्ग्य का विषय तो नहीं हो रही है !

मैंने कहा—नहीं, बचने की तो बात नहीं—

महेश्वरजी बोले—तो क्या बात है, कहिए न।

अपनी कठिनाई जतलाते हुए मैंने कहा कि जब मैं समाज की समस्या पर विचारना चाहता हूँ, तभी अपने को ठेलकर यह विचार सामने आ खड़ा होता है कि समाज की समस्या के विचार से मेरा क्या सम्बन्ध है। तब मुझे मालूम होता है कि सम्बन्ध तो है, और वह सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है। वास्तव में मेरी अपनी ही समस्या समाज की भी समस्या है। वे दोनों भिन्न नहीं हैं। व्यक्ति का व्यापक रूप समाज है। पर चूँकि मैं व्यक्ति हूँ, इसलिए समस्या का निदान और समाधान मुझे मूल-व्यक्ति की परिभाषा में खोजना और पाना अधिक उपयुक्त और सम्भव मालूम होता है। इस भाँति, बात मेरे लिए हवाई और शास्त्रीय कम हो जाती है और वह कुछ अधिक निकट, मानवीय और

जीवित बन जाती है। मेरे लिए एक सवाल यह भी है कि मुझे रोटी मिले। मिलने पर फिर सवाल होता है कि समझें, कैसे मिली? इसी सवाल के साथ लगा चला आता है पैसे का सवाल। वह पैसा काफी या और ज्यादा क्यों नहीं आया? या कैसे आये? क्यों आये? वह कहाँ से चलकर मुझ तक आता है? क्यों वह पैसा एक जगह जाकर इकठ्ठा होता है और दूसरी जगह पहुँचता ही नहीं? यह पैसा है क्या? — ये और इस तरह के और और सवाल खड़े होते हैं। इन सब सवालों के अस्तित्व की सार्थकता तभी है जब कि मूल प्रश्न से उनका नाता जुड़ा रहे। यह मैं आपको बताऊँ कि शङ्का की प्रवृत्ति मुझ में खूब है। शङ्काओं के प्रत्युत्तर में ही मेरा लेखन-कार्य सम्भव होता है। तब यह तो आप न समझिए कि मैं बहुत तृप्त और सन्तुष्ट जीवन जीता हूँ। लेकिन, सोशलिज्म के मामले में दखल देने के लिए ऐसा मालूम होता है कि मुझे विचारक से अधिक विद्वान् होना चाहिए। विद्वान् मैं नहीं हो पाता। किताबें मैं पढ़ता हूँ, फिर भी वे मुझे विद्वान् नहीं बनातीं। मेरे साथ तो रोग यह लग गया है कि अतीत को मैं आज के सम्बन्ध की अपेक्षा में देखना चाहता हूँ, भविष्य का सम्बन्ध भी आज से बिठा लेना चाहता हूँ और विद्या को जीवन पर कसते रहना चाहता हूँ। इसमें, बहुत-से अतीत और बहुत-से स्वप्न और बहुत-सी विद्या से मुझे हाथ धोना पड़ता है। यह दयनीय हो सकता है और मैं कह सकता हूँ कि आप मुझे मुझ पर छोड़ दें। सोशलिज्म का मैं कृतज्ञ हूँ, उससे मुझे व्यायाम मिलता है। वह अच्छे वार्तालाप की चीज है। लेकिन आज और इस क्षण मुझे क्या और कैसा होना चाहिए, इसकी कोई सूझ इस 'इज्म' में से मुझे प्राप्त नहीं होती। मुझे मालूम होता है कि मैं जो कुछ हूँ, सोशलिस्टिक स्टेट की प्रतीक्षा करता हुआ वही बना रह सकता हूँ और अपना सोशलिज्म अखण्ड भी रख सकता हूँ। तब मैं उसके बारे में क्या कह सकूँ? क्योंकि मेरा क्षेत्र तो परिमित है न? सोशलिज्म एक विचार का प्रतीक है। विचार शक्ति है। वह शक्ति किन्तु 'इज्म' की नहीं है, उनको मानने वाले लोगों की सचाई की वह शक्ति है। लोगों को जयजयकार के लिए एक पुकार चाहिए। किन्तु पुकार का वह शब्द मुख्य उत्साह है। उसी के कारण शब्द में सत्यता आती है। सोशलिज्म का विधान वैसा ही है, जैसा झण्डे का कपड़ा। झण्डे को सत्य बनाने वाला कपड़ा नहीं है, शहीदों का खून है। सोशलिज्म की सफलता यदि हुई है, हो रही है, या होगी, वह नहीं निर्भर है इस बात पर कि सोशलिज्म अन्ततः क्या है और क्या नहीं है, प्रत्युत् वह सफलता अवलम्बित है इस पर कि सोशलिस्ट अपने जीवन में अपने मन्त्रियों के साथ कितना अभिन्न और तल्लीन है और कितना वह निस्स्वार्थ है। और अपने निज की ओर आज की दृष्टि से, अर्थात् शुद्ध व्यवहार की दृष्टि से, यह सोशल-इज्म मुझे अपने लिए इतना वादभय, इतना हटा हुआ और अशास्त्रीय-सा तत्त्व ज्ञात होता है कि मुझे उसमें तल्लीनता नहीं मिलती। और मैं क्या कहूँ? धर्म से बड़ी शक्ति मैं नहीं जानता। पर जीवन से कटकर जब वह एक मतवाद और पन्थ का रूप धरता है, तब वही निर्विषयता का बहाना और पाखण्ड का गढ़ बन आता है। सोशलिज्म को आरम्भ से ही एक वाद बनाया जा रहा

है,—यह सोशलिज्म के लिए ही भयङ्कर है।

महेश्वरजी ने कहा—आप तो मिस्टिक हुए जा रहे हैं कैलाश बाबू, पर इससे दुनिया का काम नहीं चलता। आप शायद वह चाहते हैं जो साथ साथ दूसरी दुनिया को भी सँभाले।

—हाँ, मैं चाहता हूँ जिससे सभी कुछ सँभले। जिससे समग्रता में जीवन का हल हो। मुझे जीवन-नीति चाहिए, समाज अथवा राज-नीति नहीं। वह जीवन-नीति ही फिर समाज की अपेक्षा राज-नीति बन जायगी। जीवन एक है, उसमें खाने नहीं हैं। जैसे कि व्यक्ति का वह सँभलना गलत है जो कि समाज को बिगाड़ता है, उसी तरह दुनिया का वह सँभलना गलत है जिसमें दूसरी दुनिया (अगर वह हो, तो उस) के बिगड़ने का डर है। आदमी करोड़पति हो, यह उसकी सिद्धि नहीं है। वह सम्पूर्णतः परार्थ-तत्पर हो, यही उसकी सफलता है। इसी तरह दुनिया की सिद्धि दुनियाबीपन की अतिशयता में नहीं है, वह किसी और बड़ी सत्ता से सम्बन्धित है।

—आपका मतलब धर्म से है ?

—हाँ, वह भी मेरा मतलब है।

—लेकिन आप सोशलिज्म के खिलाफ तो नहीं हैं ?

—नहीं, खिलाफ नहीं हूँ। लेकिन—

—बस इतना ही चाहिए। 'लेकिन' फिर देखेंगे—

यह कहकर महेश्वरजी ने तनिक मुसकराकर चारों ओर देखा और फिर सामने रखे एक झाग से भरे गिलास को उठाकर वह दूसरी ओर चले गये। मैं बैठा देखता रह गया और फिर...

अभेद

रात...

सब सो गये हैं और आसमान में तारे घिरे हैं। मैं उनकी ओर देखता हुआ जागता हूँ। नींद आती ही नहीं। मेरा मन उन तारों को देखकर विस्मय, स्नेह और अज्ञान से भरा आता है। वे तारे हैं, छोटी छोटी चमकती बुन्दियों के-से कैसे प्यारे प्यारे तारे ! पर उनमें से हर एक अपने में एक विश्व है। वे कितने हैं ?—कुछ पार नहीं, कुछ भी अन्त नहीं। कितनी दूर हैं ?—कोई पता नहीं। हिसाब की पहुँच से बाहर, वे नन्हें नन्हें भिप भिप चमक रहे हैं। उनके तले कल्पना स्तब्ध हो जाती है। स्वर्ण के चूर्ण से छाया, शान्त, सुन्न, सहास्य कैसा यह ब्रह्माण्ड है !—एकान्त, अछोर, फिर भी कैसा निकट, कैसा स्वगत ! ... मुझे नींद नहीं आती और मैं उसे नहीं बुलाना चाहता। चाहता हूँ, यह सब तारे मुझे मिल जायँ। वे मुझमें आ जायँ। मुझसे बाहर कुछ भी न रहे। सब कुछ मुझमें हो रहे, और मैं उनमें।

मैं अपने को लहलहाता हूँ, बहलता हूँ, बिजलता हूँ, एक जरा,

६८ :: जैनेन्द्र के विचार

एक शून्य। और इस समय जितना मैं अपने को शून्य अनुभव करता हूँ, उतना ही मेरा मन भरता आता है। जाने कैसे, मैं अपने को उतना ही बड़ा होता हुआ पाता हूँ। जैसे जो के भीतर आह्लाद भरा जाता हो, उमड़ा आता हो। मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है कि मैं-कुछ भी नहीं हूँ। जो हूँ, समस्त की गोद में हूँ; और हूँ, तो बस इस ज्ञान के आनन्द के लिए हूँ कि सब हैं, सबमें मैं हूँ। मुझे मालूम होता है कि मेरी सीमाएँ मिट गई हैं, मैं खोया जा रहा हूँ, मिला जा रहा हूँ। मालूम होता है, एक गम्भीर आनन्द...

तारे उस नीले शून्य में गहरे से गहरे पैठे हैं। जहाँ तक नीलिमा है, वहाँ तक वे हैं। यह स्वर्ण-कणों से भरा नीला नीला क्या है? आकाश क्या? समय क्या है? मैं क्या हूँ?—पर जो हो, मैं आनन्द में हूँ। इस समय तो मेरी अज्ञानता ही सबसे बड़ा ज्ञान है। मैं कुछ नहीं जानता, यही मेरी स्वतन्त्रता है। ज्ञान का बन्धन मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। तारों का अर्थ मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। मुझे उनका तारा-पन ही सब है, वही बस है। मैं उन्हें तारे ही समझूँगा, तारे बनाकर मैं उनमें अपनापन, अपना मन भिगोये रखता हूँ। मुझे नहीं चाहिए कोई ज्ञान। उस समस्त के आगे तो मैं बस इतना ही चाहता हूँ कि मैं सारे रोम खोलकर प्रस्तुत हो रहूँ। चारों ओर अपने को छोड़ दूँ और भीतर से अपने को रिक्त कर दूँ कि यह निस्सीमता, यह समस्तता बिना बाधा के मुझे छुए और मेरे भीतर भर जाय।

लोग सो रहे हैं। रात बीत रही है मुझे नींद नहीं है। और लोग भी होंगे, जिन्हें नींद न होगी। वे राजा भी हो सकते हैं, रंक भी हो सकते हैं। अरे राजा क्या, रंक क्या? नींद के सामने कोई क्या है? किसकी नींद को कौन रोक सकता है? आदमी अपनी नींद को आप ही रोक सकता है। दुनिया में भेद-विभेद हैं, नियम कानून हैं। पर भेद-विभेद कितने ही हों, नियम-कानून कैसे ही हों,—रात रात है। जो नहीं सोते वे नहीं सोते, पर रात सबको सुलाती है। सब भेद-प्रभेद भी सो जाते हैं, नियम-कानून भी सो जाते हैं। रात में रंक की नींद राजा नहीं छीनेगा और राजा की नींद भी रंक की नींद से प्यारी नहीं हो सकेगी। नींद सबको बराबर समझेगी, वह सबको बराबरी में डुबा देगी। नींद में फिर स्वप्न आदेंगे और वे, मनुष्य की बाधा मिटाकर, उसे जहाँ वह चाहें, ले जायेंगे। रात को जब आदमी सोयेगा, तब प्रकृति उसे थपकेगी। आदमी दिन-भर अपने बीच में खड़े किये विभेदों के झगड़ों से झगड़कर जब हारेगा और हारकर सोयेगा, तब उसकी बन्द पलकों पर प्रकृति स्वप्न लहरायेगी। उन स्वप्नों में रंक सोने के महलों में वास करे तो कोई राजा उसे रोकने नहीं आयेगा। वह वहाँ सब मुख-सम्भोग पायेगा। राजा अगर उन स्वप्नों में संकट के मुँह में पड़ेगा और वलेश भोगेगा तो कोई चाटुकार उसे इससे बचा नहीं सकेगा। राजा, अपनी आत्मा को लेकर, मात्र स्वयं होकर ही अपनी नींद पायेगा। तब वह है और उसके भीतर का अव्यक्त है। तब वह राजा कहाँ है?—मात्र चेचारा है। इसी प्रकार नींद में वह रंक भी मात्र अपनी आत्मा के सम्मुख हो

रहेगा। तब वह है और उसमें सन्निहित अव्यक्त है। तब वह बेचारा कहाँ रंक है! वह तब प्रकृत रूप में जो है, वही है।

उस रात्रि की निस्तब्धता में, आकाश के महाशून्य में और प्रकृति की चौकसी में अपनी मानवीय अस्मिता को खोकर,—सौंपकर मानव, शिशु बनकर, सो जाता है। पर फिर दिन आता है। तब आदमी कहता है कि वह जाग्रत है। वह कहता है कि तब वह सावधान है और जाग्रत और सावधान बनकर वह मानव कहता है कि मानवता में श्रेणियाँ हैं,—अभेद तो मिथ्या स्वप्न था, सार अथवा सत्य तो भेद है। तब वह कहता है कि मैं चेतन उतना नहीं हूँ, जितना राजा हूँ अथवा रंक हूँ। स्वप्न से हमारा काम नहीं चलेगा, काम ज्ञान से चलेगा। ज्ञान का सच्चा नाम विज्ञान है। और वह विज्ञान यह है कि मैं या तो गरीब हूँ या अमीर हूँ। दिन में क्या अब उसने आँखें नहीं खोल ली हैं? दिन में क्या वह चीजों को अधिक नहीं पहचानता है? दिन रात की तरह अँधेरा नहीं है; वह उजाला है। तारे अँधेरे का सत्य हों, पर जाग्रत अवस्था में क्या वे झूठ नहीं हैं?—देखो न, कैसे दिन के उजाले में भाग छिपे हैं! जाग्रत दिन के सत्य को कौन त्याग सकता है? वही अचल सत्य है, वही ठोस सत्य है। और वह सत्य यह है कि तारे नहीं हैं, हम हैं। हमी हैं और हम जाग्रत हैं। और सामने हमारे हमारी समस्याएँ हैं। अतः मनुष्य कर्म करेगा, वह युद्ध करेगा, वह तर्क करेगा, वह जानेगा। नींद गलत है और स्वप्न भ्रम है। यह दुःखप्रद है कि मानव सोता है और सोना अमानवता है। अँधेरी रात क्या गलत ही नहीं है कि जिसका सहारा लेकर आसमान तारों से चमक जाता है, और दुनिया धुंधली हो जाती है? हमें चारों ओर धूप चाहिए, जिससे हमारे आसपास का छुट-बड़पन चमक उठे और दूर की सब आसमानी व्यर्थता लुप्त हो जाय।

मैं जानता हूँ, यह ठीक है। ठीक ही कैसे नहीं है? लेकिन क्या यह भूल भी नहीं है? और भूल पर स्थापित होने से क्या सर्वथा भूल ही नहीं है? क्या यह गलत है कि नींद से हम ताजा होते हैं और दिन-भर की हमारी थकान खो जाती है? क्या यह गलत है कि हम प्रभात में जब जीतने और जीने के लिए उद्यत होते हैं, तब सन्ध्यानन्तर नींद चाहते हैं? क्या यह नहीं हो सकता कि स्वप्नों में हम अपनी थकान खोते हैं, और फिर उन्हीं स्वप्नों की राह अपने में ताजगी भी भरते हैं? क्या यह नहीं हो सकता कि दिन में हम व्यक्त के साथ इतने जड़ित और अव्यक्त के प्रति इतने जड़ होते हैं कि रात में अव्यक्त, व्यक्त को शून्य बनाकर, स्वयं प्रस्फुटित होता है और इस भाँति हमारे जीवन के भीतर की समता को स्थिर रखता है? क्या यह भी नहीं हो सकता कि हम स्वप्न में विभेद को तिरस्कृत करके अभेद का पान करते और, उसी के परिणाम में, उठकर विभेद से युद्ध करने में अधिक समर्थ होते हैं? क्या यह नहीं हो सकता कि रात पर दिन निर्भर है, और रात न हो तो दिन दूभर हो जाय? क्या यह नहीं है कि विभेद तब तक असत्य है, असम्भूत है, जब तक अभेद उठे, तब तक सत्य नहीं हो? क्यों—

१०० :: जैनेन्द्र के विचार

पर, रात बीत रही है, और मेरी आँखों में नींद नहीं है। ओः, यह समस्त क्या है ? मैं क्या हूँ ? मैं कुछ नहीं जानता, — मैं कुछ नहीं जानूँगा। मैं सब हूँ। सबमें हूँ।

तभी कहीं घण्टा बजा—ए-क। जैसे अँधेरे में गूँज गया, ए-ए-क। मैं उस गूँज को सुनता रह गया। गूँज धीमे धीमे विलीन हो गई, और सन्नाटा फिर वैसे ही सुन्न हो गया। मैंने कहा—‘एक !’ मैंने दोहराया—‘एक, एक, एक।’ मैंने दोहराना जारी रखी और नींद कुछ मेरी ओर उतरने लगी। अब मैं सोऊँगा। मैं सोऊँगा। बाहर अनेकता के बीच एक बनकर स्थिर शान्ति से क्यों न मैं सो जाऊँगा ? मैं चाहने लगा, मैं सोऊँ। पर तारे हँसते थे और हँसते थे, और मेरी आँखों में नींद धीमे ही धीमे उतरकर आ रही थी।

जरूरी

दिन के साढ़े दस बजे होंगे। मैं मेज पर बैठा था तभी मुंशीजी आये। लाला महेश्वरनाथजी की जो शहर के इधर-उधर और कई तरफ फैली हुई जायदाद है, उस सबकी देख-भाल इन मुंशीजी पर है। मुंशीजी बड़े कर्म-व्यस्त और संक्षिप्त शब्दों के आदमी हैं। विनयशील बहुत हैं, बहुत लिहाज रखते हैं। पर कर्त्तव्य के समय तत्पर हैं।

मुंशीजी ने कहा—मुझे माफ कीजिएगा। ओः, मैंने हर्ज किया ? पर हाँ,—वह,—यह तीसरा महीना है। आप चेक कब भिजवा दीजिएगा ? रायसाहब कहते थे—

बात यह है कि पिछले दो माह का किराया मैंने नहीं दिया। दिया क्या नहीं, दे नहीं पाया। मैंने मुंशीजी की ओर देखा। मुझे यह अनुग्रह कष्टकर हुआ कि मुंशीजी अब भी अपनी विनम्रता और विनयशीलता को अपने काबू में किये हुए हैं। वह धमका कर भी तो कह सकते हैं कि लाइए साहब, किराया दीजिए। यह क्या अधिक अनुकूल न हो ?

यह सोचता हुआ मैं फिर अपने सामने मेज पर लिखे जाते हुए कागजों को देखने लगा।

मुंशीजी ने कहा—मेरे लिए क्या हुकुम है ?

पर मेरी समझ में न आया कि उनके लिए क्या हुकुम हो। अगर (मैंने सोचा) इनकी जगह खुद (रायसाहब) महेश्वरजी होते, तो उनसे कहना कि किराये की बात तो फिर पीछे देखिएगा, इस समय तो आइए सुनिए कि मैंने इस लेख में क्या लिखा है। महेश्वरजी को साहित्य में रस है और वह विचारवान् हैं,—विचारवान से आशय यह नहीं कि किराया लेना उन्हें छोड़ देना चाहिए। अभिप्राय यह, कि वह अवश्य ऐसे व्यक्ति हैं कि किराये की-सी छोटी बातों को पीछे रखकर वह सैद्धान्तिक गहरी बातों पर पहले विचार करें। लेकिन, इन मुंशीजी को मैं क्या कहूँ ? क्या मैंने देखा नहीं कि किराये की बात पर सदा यह मुंशीजी ही सामने हुए हैं, और रायसाहब से जब जब साक्षात् होता

है, तब इस प्रकार की तुच्छता उनके आस पास भी नहीं देखने में आती और वह गम्भीर मानसिक और आध्यात्मिक चर्चा ही करते हैं।

हुक्म की प्रार्थना और प्रतीक्षा करते हुए मुंशीजी को सामने रहने देकर मैं कुछ और जरूरी बातें सोचने लगा। मैंने सोचा कि—

मैं जानता हूँ कि मुझे काम करना चाहिए और मैं काम करता हूँ। सात घण्टे हर एक को काम करना चाहिए। मैं साढ़े सात घण्टे करता हूँ। जो काम करता हूँ वह उपयोगी है।—वह बहुत उपयोगी है। वह काम समाज का एक जरूरी और बड़ी जिम्मेदारी का काम है। क्या मैं स्वार्थ-वृद्धि से काम करता हूँ? नहीं, स्वार्थ-भावना से नहीं करता। क्या मेरे काम की बाजार-दर इतनी नहीं कि मैं जरूरी हवा, जरूरी प्रकाश और जरूरी खुराक पाकर जरूरी कुनवा और जरूरी सामाजिकता और जरूरी दिमागियत निवाह सकूँ? शायद नहीं। पर ऐसा क्यों नहीं है? और ऐसा नहीं है, तो इसमें मेरा क्या अपराध है?

अपने काम को मैंने व्यापार का रूप नहीं दिया है। आज का व्यापार शोषण है। मैं शोषक नहीं होना चाहता।

इसी दुनिया में, पर दूसरी जगह, मेरे जैसे काम की बहुत कीमत और कदर भी है। मेरे पास अगर मकान नहीं है और मकान में रहने का एवज देने के लिए काफी पैसा नहीं है, तो इसका दोष किस भाँति मुझमें है, यह मैं जानना चाहता हूँ।

मैं जानना चाहता हूँ कि समाज जब कि मेरी तारीफ भी करता है, तो जीवन और जीवन के जरूरी उपादानों से मैं वंचित किस प्रकार रक्खा जा रहा हूँ?

मैं जानना चाहता हूँ कि अगर मकान का किराया होना जरूरी है, तो यह भी जरूरी क्यों नहीं है कि वह रुपया मेरे पास प्रस्तुत रहे? वह रुपया कहाँ से चलकर मेरे पास आवे, और वह क्यों नहीं आता है? और, यदि वह नहीं आता है, तो क्यों यह मेरे लिए चिन्ता का विषय बना दिया जाना चाहिए? और किस नैतिक आधार पर यह मुंशीजी सरकार से फरियाद कर सकते हैं कि मैं अभियोगी ठहराया जाऊँ और सरकारी जज बिना मनोवेदना के कैसे मुझे अभियुक्त ठहराकर मेरे खिलाफ डिग्री दे सकता है? और समाज भी क्यों मुझे दोषी समझने को उद्यत है?

क्या इन रुपयों के बिना महेश्वरजी का कोई काम अटका है? इन किराये के रुपयों पर उनका हक्क बनने और कायम रहने में कैसे आया?

रुपया उपयोगिता में जाना चाहिए की विलासिता में?

वह समाज और सरकार क्या है जो रुपये के बहाव को विलास से मोड़कर उपयोग की ओर नहीं ढालती?

क्या कभी मैंने महेश्वरजी से कहा कि वह मुझे मात्र रहने दें? क्यों वह मुझसे किराया लेते हैं?—न लें।

१०२ :: जैनेन्द्र के विचार

नहीं कहा तो क्यों नहीं कहा ? क्या यह कहना जरूरी नहीं है ? ...लेकिन, क्या यह कहना ठीक है ?

मैं अगर इस चीज से इनकार कर दूँ और फल भुगतने को प्रस्तुत हो जाऊँ, तो इसमें क्या बनीति है ? क्या यह अयुक्त हो ? ...

इतने में मुंशीजी ने कहा कि उनको और भी काम हैं। मैं जल्दी फरमा दूँ कि चेक ठीक किस रोज भेज दिया जायगा। ठीक तारीख मैं फरमा दूँ जिससे कि—

(मैंने सोचा) यह मुंशीजी इतने जोर के साथ अपनी विनय आखिर किस भाँति और किस वास्ते थामे हुए हैं ? प्रतीत होता है कि अब उनकी विनय की वाणी में कुछ कुछ उनके सरकारानुमोदित अधिकार-गर्व की सब्यङ्ग मिठास भी आ मिली है। मैंने कहा न, कि मुंशीजी बहुत भले आदमी हैं। यह अच्छी तरह जानते हुए भी कि पैसे के वकील और सरकार के सवेतन कर्मचारियों के बल से वह मेरा लोटा-थाली कुर्क करा सकते हैं, यह जानते हुए भी (—या, ही) वह विनय-लज्जित हैं। मैं जानता हूँ कि कर्त्तव्य के समय वह कटिबद्ध भी दीखेंगे, फिर भी मेरा उनमें इतना विश्वास है कि मैं कह सकता हूँ कि उस समय भी अपनी लज्जा को और अपने तकल्लुफ को वह छोड़ेंगे नहीं। इसी का नाम वजेदारी है।

मैंने कहा—मुंशी साहब, आपको तकलीफ हुई। लेकिन अभी तो मेरे पास कुछ नहीं है।

—तो कब तक भिजवा दीजिएगा ?

मैंने कहा—आप ही बताइए कि ठीक ठीक मैं क्या कह सकता हूँ।

बोले—तो ?

‘तो’ का मेरे पास क्या जवाब था। मैंने चाहा कि हँसूँ।

उन्होंने कहा कि रायसाहब ने फरमाया था कि मैं इतला दूँ कि बहुत दिन हो गये हैं। न हो तो,—और मकान देख लें।

मैंने हँसकर कहा—और मकान ? लेकिन किराया तो वहाँ भी देना होगा न ? मुश्किल तो वही है।

मुंशीजी सहानुभूति के साथ मेरी ओर देखते रह गये।

मैंने उन्हें देखकर कहा—खैर, जल्दी ही मैं किराया भिजवा दूँगा।

—जी हाँ, जल्दी भिजवा दीजिएगा। और आयन्दा से तीस तारीख तक भिजवा दें तो अच्छा। रायसाहब ने कहा था—

मैंने कहा—अच्छा—

मुंशीजी फिर आदाब बजा लाकर चले गये। उनके चले जाने पर मैंने पुनः अपने लेख की ओर ध्यान किया जो लाजिमी तौर पर जबर्दस्त लेख होने वाला था।

□ □

उपयोगिता

शायद चौथी क्लास में आकर अँग्रेजी की पहली किताब के पहले सबक में हमने पढ़ा—‘परमात्मा दयालु है। उसने हमारे पीने के लिए पानी बनाया, जीने के लिए हवा, खाने के लिए फल-मेवा, आदि आदि।’

पढ़कर वह सीधी तरह हमें पचा नहीं। हम भोले नहीं थे। बच्चे तो थे, पर बुद्धिमान् किसी से कम नहीं थे। पूछा—क्यों मास्टरजी, सब कुछ ईश्वर ने बनाया है? मास्टरजी बोले—नहीं तो क्या?

जहाँ हम पढ़ते थे वहाँ हवा आधुनिक थी। बालकों में स्वतंत्र बुद्धि जागे, यह लक्ष्य था। हमने कहा—तो उस ईश्वर को किसने बनाया है? और उस ईश्वर ने कहाँ बैठकर किस तारीख को यह सब कुछ बनाया है?

मास्टरजी ने कहा—पढ़ो पढ़ो। वाहियत बातें मत करो।

जी हाँ, वाहियात बात! पहली में नहीं, दूसरी में नहीं, तीसरी में नहीं, चौथी क्लास में हम थे। हमें धोखा देना आसान न था। और कुछ जानें न जानें, इतना तो जानते ही थे कि ईश्वर वहम है। यह भी जानते थे कि ईश्वर ने सभ्यता का बहुत नुकसान किया है। वह पाखंड है। उससे छुट्टी मिलनी चाहिए। सो उस सबक पर हमने मास्टरजी को चुप करके ही छोड़ा। मास्टरजी की एक भी बात हमारे हाथों साबित नहीं बची, सब हमने काट-फाँट फेंकी। मास्टर झुंझलाकर तब इतना ही कह पाये—पढ़ो, पढ़ो।

मास्टरजी पर हमने दया की कि सबक आगे भी पढ़ा। लेकिन उस समय दो बातें हम निश्चांत रूप में जान चुके थे—

१ कि ईश्वर कुछ नहीं है और हो तो फ़िज़ूल है और उसने कुछ नहीं बनाया।

२ कि जो कुछ है हमारे लिए है। सृष्टि में सार हम हैं।

आज उस बात को पैंतीस-चालीस, जाने कितने बरस हो गये हैं और आज जो मैं जानता हूँ वह है कि—

१ ईश्वर ही है, और

२ कि हमारे लिए कुछ नहीं है। वेशक हम सबके लिए हैं। सृष्टि सार है, हम सेवक हैं।

१०४ :: जैनेन्द्र के विचार

दस बरस का वह (मैं) नवीन बालक पैंतालीस-पचास बरस के आज के मुझ जीर्ण बालक से अधिक अज्ञान था, यह मैं नहीं कह सकता। अज्ञानी मैं जैसा का तैसा हूँ। बीच में इतना अंतर अवश्य पड़ा है कि पैंतीस-चालीस वर्ष के अनुभव का मैल मेरे सिर और चढ़ गया है। मन की स्वच्छता में दस वर्ष के बालक से मेरी कोई समता नहीं है। इनने बरसों की दुनियादारी की मलिनता से मैं आज मलिन हूँ। बालक की भाँति मेरी बुद्धि कहाँ स्वतंत्र है ?

इसलिए, आप भला करें कि मेरी बात न सुनें। फिर भी अगर आप इस बात को सुनना गवारा करते हैं तो मैं विश्वासपूर्वक कह देता हूँ कि न खेलता पानी हमारे लिए है, न बहती हवा हमारे लिए है। न सूरज की धौली धूप, न चाँद की छिटकी चाँदनी तनिक भी हमारी हो सकती है। पहाड़ आसमान में उजला माथा उठाए धूप से झक-झकाता हुआ खड़ा है। फलों से लदे पेड़ नम्र भाव से हौले हौले भूम रहे हैं। खेतों में पौधों के शीर्ष पर पक्के अन्न की सुनहरी बालें झूमर-सी लटक रही हैं। घास बिछी है, आकाश है, बादल लहर लहर भाग रहे हैं। यह सब कुछ है, पर यह मेरे बिना भी है। मेरे निमित्त नहीं है, मैं उनके निमित्त हूँ। सब सबके लिए है और कुछ मेरे लिए नहीं है।

मैं यह विश्वासपूर्वक कहता हूँ। लेकिन यह भी कहता हूँ कि आप उसे विवेक-पूर्वक ही स्वीकर करें।

पर जरा ठहरिए। इस बातचीत के आरम्भ से ही एक भाई मेरे पास बैठे हैं। अधीर हैं, शायद कुछ कहना चाहते हैं। इजाजत दें तो उनकी बात सुन लूँ।

‘हाँ भाई, क्या कहते हैं ? कहो, कहो, सकुचाओ मत।’

‘कहता यह हूँ’ उन्होंने कहा, ‘कि आप बूढ़े हो गये हैं। आपकी बुद्धि सठिया गई है। आप चौदहवीं सदी में रहते हैं। खेत में अनाज कौन बोता है ?—हम बोते हैं। किस लिए बोते हैं ?—अपने खाने के लिए बोते हैं। अगर उस अनाज के होने में कोई अर्थ है तो यह अर्थ है कि हम उसे खाएँ। जो है वह अगर हमारे लिए नहीं तो किसके लिए है ?’

यह भाई विद्वान् मालूम होते हैं। अच्छी समझदारी की बात कहते हैं। लेकिन—

‘आप चुप क्यों हो गये ?’ उन भाई ने टोंककर कहा, ‘आप बहक गये हैं—’

मैंने क्षमा प्रार्थनापूर्वक विश्वास दिलाया, ‘मैं सुन रहा हूँ, सुन रहा हूँ।’

सुन रहे हैं तो सुनिए’ वह बोले, ‘हमारे माथे में आँखें हैं। हमारे बाहुओं में बल है। आपकी तरह की मोन की प्रतीक्षा ही हमारा काम नहीं है। प्रकृति का जितना वैभव है, हमारे लिए है। उसमें जो गुप्त है इसलिए कि हम उसे उद्घाटित करें। धरती में छिपा जल है तो इसलिए कि हम उस धरती को छेद डालें और कुएँ खोदकर पानी खींच लें। धरती के भीतर सोना-चाँदी दबा है और कोयला बंद है, — अब हम हैं कि धरती को पोला करके उसके भीतर से सब कुछ उगलवा लें। आप कहिए कि कुछ हमारे लिए नहीं है तो

वेशक कुछ भी आपके लिए न होगा। पर मैं कहता हूँ कि सब-कुछ हमारे लिए है; और तब, कुछ भी हमारी मुट्ठी में आये बिना नहीं रह सकता।'

वह विद्वान् पुरुष देखने से अभी पकी आयु के नहीं जान पड़ते। उनकी देह दुर्बल है, पर चेहरे पर प्रतिभा दीखती है। ऊपर की बात कहते हुए उनका मुख जो पीला है, रक्ताभ हो आया है। मैंने पूछा, 'भाई, आप कौन हो? काफी साहस आपने प्राप्त किया है।'

'जी हाँ, साहब हमारा हक है। मैं युवक हूँ। मैं वही हूँ जो स्रष्टा होते हैं। मानव का उपकार किसने किया है? उसने जिसने कि निर्माण किया है। उसने जिसने कि साहस किया है। निर्माता साहसी होता है। वह आत्म-विश्वासी होता है। मैं वही युवक हूँ। मैं वृद्ध नहीं होना चाहता।'

कहते कहते युवक मानो काँप आये। उनकी आवाज काफी तेज हो गई थी। मानो किसी को चुनौती दे रहे हों। मुझे नहीं प्रतीत हुआ कि यह युवक वृद्ध होने में सचमुच देर लगाएँगे। बाल उनके अब भी जहाँ-तहाँ से पक चले हैं। उनका स्वास्थ्य हर्ष-प्रद नहीं है और उनकी इंद्रियाँ बिना बाहरी सहायता के मानो काम करने से अब भी इन्कार करना चाहती हैं।

मैंने कहा, 'भाई, मान भी लिया कि सब कुछ हमारे लिए है। तब फिर हम किसके लिए हैं?'

युवक के उद्दीप्त भाव से कहा, 'हम किसके लिए हैं? हम किसी के लिए नहीं हैं। हम अपने लिए हैं। मनुष्य सचराचर विश्व में सूर्यन्य है। वह विश्व का भोक्ता है। सब उसके लिए साधन हैं। वह स्वयं अपने आप में साध्य है। मनुष्य अपने लिए है। बाकी और सब-कुछ मनुष्य के लिए है—'

मैंने देखा कि युवक का उद्दीपन इस भाँति अधिक न हो जाय। मानव-प्राणी की श्रेष्ठता से मानो उनका मस्तक चहक रहा है। मानों वह श्रेष्ठता उनसे झिल नहीं रही है। श्रेष्ठता तो अच्छी ही चीज है, पर वह बोझ न बन जाय यह ठीक नहीं है। मैंने कहा, 'भाई, मैंने जल-पान को पूछा ही नहीं। ठहरो, कुछ जल-पान मँगाता हूँ।'

युवक ने कहा, 'नहीं—नहीं,' और वह कुछ अस्थिर हो गया।

मैंने उनका संकोच देखकर हठ नहीं की। कहा, 'देखो भाई, हम अपने आप में पूरे नहीं हैं। ऐसा होता तो किसी चीज की जरूरत न होती। पूरे होने के रास्ते में जरूरतें होती हैं। पूरे हो जाने का लक्षण ही यह है कि हम कहें यह जरूरत नहीं रह गई। कोई वस्तु उपयोगी है, इसका अर्थ यही है कि हमारे भीतर उसकी उपयोगिता के लिए जगह खाली है। सब-कुछ हमें चाहिए, इसका मतलब यह है कि अपने भीतर हम बिल्कुल खाली हैं। सब कुछ हमारा हो,—इस हविस की जड़ में तथ्य यह है कि हम अपने नहीं हैं। सब पर अगर हम कब्जा करना चाहते हैं तो आशय है कि हम पर हमारा ही काबू नहीं है, हम पदार्थों के गुलाम हैं। क्यों भाई, आप गुलाम होना पसंद करते हो?'

युवक का चेहरा तमतमा आया। उन्होंने कहा, 'गुलाम ! मैं सबका मालिक हूँ। मैं पुरुष हूँ। पुरुष की कौन बराबरी कर सकता है ? सब प्राणी और सब पदार्थ उसके चाकर हैं। वह अधिष्ठाता है, वह स्वामी है। मैं गुलाम ? मैं पुरुष हूँ,—मैं गुलाम ! ...'

आवेश में आकर युवक खड़े हो गये। देखा कि इस बार उनको रोकना कठिन हो जायगा। बढ़कर मैंने उनके कंधे पर हाथ रक्खा और प्रेम के अधिकार से कहा, 'जो दूसरे को पकड़ता है, वह खुद पकड़ा जाता है। जो दूसरे को बाँधता है वह खुद को बाँधता है। जो दूसरे को खोलता है वह खुद भी खुलता है। अपने प्रयोजन के घेरे में किसी पदार्थ को या प्राणी को घेरना खुद अपने चारों ओर बेरा डाल लेना है। इस प्रकार स्वामी बनना दूसरे अर्थों में दास बनना है। इसीलिए, मैं कहता हूँ कि कुछ हमारे लिए नहीं है। इस तरह सबको आज़ाद करके अपनाने से हम सच्चे अर्थों में उन्हें 'अपना' बना सकते हैं। अनुरक्ति में हम क्षुद्र बनते हैं, विरक्त होकर हम ही विस्तृत हो जाते हैं। हाथ में कुंडी बगल में सोंटा, चारों दिसि जागीरी में—भाई, चारों दिशाओं को अपनी जागीर बनाने की राह है तो यह है।—'

अब तक युवक धैर्यपूर्वक सुनते रहे थे। अब उन्होंने मेरा हाथ अपने कंधे पर से झटक दिया और बोले, 'आपकी बुद्धि बहक गई है। मैं आपकी प्रशंसा सुनकर आया था। आप कुछ कर्तृत्व का उपदेश न देकर यह मीठी बहक की बातें सुनाते हैं। मैं उनमें फँसने-वाला नहीं हूँ। प्रकृति से युद्ध की आवश्यकता है। निरंतर युद्ध, अविराम युद्ध। प्रकृति ने मनुष्य को हीन बनाया है। यह मनुष्य का काम है कि उस पर विजय पाये और उसे चेरी बनाकर छोड़े। मैं कभी यह नहीं सुनूँगा कि मनुष्य प्रारब्ध का दास है—'

मैंने कहा, 'ठीक तो है। लेकिन भाई—'

पर मुझे युवक ने बीच ही में तोड़ दिया। कहा, 'जी नहीं, मैं कुछ नहीं सुन सकता। देश हमारा रसातल को जा रहा है। और उसके लिए आप जैसे लोग जिम्मेदार हैं—'

मैं एक इकेला-सा आदमी कैसे इस भारी देश को रसातल जितनी दूर भेजने का श्रेय पा सकता हूँ, यह कुछ मेरी समझ में नहीं आया। कहना चाहा, 'सुनो तो भाई—'

लेकिन युवक ने कहा, 'जी नहीं, माफ़ कीजिए।' यह कहकर वह युवक मुझे वहीं छोड़ तेज़ चाल से चले गये।

ग्रसल में इतनी बात बढ़ने पर मैं पूछना चाहता था कि भाई, तुम्हारी शादी हुई या नहीं ? कोई बाल-बच्चा है ? कुछ नौकरी चाकरी का ठीक-ठाक है, या कि क्या ? गुजारा कैसे चलता है ?—मैं उनसे कहना चाहता था कि भाई, यह दुनिया अजब जगह है; सो तुम्हें जब जरूरत हो और मैं जिस योग्य समझा जाऊँ, उसे कहने में मुझसे हिचकने की आवश्यकता नहीं है। तुम विद्वान् हो, कुछ करना चाहते हो। मैं इसके लिए तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। मुझे तुम अपना ही जानो। देखो भाई, संकोच न करना।—पर उन युवक ने यह कहने का मुझे अवसर नहीं दिया, रोष भाव से मुझे परे हटाकर चलते चले गये।

उन युवक की एक भी बात मुझे नामुनासिब नहीं मालूम हुई। सब बातें युवको-चित थीं। पर उन बातों को लेकर अघोर होने की आवश्यकता मेरी समझ में नहीं आई। मुझे जान पड़ता है कि सब कुछ का स्वामी बनने से पहले खुद अपना मालिक बनने का प्रयत्न वह करें तो ज्यादा कार्यकारी हो। युवक की योग्यता असंदिग्ध है, पर दृष्टि उनकी कहीं सदोष भी न हो ! उनके ऐनक लगी थी, इससे शायद निगाह निर्दोष पूरी तरह न रही होगी।

पर वह युवक तो मुझे छोड़ ही गये हैं। तब यह अनुचित होगा कि मैं उन्हें न छोड़ूं। इससे आइए, उन युवक के प्रति अपनी मंगल-कामनाओं का देय देकर इस अपनी बातचीत के सूत्र को सँभालें।

प्रश्न यह है कि अपने को समस्त का केंद्र मानकर क्या हम यथार्थ सत्य को समझ सकते अथवा पा सकते हैं ?

निस्संदेह सहज हमारे लिए यही है कि केंद्र हम अपने को मानें और शेष विश्व को उसी अपेक्षा में ग्रहण करें। जिस जगह हम खड़े हैं, दुनिया उसी स्थल को मध्य-बिंदु मानकर वृत्ताकार फेली हुई दीख पड़ती है। जान पड़ता है, धरती चपटी है, थाली की भाँति गोल है और स्थिर है। सूरज उसके चारों ओर घूमता है। स्थूल आँखों से और स्थूल बुद्धि से यह बात इतनी सहज सत्य मालूम होती है कि जैसे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। अगर कुछ प्रत्यक्ष सत्य है तो यह ही है।

पर आज हम जानते हैं कि यह बात यथार्थ नहीं है। जो यथार्थ है उसे हम तभी पा सकते हैं जब अपने को विश्व के केंद्र मानने से हम ऊँचे उठें।—अपने को मानकर भी किसी भाँति अपने को न मानना आरंभ करें।

सृष्टि हमारे निमित्त है, यह धारणा अप्राकृतिक नहीं है। पर उस धारणा पर अटक कर कल्पनाहीन प्राणी ही रह सकता है। मानव अन्य प्राणियों की भाँति कल्पना-शून्य प्राणी नहीं है।—मानव को तो यह जानना ही होगा कि सृष्टि का हेतु हममें निहित नहीं है। हम स्वयं सृष्टि का भाग हैं। हम नहीं थे, पर सृष्टि थी। हम नहीं रहेंगे, पर सृष्टि रहेगी।

सृष्टि के साथ और सृष्टि के पदार्थों के साथ हमारा सच्चा संबंध क्या है ? क्या हो ?

मेरी प्रतीति है कि प्रयोजन और 'युटिलिटी' शब्द से जिस संबंध का बोध होता है वह सच्चा नहीं है। वह काम-चलाऊ भर है। वह परिमित है, कृत्रिम है और बंधन-कारक है। उससे कोई किसी को पा नहीं सकता।

सच्चा संबंध प्रेम का, भ्रातृत्व का और आनन्द का है। इसी संबंध में पूर्णता है, उपलब्धि है और आह्लाद है; न यहाँ किसी को किसी की अपेक्षा है, न उपेक्षा है। यह प्रसन्न, उदात्त, समभाव का संबंध है।

पानी हमारे पीने के लिए बना है, हवा जीने के लिए,—आदि कथन शिथिल

दृष्टिकोण का है। अतः, यह कथन पक्ष-सत्य ही है। ऊँचे उठकर उसकी सचाई चुक जाती है और वह असत्य हो सकता है। हमारे लौकिक ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र जब तक इस 'युटिलिटी' (—उपयोगिता) की धारणा पर खड़े हैं तब तक मानना चाहिए कि वे ढहकर गिर भी सकते हैं। उनकी नींव गहरी नहीं गई। वे शास्त्र अभी सामयिक हैं और शाश्वत का उनको आधार नहीं है।

पानी हमारे पीने के लिए बना है, यह कहना पानी की अपनी सचाई को बहुत परिमित कर देना है। इसका अर्थ यह है कि जब तक मुझे प्यास न हो तब तक पानी निरर्थक है। अपनी प्यास के द्वारा ही यदि हम पानी को ग्रहण करते हैं तो हम पानी को नहीं पाते, सिर्फ अपनी प्यास बुझाते हैं।

पानी की यथार्थता तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्यास बुझाने की लालसा और सरज की आँखों से पानी को न देखें, उससे कुछ ऊँचा नाता पानी के साथ स्थापित करें।

जिसने पानी के संबंध में किसी तबीन सचाई का आविष्कार किया, जिसने उस पानी को अधिक उपलब्ध किया और कराया, वह व्यक्ति प्यासा न रहा होगा। पानी के साथ उसका संबंध अधिक आत्मीय और स्नेह-स्निग्ध रहा होगा। वह पानी का ठेकेदार न होगा। वह उसका साधक और शोधक रहा होगा।

जिस व्यक्ति ने जाना और बताया कि पानी H_2O (= दो भाग हाइड्रोजन, एक भाग आक्सीजन) है उसने हमसे ज्यादा पानी की उस सचाई को प्राप्त किया है। यह कह कर और यहीं रुक कर कि पानी हमारे पीने के लिए बना है, हम उसकी भीतरी सचाई को (उसकी आत्मा को) पाने से अपने को वंचित ही करते हैं।

स्पष्ट है कि पानी को H_2O रूप में देखने और दिखाने वाला व्यक्ति पीने के बजाय उस पानी को पीता भी होगा। पर कहने का मतलब यह है कि उस पदार्थ के साथ उस आविष्कर्ता का सम्बन्ध मात्र प्रयोजन का नहीं था, कुछ ऊँचे स्तर पर था।

प्रयोजन का माप हमारा अपना है। हम सीमित हैं, बहुत सीमित हैं, परन्तु विश्व वैसा और उतना सीमित नहीं है। इसलिए, विश्व को अपने प्रयोजनों के माप से मापना आस्मान को अपने हाथ की बिलाँद से नापने जैसा है।

पर सच यह है कि हम करें भी क्या ? नापने का माप हमारे पास अपनी बिलाँद ही है। तिस पर नापने की तबीयत से भी हमारा छुटकारा नहीं है। नाप-जोख किये बिना हमारे मन को चैन नहीं। नाप नाप कर ही हम बढ़ेंगे। एकाएक मापहीन अकूल अनंत में पहुँच भी जायें तो वहाँ टिकेंगे कैसे ?

बेशक यह ठीक है। नाप नाप कर बढ़ना ही एक उपाय है। हमारे पास लोटा है तो लोटे-भर पानी कुँ से खींच लें और अपना काम चलावें। ध्यान तो बस इतना रखना है कि न आस्मान बिलाँद जितना है, न कुँ का पानी लोटा-भर है।—बिलाँद में आस्मान को न पकड़ें, न लोटे में कुँ को समेटें !

प्रयोजन होना शक्य नहीं है। दुनिया में प्रयोजन नहीं रखेंगे तो शायद हमें रोटी मिलने की नौबत न आयगी। पर प्रयोजन के हाथों सचाई हाथ आने वाली नहीं है, यह बात पक्के तौर पर जान लेनी चाहिए।

जो कुछ है उसकी गर्दन पर अपने प्रयोजन का जूआ जा चढ़ाने से हमारी उन्नति की गाड़ी नहीं खिचेगी। जीवन ऐसे समृद्ध न होगा। साहित्य को, कला को, धर्म को, ईश्वर को,—सब कुछ को प्रयोजन में जानने की चेष्टा निष्फल है। यह नहीं कि वे निष्प्रयोजन हैं पर आशय यह कि उन सत्तों की सचाई प्रयोजनातीत है।

लोक-कर्म में इस तथ्य को ओझल करके चलने से हम खतरे में पड़ सकते हैं। पर मनुष्य का धन्य भाग्य यह है कि उसकी मूर्खता की क्षमता भी परिमित है।

हमारे समाज में साठ वर्ष से ऊपर के वृद्धों की उपयोगिता कितनी है? अगर वह तौल में उतनी मूल्यवान् नहीं है कि जितना उनके पालन में व्यय हो जाता हो, तो क्या यह निर्णय किया जा सकता है कि उन सबको एक ही दिन आराम के साथ समाप्त करके स्वर्ग रवाना कर दिया जाय? समाज-व्यवस्था का हिसाब-किताब शायद दिखावे कि इस भाँति इंतजाम में सुविधा और सफ़ाई होगी पर यह नहीं किया जा सका और न किया जा सकता है। यदि अब तक कहीं यह नहीं किया जा सका तो निष्कर्ष यह है कि उपयोगिताशास्त्र फिर अपनी उपयोगिता में किसी महत्त्व का प्रार्थी है।

एक बार एक आमिष-भोजन के प्रचारक ने निरुत्तर कर देने वाली बात सुनाई। उन्होंने कहा कि अगर बकरे खाए न जायें तो बताइए उनका क्या किया जाय? कोई उपयोग तो उनका है नहीं। तिस पर वे इतने बहुतायत से पैदा होते और इतने बहुतायत से बढ़ते हैं कि अगर उन्हें बढ़ने दिया जाय तो वे आदमी की जिन्दगी को असंभव बना दें। फिर बढ़कर या तो भूखे मरें, जो कि निर्दयता होगी, नहीं तो वे दुनिया की खाद्य-सामग्री को खुद खा-खाकर पूरा कर देंगे और फूलते जायेंगे। ऐसे दुनिया का काम कैसे चल सकता है? इसलिए, मांस खाना लाजिम है।

यह लाजिम होने की बात वह जानें। लेकिन, मानव-प्राणियों के प्रति दयाई होकर बकरों को खा जाना होगा, यह बात मेरी समझ में नहीं आई। पर उनकी दलील का उत्तर क्या होगा? उत्तर न भी बने, पर यह निश्चित है कि वह दलील सही नहीं है, क्योंकि उसका परिणाम अशुद्ध है। मानव-तर्क अपूर्ण है और मैं कभी नहीं समझता कि उस तल के तर्कों के आधार पर आमिष अथवा निरामिष भोजन का-प्रचार-प्रतिपादन हो सकता है।

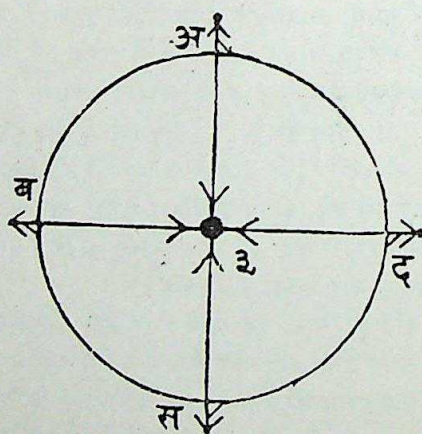
‘अहं’ को केंद्र और औचित्य-प्रदाता मानकर चलने में बड़ी भूल यह है कि हम बिसार देते हैं कि दूसरे में भी किसी प्रकार का अपना ‘अहं’ हो सकता है। हम अपनी इच्छाओं का दूसरे पर आरोप करते हैं और जब इसमें अकृतार्थ होते हैं तो झींकते-भल्लाते हैं। असल में यह हमारा एक तरह का बचपन ही है। हमारा मन रखने के लिए तमाम

११० :: जैनेन्द्र के विचार

सृष्टि की रचना नहीं हुई है और हम अपना मन सब जगह अटकाते हैं ! — ऐसे दुख न उपजे तो क्या हो ?

छुटपन की बात है। तब हमने पाठशाला में सीखा ही सीखा था कि धरती नारंगी के माफ़िक गोल है। सोचा करते थे कि इस तरह तो अमरीका हमारे पैरों के नीचे है और हमको बड़ा अचरज होता था कि अमरीका के लोग उल्टे कैसे चलते होंगे ? वे गिर क्यों नहीं पड़ते ? क्योंकि वे धरती पर पैरों के बल खड़े थोड़े ही हो सकते हैं, वे तो मानों धरती से नीचे की ओर अधर लटके हुए हैं। उस समय हम अपने को बड़ा भाग्यशाली मानते थे कि हम भारत-भूमि में पैदा हुए, अमरीका में पैदा नहीं हुए, नहीं तो उल्टे लटके रहना पड़ता !

आज भी जाने-अनजाने हम में से बहुतों का वही हाल है। जिन धारणाओं को पकड़कर हम खड़े हैं, हमें जान पड़ता है कि सच्ची सचाई वहीं है, शेष सबके हाथों बस झूठ ही झूठ आकर रह गया है। पर जैसे कि ऊपर उदाहरण में ऊँच-नीच की हमारी भ्रान्त कल्पना ही हमारी परेशानी का कारण थी वैसे ही अन्य हमारी अहंकृत कल्पनाएँ हमारे वैर-विरोध का कारण होती हैं।



ऊपर के चित्र में ३ को पृथ्वी का केंद्र मानिए। अ, ब, स और द उस पृथ्वी पर चार अलग बिन्दुओं पर खड़े हुए चार व्यक्ति हैं। क्या वे अपनी अपनी जगह पर किसी तरह भी ऊँचे-नीचे या कम-अधिक हैं ? असल में उनका अपनी ऊँच-नीच की धारणा के हिसाब से दूसरे को नापना बिल्कुल गलत होगा। जिस धरती पर वे खड़े हैं उसका केंद्र (अंतरात्मा) ३ है। उनकी सब प्रतीतियाँ, सब गतियाँ अन्ततः अपनी सिद्धि के लिए उस ३ बिन्दु की अपेक्षा रखती हैं। वह ३ बिन्दु सबसे समान दूरी पर है। वह सबको एक-सा प्राप्य अथवा अप्राप्य है। सब प्रकार का भेद उस केंद्र-बिन्दु ३ में जाकर लय हो

जाता है। वहाँ से आगे कोई दिशा नहीं जाती। सब दिशाएँ वहाँ से चलती हैं और वहीं समाप्त होती हैं। अ ३ स अपने आप में कोई रेखा नहीं है। कोई दिशा या कोई रेखा नहीं हो सकती जिसके एक सिरे पर वह (जीवन का) केंद्र-बिन्दु विराजमान न हो। इसलिए अ ३ स चाहे एक सीधी रेखा दीख पड़ती हो, पर वह भ्रांति है;—वैसा है नहीं। दृत्त की परिधि पर के सब बिन्दु माव्याकर्षण द्वारा ३ के प्रति आकृष्ट हैं। उस आकर्षण के ऐक्य के कारण ही पृथ्वी यमी हुई है। ३ सबका स्रोत-बिन्दु है, समस्त का अन्तरात्मा है। वहाँ जाकर किसी की भिन्न सत्ता नहीं रहती। इस प्रकार अ और स इन दो बिन्दुओं से प्रतिकूल दिशाओं में चलनेवाली दोनों रेखाएँ ३ में ही गिरती हैं। और वे दोनों असल में प्रतिकूल भी नहीं हैं, दोनों अनुकूल हैं, क्योंकि दोनों अपने केंद्र की ओर चल रही हैं।

चित्र से प्रकट है कि किस प्रकार अ, ब, स और द अपने अपने विशिष्ट बिन्दुओं (अहं) को केंद्र मान लें तो उन व्यक्तियों का जीवन भ्रान्त ही हो जायगा और उस जीवन को कोई दिशा न प्राप्त होगी।

हमारे लौकिक शास्त्र और लौकिक कर्म बहुधा इसी अहं-चक्र में पड़कर विफल हो जाते हैं। अपने घर के घड़े के पानी में जो हम आस्मान का अक्स देखते हैं उसी को आस्मान और उतने ही को आस्मान का परिणाम मान लेते हैं। अगर हम यह भूल न करें तो उस आस्मान के प्रतिबिम्ब से बहुत लाभ उठा सकते हैं। पर अक्सर इतनी समझ हमें नहीं होती और हम अपना अलाभ अधिक कर डालते हैं।

यह भी विचारना चाहिए कि हमारे घर के घड़े में प्रतिबिम्बित होना आस्मान की सार्थकता नहीं है। उसकी सत्ता का हेतु यह नहीं है। अपने में बिम्ब धारण करना तो उस घड़े का पानी का गुण-विशेष है। उतना ही आकाश का धर्म और अर्थ मान बैठना उस महारहस्यमय आकाश से प्राप्त हो सकनेवाले अगाध आनन्द से अपने को वंचित कर लेना है। दूसरे शब्दों में, वह मानव की महान् मूर्खता है।

पर इस अनंत शून्याकाश को मैं बाँधकर रखूँ, तो कहाँ? देखूँ, तो कैसे?—आँखें वहाँ ठहरती ही नहीं। वह अति गूढ़ है, अति शून्य है। अपने घड़े के भीतर के उस प्रतिबिम्बित में मैं बिना कंपन के झाँक तो सकता हूँ। यह नील घवल महाशून्याकाश, नहीं तो, मुझसे देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता। कैसे मानूँ कि मैं बहुत अकेला हूँ, बहुत छोटा हूँ। वह असीम है, वारापार उसका कहाँ है? और मैं उसे देखूँ क्यों नहीं? इसलिए, मैं उसे अपने घट के शांत पानी में ही उतार कर देखूँगा।

मैं ज़रूर वही करूँ। वही एक गति है और वही उपयोगिता की उपयोगिता है। इससे आगे उपयोगिता को दौड़ाना अपनी सवारी के टट्टू को हवा में भगाना है। ऐसे, टट्टू मुंह के बल गिरेगा और सवार की भी खैर नहीं है।

दिल्ली नगर में बच्चों के लिए दूध की ज़रूरत है और सावन में ये बादल फिर भी पानी ही बरसाते हैं! आकाश सूना खड़ा है, क्यों नहीं गुच्छे के गुच्छे अंगूर टपका देता है? हम ज़रूरत अंगूरों की हैं और आकाश निरुपयोगी भाव से बेहयाई के साथ

११२ :: जैनेन्द्र के विचार

कोरा का कोरा खड़ा है ! ये बादल और आस्मान दोनों निकम्मे हैं । उनसे कोई वास्ता मत रखो । जो उनसे सरोकार रखते हैं उनका बाथकाट कर दो । ये तारे, रात में चमकनेवाली यह दूधिया आकाश-गंगा, वह वर्फीली चोटियाँ, वह मचलती हवा, वह प्रातः सायं क्षितिज से लगकर बिखर रहनेवाले रंग-बिरंगे रंग,— ये सब वृथा हैं । हम को पैसे की सख्त जरूरत है, रोटी की बेहद भूख है । और इन सब चीजों से न रोटी मिलती है, न कौड़ी हाथ आती है । वे अनुपयोगी हैं । मत देखो उनकी तरफ़ । इंकार कर दो उन्हें । उनसे समाज का क्या लाभ ? और हम हिसाब-बही में लाभ चाहते हैं, लाभ !

तो ऐसी पुकार, कहना होगा कि, निरी बीखलाहट है । वह उपयोगिता की भयंकर अनुपयोगिता है ।

□ □

व्यवसाय का सत्य

एक रोज एक भेद ने मुझे पकड़ लिया। बात यों हुई। मैं एक मित्र के साथ बाजार गया था। मित्र ने बाजार में कोई डेढ़ सौ रुपये खर्च किये। सो तो हुआ, लेकिन जब घर आकर उन्होंने अपना हिसाब लिखा और खर्च-खाते सिर्फ पाँच रुपये ही लिखे गये, तब मैंने कहा, 'यह क्या?' बोले, 'बाकी रुपया खर्च थोड़े हुआ है। वह तो इन्वेस्ट-मेण्ट है।'।

इन्वेस्टमेण्ट ! यानी खर्च होकर भी वह खर्च नहीं है। कुछ और है। खर्च और इस दूसरी वस्तु के अन्तर के सम्बन्ध में कुछ तो अर्थ की झलक साधारणतः मेरे मन में रहा करती है; पर उस वक्त जैसे एक प्रश्न मुझे देखता हुआ सामने खड़ा हो गया। जान पड़ा कि समझना चाहिए कि खर्च तो क्या, और 'इन्वेस्टमेण्ट' क्या? क्या विशेषता होने से खर्च खर्च न रहकर यह 'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है? उसी भेद को यहाँ समझकर देखना है और उसे तनिक जीवन की परिभाषा में भी फैलाकर देखेंगे।

रुपया कभी जमकर बैठने के लिए नहीं है। वह प्रवाही है। अगर वह चले नहीं तो निकम्मा है। अपने इस निरन्तर भ्रमण में वह कहीं-कहीं से चलता हुआ हमारे पास आता है। हमारे पास से कहीं और चला जायगा। जीवन प्रगतिशील है, और रुपये का गुण भी गतिशीलता है। रुपये के इस प्रवाही गुण के कारण यह तो असम्भव है कि हम उसे रोक रखें। पहले कुछ लोग धन को जमीन में गाड़ देते थे। गड़ा हुआ धन वैसा ही मुर्दा है जैसे गड़ा हुआ आदमी। वह बीज नहीं है कि धरती में गड़कर उगे। गाड़ने से रुपये की आब बिगड़ जाती है, फिर भी, उसमें प्रत्युत्पादन की शक्ति है बीज से कहीं अधिक,—यद्यपि वह भिन्न प्रकार की उत्पादन शक्ति है। उस शक्ति को कुण्ठित करने से आदमी समाज का अलाभ करता है। खैर, रुपये को गाड़कर निकम्मा बना देने या उसे कैदखाने में बन्दी करके डाल देने की प्रवृत्ति अब कम है। रुपया वह है कि जमा रहने-भर से सूद लाता है। सूद वह इसलिए लाता है कि कुछ और लोग उस रुपये को गति-शील रखते हैं,—वे उससे मुनाफा उठाते हैं। उसी गति-शीलता के मुनाफे का कुछ हिस्सा सूद कहलाता है।

रुपया गतिशील होने से ही जीवनोपयोगी है। वह हस्तान्तरित होता रहता है। वह हाथ में आता है तो हाथ से निकलकर दूसरे हाथ में चला जाता है। हमारे जीवन को बढ़ाना

११४ :: जैनेन्द्र के विचार

है तो उस रुपये को भी व्यय होते रहना है।

लेकिन उस व्यय में हमने ऊपर देखा कि कुछ तो मात्र 'व्यय' है, कुछ आगे बढ़कर 'पूँजी' हो जाता है,—'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है। समझना होगा कि सो कैसे हो जाता है ?

कल्पना कीजिए कि दिवाली आनेवाली है और अपनी अपनी माँ से राम और श्याम को एक-एक रुपया मिला है। राम अपने रुपये के कुछ खिलौने, कुछ तसवीरें और कुछ फुलभङ्गी वगैरह ले आया है। श्याम अपने बारह आने की तो ऐसी ही चीजें लेता है पर चार आने के वह रङ्गीन पतले कागज लेता है। उसने शहर में कन्दील बिकते देखे हैं। उसके पिता ने घर में पिछले साल एक कन्दील बनाया भी था। श्याम ने सोचा है कि वह भी कन्दील बनायेगा और बनाकर उन्हें बाजार में बेचने जायगा। सोचता है कि देखें, क्या होता है।

राम ने कहा—श्याम, यह कागज तुमने क्या लिये हैं ? इसके बदले में वह मेम-साहब वाला खिलौना ले लो न, कैसा अच्छा लगता है।

श्याम ने कहा—नहीं, मैं कागज ही लूंगा।

राम ने अपने हाथ के मेम-साहब वाले खिलौने को गौरवपूर्ण भाव से देखा और तनिक सदय भाव से श्याम को देखकर कहा—अच्छा।

राम ने श्याम की इस कार्रवाई को नासमझी ही समझा है। राम के चेहरे पर प्रसन्नता है और उसने मेम-साहब वाले अपने खिलौने को विशिष्ट रूप से सामने कर लिया है।

राम के घर में सब लोग खिलौनों से खुश हुए हैं। उसके बाद वे खिलौने टूट-फूट के लिए लापरवाही से छोड़ दिये गये हैं। उसी भाँति फुलभङ्गियों में से जलते वक्त भाँति-भाँति की रंगीन चिनगारियाँ छूटी हैं। जलकर फिर फुलभङ्गियाँ समाप्त हो गई हैं।

उधर यही सब श्याम के घर भी हुआ है। पर इसके बाद श्याम अपने रंगीन कागजों को लेकर मेहनत के साथ उसके कन्दील बनाने में लग गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि श्याम के उन चार आनों का खर्च खर्च नहीं है, वह पूँजी (=investment) है।

अब कल्पना कीजिए कि श्याम की बनाई हुई कन्दीलें चार आने से ज्यादा की नहीं बिकीं। कुछ कागज खराब गये, कुछ बनाने में खूबसूरती नहीं आई। हो सकता था कि वे चार आने से भी कम की बिकतीं। अच्छी साफ बनतीं तो मुमकिन था, ज्यादा की भी बिक सकती थीं। फिर भी, कल्पना यही की जाय कि वह चार ही आने की बिकीं और श्याम उन चार आनों के फिर खील-बताशे लेकर घर पहुँच गया।

इस उदाहरण में हम देख सकते हैं कि राम को दिये गये एक रुपये ने उतना चक्कर नहीं काटा। श्याम के रुपये ने ज़रा ज्यादा चक्कर काटा। यद्यपि अन्त में श्याम

का रुपया भी, सोलह आने का ही रहा और इस बीच श्याम ने कुछ मेहनत भी उठाई। राम का रुपया भी बिना मेहनत के सोलह आने का रहा। फिर भी, दोनों के सोलह आने के रुपये की उपयोगिता में अन्तर है। वह अन्तर श्याम के पक्ष में है और वह अन्तर यह है कि जब राम ने उसके सोलहों आने खर्च किये थे, तब श्याम ने उसमें के चार आने खर्च नहीं किये थे, बल्कि 'लगाये' थे। उस 'लगाने' का मतलब यही कि उसको लेकर श्याम ने कुछ मेहनत भी की थी और रुपये का मूल्य अपनी मेहनत जोड़कर उसने कुछ बढ़ा दिया था। हम कह सकते हैं कि श्याम ने राम से अधिक बुद्धिमानी का काम किया और श्याम राम से होनहार है। मान लो, कि उसकी कन्दीलें घेले की भी नहीं बिक सकीं; फिर भी, यही कहना होगा कि श्याम राम से समझदार है। उसने स्वयं घाटे में रहकर भी रुपये का अधिक मूल्य उठाया।

प्रत्येक व्यय एक प्रकार की प्राप्ति है। हम रुपये देते हैं तो कुछ और चीज पाते हैं। ऐसा हो नहीं सकता कि हम दें और लें नहीं। और कुछ नहीं, तो यह गर्व और सम्मान ही हम लेते हैं कि हम कुछ ले नहीं रहे हैं। बिना हमें कुछ प्रति-फल दिये जब रुपया चला जाता है, तब हमें बहुत कष्ट होता है। रुपया खो गया, इसके यही माने हैं कि उसके जाने का प्रतिदान हमने नहीं पाया। जब रुपया गिर जाता है, चोरी चला जाता है, डूब जाता है, तब हमको बड़ी चोट लगती है। एक पैसा भी, बिना प्रतिदान में हमें कुछ दिये, हमारी जेब से यदि चला जाय तो उससे हमें दुःख होता है। यों, चाहे हजारों हम उड़ा दें।—उस उड़ा देने में दरअसल हम उस उड़ाने का आनन्द तो पा रहे होते हैं।

इस भाँति प्रतिफल के बिना कोई व्यय असम्भव है। किन्तु, प्रतिफल के रूप में और उसके अनुपात में तर-तमता होती है। और उसी तर-तमता के आधार पर कुछ व्यय अपव्यय और कुछ और व्यय 'इन्वेस्टमेंट' हो जाता है।

ऊपर श्याम का और राम का उदाहरण दिया गया। श्याम ने अपने रुपये में से चार आने का प्रतिफल जान-बूझकर अपने से दूर बना लिया। उस प्रतिफल और अपने चार आने के व्यय के बीच में उसने कन्दील बनाने और उसे बाजार में जाकर बेचने आदि श्रम के लिए जगह बना छोड़ी। इसीलिए, वह चार आने का 'इन्वेस्टमेंट' कहा गया और श्याम को बुद्धिमान् समझा गया।

परिणाम निकला प्रत्येक खर्च वास्तव में पूँजी है यदि उस व्यय के प्रतिफल में कुछ फासला हो और उस फासले के बीच में मनुष्य का श्रम है।—इसी को दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि मनुष्य और उसके व्यय के प्रतिफल के बीच में आकांक्षा की सङ्कीर्णता न हो। अपनी तुरन्त की अभिलाषा को तृप्त करने के लिए जो व्यय है, वह उतना ही कोरा व्यय अथवा अपव्यय है और उतना ही कम अर्जनीय, इन्वेस्टमेंट अथवा सव्यय है। अर्थात् प्रतिफल की दृष्टि से अपने व्यय में जितनी दूर का हमारा नाता है, उतना ही उस व्यय का हमारे व्यय में अर्जनीय भाग होता है।

११६ :: जैनेन्द्र के विचार

इस बात से अगले परिणाम पर पहुँचें, इससे पहले यह जरूरी है कि इसको ही खुलासा करके समझें।

हमारे पास रुपया है, जो कि हमारे पास रहने के लिए नहीं है। वह अपने चक्कर पर है। हमारे पास वह इसलिए है कि हमारी जरूरतों को मिटाने में साधन बनने के बाद हम में अतिरिक्त स्फूर्ति डालने और हमें श्रम में प्रवृत्त करने में सहयोगी बने। हम जीयें और कार्य करें। इस जीवन-कार्य की प्रक्रिया में ही रुपये की गतिशीलता घटित और सार्थक होती है।

स्पष्ट है कि रुपया असल अर्थ में किसी का नहीं हो सकता। वह चाँदी का है। वह प्रतीक है। उसका बँधा मान है। वह एक निश्चित सामर्थ्य का द्योतक है। सामर्थ्य, याने इनर्जी (energy)। जब तक वह रुपया इनर्जी का उत्पादक है, तभी तक वह ठीक है। जब इनर्जी उससे नहीं ली जाती, उसे अपने आप में माल और दौलत समझ कर बटोरा और जमा किया जाता है, तब वह रोग का कारण बनता है।

जिसको इन्वेस्टमेंट कहा जाता है, वह उस रुपये के इनर्जी रूप को कायम रखने की ही पद्धति है। उसका व्यय होते रहना गति-चक्र को बढ़ाने और तीव्र करने में सहायक होता है।—हाँ, हम देखते हैं कि वह ठहरता भी है। वास्तव में कोई गति अवस्थान के बिना सम्भव नहीं होती। चेतन व्यक्त होने के लिए अचेतन का आश्रय लेता है। इनर्जी अपने अस्तित्व के लिए 'डेड मैटर' की प्रार्थिनी है। पर जैसे नींद जागरण के लिए आवश्यक है,—नींद अपने आप में तो प्रमाद ही है, जागरण की सहायक होकर ही वह स्वास्थ्यप्रद और जरूरी बनती है,—वैसे ही वह व्यय है जो किसी कदर पैसे के चक्र को घुमा करता है। किन्तु, प्रत्येक व्यय यदि अन्त में जाकर इन्वेस्टमेंट नहीं है, तो वह हेय है। हम भोजन स्वास्थ्य के लिए करते हैं और सेवा के कार्य के लिए हमें स्वास्थ्य चाहिए। इस दृष्टि से भोजन पर किया गया खर्च इन्वेस्टमेंट बनता है। अन्यथा, रसनालोलुपता की वजह से भोजन पर किया गया अनाप-शनाप खर्च केवल व्यय रह जाता है और वह मूर्खता है। वह असल में एक रोग है और भाँति-भाँति के सामाजिक रोगों को जनमाता है।

जहाँ जहाँ व्यय में उपयोग-बुद्धि और विवेक-बुद्धि नहीं है, जहाँ जहाँ उसमें अधिकाधिक ममत्व-बुद्धि और विषय-बुद्धि है, वहाँ ही वहाँ मानो रुपये के गले को घोंटा जाता और उसके प्रवाह को अवरुद्ध किया जाता है। सच्चा व्यवसायी वह है जो कि रुपये को काम में लगाता है और अपने श्रम का उसमें योग-दान देकर उत्पादन बढ़ाता है। सच्चा आदमी वह है जो कर्म करता है और कर्म के फलस्वरूप और कर्म करता है। हम देखते आ रहे हैं कि वह व्यक्ति रुपये का मूल्य उठाना नहीं जानता जो उसे, बस, खर्च करता है। रुपये की कीमत तो वह जानता है जो उसे खर्च करने के लिए ही खर्च नहीं करता यानी अपने ऊपर नहीं खर्च करता है, प्रत्युत मेहनत करने के

लिए खर्च करता है। रुपये के सहारे जितना अधिक श्रम-उत्पादन किया जाय, उतनी ही उस रुपये की सार्थकता है।

हमने ऊपर देखा कि पैसे का पूंजी बन जाना और खर्च का इन्वेस्टमेंट हो जाना उसके प्रतिफल से अपना यथासाध्य अन्तर रखने का नाम है। स्पष्ट है कि वैसे फासले के लिए किसी कदर देगरजी की जरूरत है। मनुष्य की गरज उसे दूरदर्शी नहीं होने देती। गरजमन्द पैसे के मामले में सच्चा बुद्धिमान् नहीं हो सकता। हम यह भी देख सकेंगे कि मनुष्य और उसकी जरूरतों के बीच में जितना निस्पृहता का सम्बन्ध है, उतना ही वह अपने इन्वेस्टमेंट के बारे में गहरा हो सकता है। जो आकांक्षा-त्रस्त है, विषय-प्रवृत्त है, वह रुपये के चक्र को तङ्ग और सङ्कीर्ण करता है। वह समाज की सम्पत्ति का ह्रास करता है। वह इनर्जी को रोकता है और, इस तरह, विस्फोट के साधन प्रस्तुत करता है। प्रवाही वस्तु प्रवाह में स्वच्छ रहती है। शरीर में खून कहीं रुक जाय तो शरीर-नाश अवश्यम्भावी है। जो रुपये के प्रवाह के तट पर रहकर उसके उपयोग से अपने को स्वस्थ और सश्रम बनाने की जगह उस प्रवाही द्रव्य को अपने में खींचकर सञ्चित कर रखना चाहता है वह मूढ़ता का काम करता है। वह उसकी उपयोगिता का हनन करता और अपनी मौत को पास बुलाता है।

आदर्श अलग। हम यहाँ व्यवहार की बात करते हैं, उपयोगिता की बात करते हैं। दुनिया क्यों न स्वार्थी हो? हम भी स्वार्थ की ही बात करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति क्यों न समृद्ध बने? यहाँ भी उसी समृद्धि की बात है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायी हो और हर एक व्यवसायी गहरा और अधिकाधिक होशियार व्यवसायी बने। हम यह देखते हैं कि व्यवसायी ही है जो मालदार है। यह अहेतुक नहीं है। यह भी हम जान रखें कि कोई महापुरुष,—ऊँचा पुरुष अव्यवसायी नहीं होता; हाँ वह जरा ऊँचा व्यवसायी होता है। यहाँ हम यही दिखाना चाहते हैं कि दुनिया में अच्छे से अच्छा सौदा करना चाहिए। कोई हरज नहीं अगर दुनिया को हाट ही समझा जाय। लेकिन जिसके बारे में एक भक्त कवि की यह उक्ति उलहने में कहीं जा सके कि उसने—

‘कौड़ी को तो खूब सँभाला, लाल रतन को छोड़ दिया।’

उस आदमी को बता देना होगा कि लाल रतन क्या है और क्यों कौड़ी से उसे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

हमारी गरज आँखों को बाँध देती है। ईश्वर की ओर से मनुष्य की अज्ञानता के लिए बहुत सुविधा है। बहुत कुछ है जहाँ वह भरमा रह सकता है। लेकिन भ्रमने से क्या बनेगा? हम अपने ही चक्कर में पड़े हैं। जैसे, फुलझड़ी जलाकर हम रङ्ग-बिरङ्गी चिनगारियाँ देखते हुए खुश हो सकते हैं, वैसे ही अगर चाहें तो अपनी जिन्दगी में आग लगाकर दूसरों के तमाशे का साधन बन सकते हैं। लेकिन पैसे का यही उपयोग नहीं है कि उसकी फुलझड़ी खरीदी जाय, न जीवन का उपयोग ऐश और विलास है। धन संचय से अपना सामर्थ्य नहीं बढ़ता।—धन का भी सामर्थ्य कम होता है, अपना भी सामर्थ्य

११८ :: जनेन्द्र के विचार

कम होता है। इनजी को पेट के नीचे रखकर सोने में कुशल नहीं है। ऐसे विस्फोट न होगा, तो क्या होगा ?

पैसा खर्च के लिए नहीं है। पैसा संवर्धन के लिए है। संवर्धन, यानी जीवन-संवर्धन। धन का व्यय जहाँ संवर्धनोन्मुख नहीं है, वहाँ वह असामाजिक है, अतः पाप है। विलासोन्मुख व्यय से सम्पत्ति नहीं; दीनता बढ़ती है।

धन में वृद्धि उस धन की उपयोगिता को कम करती है। प्रतिफल में हमारी गरज जितनी कम होगी, उतना ही हमारे और उसके बीच फासला होगा। उस फासले के कारण वह फल उतना ही बृहद् और मानव के उद्यम द्वारा वह उतना ही गुणानुगुणित होता जायगा। वही गम्भीर और सत्य व्यवसाय है जहाँ कर्म का और व्यय का प्रतिफल दूर होते होते अन्तिम उद्देश्य में अभिन्न, अपृथक् हो जाता है,—जहाँ इस भाँति फला-कांक्षा है ही नहीं। विज्ञान के, व्यवसाय के और अन्य क्षेत्रों के महान् पुरुष वे हुए हैं, जिन्होंने तात्कालिक लाभ से आगे की बात देखी; जिन्होंने मूल-तत्त्व पकड़ा और जीवन को दायित्व की भाँति समझा; जिन्होंने नहीं चाहा विलास, नहीं चाहा आराम; जिन्होंने सुख की ऐसी ही परवाह नहीं की, जैसे दुःख की। उनका तमाम जीवन ही एक प्रकार की पूँजी, एक प्रकार की समिधा बन गया। उनका जीवन बीता नहीं,—वह भविष्य बना और सार्थक हुआ। क्योंकि वे एक विचार के प्रति, आदर्श के प्रति, एक उद्देश्य के प्रति, समर्पित हुए।

अर्थशास्त्र के गणित को फँसाकर भी हम किसी और तत्त्व तक नहीं पहुँच पाते। यों अर्थशास्त्र अपने आप में सम्पूर्ण स्वाधीन विज्ञान नहीं है। वह एकाकी स्वतन्त्र नहीं है। अब वह अधिकाधिक राजनीतिगत है, पॉलिटिक्स है। पॉलिटिक्स अधिकाधिक समाज-शास्त्र (Social science) है। समाज-शास्त्र अधिकाधिक मानस-शास्त्र (Psychology) सापेक्ष होता जाता है। मानस-शास्त्र की भी फिर अपने आप में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। से क्योंकि व्यक्ति फिर समाज में है और जो कुछ वह अब है, उसमें समाज की तात्कालिक और तादृशिक स्थिति का भी हाथ है। इस तरह फिर वह मानव-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि पर अन्तर-अवलम्बित है। आदि।

अर्थ-शास्त्र के आंकिक सवाल बनाने और निकालने में हम उसके चारों ओर कोई बन्द दायरा न खड़ा कर लें। ऐसे हम उसी चक्कर के भीतर चक्कर काटते रहेंगे, और कुछ न होगा। यह ठीक नहीं है। यह उस विज्ञान को सत्य की समस्तता से तोड़कर उसे मुरझा डालने के समान है।

ऊपर हमने देखा है कि व्यावहारिक रुपये-पैसे के उपयोग का नियामक तत्त्व लगभग वही है, जो गीता का अध्यात्म मन्त्र है—अनासक्ति, निष्कामता। इस निष्कामता की नीति से कर्म का प्रतिफल नष्ट नहीं होता, न वह ह्रस्व होता है। प्रत्युत, इस भाँति उसके तो असंख्य गुणित होने की सम्भावना हो जाती है। अत्यन्त व्यावहारिक व्यवहार में यदि वह तत्त्व सिद्ध नहीं होता है जो कि अध्यात्म का तत्त्व कहा जाता है, तो मान

जेना चाहिए कि वह अध्यात्म असिद्ध है, अ-यथार्थ है। अध्यात्म नहीं चाहिए, पर व्यवहार तो हमें चाहिए। व्यवहार-असङ्गत अध्यात्म का क्या करना है। वह निकम्मा है। गीता में भी तो कहा है—‘योगः कर्मसु कौशलं।’

इस दृष्टि से व्यक्ति न कह पायेगा कि सम्पत्ति उसकी है। इसमें सम्पत्ति की बाढ़ रुकेगी। खून रुकने से रोग होगा और फिर अनेक उत्पातों का विस्फोट होगा।

हमें अपने व्यवहार में व्यक्तिगत भाषा से क्रमशः ऊँचे उठते जाना होगा। हम कहेंगे सम्पत्ति व्यक्ति की नहीं, वह सहयोग-समितियों की है। कहेंगे, वह श्रमियों की है। कहेंगे, वह समस्त समाज की है, जो समाज कि राष्ट्र-सभा में प्रतिबिम्बित है। कहेंगे कि वह राष्ट्र की है। आगे कहेंगे कि राष्ट्र क्यों, वह समस्त मानवता की है। इसी भाँति हम बढ़ते जायेंगे। अन्त तक हम देखते जायेंगे कि बढ़ने की अब भी गुंजाइश है। किन्तु, ध्यान रहे कि निराशा का यहाँ काम नहीं, व्यग्रता का भी यहाँ काम नहीं। हम पाने के लिए तैयार रहें कि यद्यपि बुद्धिसंगत (rational) आदर्श में बढ़-चढ़कर हम मानवता से आगे विश्व-समष्टि तक पहुँच गये हों, तब भी संघर्ष बना ही है। बात यह है कि समष्टि कहने से व्यक्ति मिटता नहीं है। व्यक्ति भी है। वह अपने निज में अपने को अनुभव करता है। समष्टि हो, पर वह भी है। उसे इनकार करोगे, तो वह समष्टि को इनकार कर उठेगा। चाहे उसे इसमें मिटना पड़े, पर वह स्वयं अपने को कैसे न माने ? ऐसी जगह मालूम होगा कि व्यक्तित्व की धारणा की ब्रह्माण्ड में भी चाहे हम व्याप्त देखें, पर पिण्ड में भी उसे देखना होगा। और उस समय हम विश्व-समष्टि के शब्दों से भी असन्तुष्ट होकर कहेंगे कि जो है, सब परमात्मा का है। सब परमात्मा है। यह मान-कर व्यक्ति अपनी सत्ता में सिद्ध भी बनता है और वह सत्ता समष्टि के भीतर असिद्ध भी हो जाती है। विचार की दृष्टि से तो हम देख ही लें कि इसके बिना समन्वय नहीं है। इसके इधर-उधर समाधान भी कहीं और नहीं है। प्राइवेट सम्पत्ति के भाव का उन्मूलन तभी सम्भव है जब हम मानें कि व्यक्ति की इच्छायें भी उसकी अपनी न होंगी,—वह सर्वाशतः परमात्मा के प्रति समर्पित होगा।

इसलिए, लोगों से कहना होगा कि हाँ, सोशलिजेशन के लिए तैयार रहो। तैयार क्यों, उस ओर बढ़ो। लेकिन मालूम होता है कि सोशलिजेशन वालों से भी कहना होगा कि देखो भाई, उसके आगे भी कुछ है। उसके लिए भी हम सब उद्यम रहें, सचेष्ट रहें। फार्मूला कुछ बनाया है, इसमें हरज नहीं। पर फार्मूला फार्मूला है। फार्मूला से कहीं बहुत चिपट न जाना। ऐसे वह बन्धन हो जाता है।

□ □

दूर और पास

जब दूरबीन पहले-पहल हाथ आई तब विलक्षण अनुभव हुआ। सुना था उससे दूर की चीज पास दीख आती है। लेकिन मैंने देखा तो पास की चीज दूर हो गई थी। पीछे पता चला कि मैंने दूरबीन को उल्टी तरफ से देखा था ! फिर सीधी तरफ से देखा तो बात सही थी। दूर की चीज बेशक पास दीखती थी। लेकिन इस ग़लती से भी लाभ हुआ। जब पास की चीज को दूर बनाकर देखा था तब दृश्य की सुन्दरता बढ़ गई जान पड़ती थी। दूर की चीज पास आ जाने से दृश्य में मोहकता उतनी न रह गई थी। पता चला—

दूरी मोह पैदा करती है,—Distance lends charm; दूरी मिट जाय तो सुन्दरता के बोध के लिए गुंजायश नहीं रहेगी।

यह तो राह चलने की बात हुई। लेकिन जिस विचित्र अनुभव का जिक्र यहाँ करना है वह यह है कि जो चीज एक ओर से दूर को पास करती है, वही दूसरी ओर से पास को दूर बना देती है।

अर्थात्, दूर होना और पास होना ये कोई निश्चित स्थितियाँ नहीं हैं। वे अपेक्षा-पेक्षी हैं। उनमें अदल-बदल हो सकता है।

दूरबीन की मदद से ऐसा होता ही है। लेकिन बिना दूरबीन के भी आँख नित्य प्रति ऐसा करती है, यह भी सही है। आँख में तर-तमता की शक्ति है। जो पास की चीज को देखती है वही आँख कुछ दूर की चीज भी देख लेती है,—आँख की नसों यथानुरूप फ़ैल-सिकुड़-कर आँख की इस शक्ति को कायम रखती हैं।

वस्तुओं का मूल्य भी इस पर निर्भर करता है कि हम उनसे कितने पास अथवा कितने दूर हैं। क्योंकि, दूरी और निकटता निश्चित मान के तत्त्व नहीं हैं, इसी से किसी वस्तु का ही मूल्य नहीं है। वह मूल्य अलग अलग लोगों की निगाह में अलग अलग है और देश-काल के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है।

दूर की बड़ी चीज छोटी लगती है, पास की छोटी बड़ी। आँख के आगे दो उँगली खड़ी कर लें तो सूरज ढँक जाता है। पर सूरज बहुत बड़ा है, दो उँगलियों की चौड़ाई उसके सामने भला क्या है ? फिर भी, पास होने से मेरे हिसाब से दो उँगलियाँ सूरज से बड़ी बन जाती हैं और सूरज को देखने से रोक सकती हैं। पास का पेड़ बड़ा दीखता है,

दूर का पहाड़ उभरी काली लकीर-सा दीखता है।

परिणाम निकला कि बाहरी छुट-बड़पन कोई निश्चित मान का तत्त्व नहीं है, वह प्रयोजनाश्रित तथ्य ही है।

इसलिए, असल प्रश्न यह हो रहता है कि हमारी तर-तमता की शक्ति कितनी है? आँख की दृष्टि की वह शक्ति तो परिमित ही है, लेकिन मन की दृष्टि की शक्ति का परिणाम वैसा बँधा नहीं है वह उत्तरोत्तर बढ़ाया जा सकता है। मन की दृष्टि-शक्ति का नाम है, कल्पना।

जो नहीं दीखता, कल्पना उसे भी देखती है। जो पास है। कल्पना उसे भी दूर बना सकती है। जो बहुत दूर है, कल्पना उसे भी खींचकर प्रत्यक्ष कर देती है।

कल्पना दूरबीन की भाँति बड़ी उपयोगी चीज़ है। पर उसके उपयोग की विधि आनी चाहिए। अन्यथा वह कीमती खिलौने से अधिक कुछ नहीं रह जाती।

पर नहीं, वह हर हालत में कीमती खिलौने से अधिक है। कीमती खिलौना तो ज्यादा से ज्यादा टूटकर रह जायगा। पर कल्पना खुद नहीं टूटती, आदमी को तोड़ती है। उसका गलत उपयोग हुआ तो वह आदमी को तोड़-मोड़कर पशु बना सकती है। उसके ठीक इस्तेमाल से आदमी देवता बन जाता है। इसलिए, कल्पना खिलौना नहीं है और उससे खेलने में सावधान रहना चाहिए।

दूरबीन जिसके पास पैसा है वही बाज़ार से ले सकता है, पर कल्पना तो सभी को मिली है। उसके लिए किसी को भी किसी बाज़ार में भटकना नहीं है। वह भीतर योज़ूद है। सवाल इतना ही है कि उसका इस्तेमाल होता रहे और वह मैली न हो और न ढीली-ढाली हो जाय। ठीक काम के लायक रहे और वह बहके नहीं।

सच बात यह है कि जैसे निगाह खराब होने का मतलब यही है कि उसमें दूर को ठीक दूर और पास को ठीक पास देखने की शक्ति नहीं रह गई है वैसे ही बुद्धि की खराबी का मतलब सिवा इसके कुछ नहीं है कि कल्पना की लचक उसमें कम हो गई है।

हमारा रोज का अनुभव है कि अगर अपने ही हाथ को हम अपनी आँखों के बहुत निकट लाते चले जायें तो अन्त में आँख काम नहीं देगी और मालूम होगा कि जैसे हाथ रहा ही नहीं है। किसी भी तस्वीर को हम पास से और पास देखने का आग्रह करके उसे सिर्फ़ घन्बा बना दे सकते हैं। यहाँ तक कि उसे अपनी आँख से बिल्कुल सटा लेकर कह सकते हैं कि वह कुछ भी नहीं है, क्योंकि हमें कुछ भी नहीं दीखता है। इस भाँति हरेक सुन्दरता ज़रूरत से अधिक पास ले लेने पर असुन्दर और फिर असत् हो जायगी।

इसलिए, हमारा प्रत्येक के प्रति एक प्रकार का सम्मान का अन्तर चाहिए ही। उस अन्तर को मिटाकर भोग की निकटता पैदा की कि वहाँ सुन्दरता भी लुप्त हुई।

यह रोज का ही अनुभव है। हम चीज़ों को देखते हैं और वे सुन्दर लगती हैं। सुन्दर लगती हैं, तो हम उन्हें चाहने लगते हैं। चाहने लगते हैं तो उन्हें पाने की लालसा

करते हैं। इस लालसा की बुद्धि से हम उन्हें छूते हैं,—पकड़ते हैं, अर्थात् उन्हें मर्यादा से अधिक अपने निकट ले लेते हैं। परिणाम होता है कि हमारा संभ्रम मिट जाता है और जिसको मनोरम मानकर चाहा था वह धीमे धीमे बीभत्स हो जाता है और हमारे चित्त को ग्लानि होने लगती है। तब उकता कर उसे छोड़ हथ दूसरी ओर लपकते हैं। पर वहाँ भी वही होता है और वहाँ भी अन्ततः ग्लानि हाथ आती है।

अनुभव में आया है कि जिस जगह में हमें बिल्कुल दिलचस्पी नहीं हुई है, वहाँ के फोटोग्राफ लुभावने हो जाते हैं। खंडहर हमारी निगाह में खंडहर है लेकिन उसी का चित्र कभी हमारे लिए इतना सुन्दर हो जाता है कि हम सोच भी नहीं सकते थे।

यह इसीलिए कि फोटोग्राफ से हमारी पर्याप्त अलहदगी है। फोटोग्राफ में हम उस दृश्य को एकत्रित भाव में देख सकते हैं। आग्रह वहाँ हमारा मंद है। वहाँ हमारे मन की स्थिति से विलग भी उसकी सत्ता है। मानों उस चित्र का अस्तित्व ही नहीं, व्यक्तित्व है।

परिणाम यह कि दूरी भी कभी बिल्कुल नष्ट नहीं हो जानी चाहिए। दूरी बिल्कुल न रहे तो आँख बिल्कुल न देख पाये, बुद्धि बिल्कुल न समझ पाये। और मन पर जोर इतना पड़े कि ठिकाना नहीं और तिस पर भी चहुँ ओर सिवा अँधेरे के कुछ न प्रतीत हो।

सब वस्तुओं, सब स्थितियों, सब दृश्यों और व्यक्तियों के प्रति यह समादर की दूरी इष्ट है। इसको विनय-भाव कहिए, अनासक्ति कहिए, समभाव कहिए, असंलग्नता कहिए, दृष्टि की वैज्ञानिकता कहिए,—चाहे जिस नाम से इसे पुकारिए। संबंध में एक प्रकार की तटस्थता ही चाहिए। जो भी हम छू रहे, देख रहे, चाह रहे हैं, ध्यान रखना चाहिए कि उसका अपना भी स्वत्व है। वह प्रयोजनीय पदार्थ ही नहीं है। वह भी अपने आप में सजीव और सार्थक हो सकता है। उसमें भी वह है, जो हम में है। एक ही व्यापक तत्त्व दोनों में है। जो हम हैं वही वह है। इसलिए किसी अविनय का अथवा आहरण का संबंध हमारा कैसे हो सकता है? संबंध प्रेम, आनंद और कृतज्ञता का हो सकता है। जिसको कल्पना कहा, उसका इसी जगह उपयोग है।

जो हम हैं वह तो कोई भी नहीं है। हम जैसे बुद्धिमान हैं, क्या कोई दूसरा वैसा हो सकता है? साफ बात तो यह है कि हम हमी हैं। कोई भला हम-जैसा क्या होगा? असंस्कारी अहंकारी बुद्धि इसी प्रकार सोचती है।

लेकिन इससे यही सिद्ध होता है कि ऐसा सोचने वाले की कल्पना-शक्ति क्षीण हो गई है। कल्पना हमें तुरन्त बता देती है कि हम अनेकों में एक हैं और अपने में अहंकार अनुभव करने का तनिक भी अवकाश नहीं है। वह कल्पना हमें बताएगी कि दूसरे में भी अहंकार हो सकता है, और है, और उस अहंकार का खयाल रखकर चलना ही ठीक होगा। वह कल्पना हमें सबके अलग अलग स्थान समझने में मदद देगी और सुभाष्यगी कि समस्त के केन्द्र हम नहीं हैं जैसा कि हम आसानी से समझ लिया करते हैं।

वैसी तटस्थता की दूरी जगत् और जगत् की वस्तुओं के साथ स्थापित करने के बाद आवश्यक है कि हम उनसे भावना की निकटता भी अनुभव करें। दूरी तो है ही, पर निकटता और भी घनिष्ठ भाव से आवश्यक है। वैसी निकटता का बोध जीवन में नहीं है तो जीवन में कुछ रस भी नहीं है।

जिस शक्ति से यह हो, उसका नाम है भावना। यह भावना प्रभेद-मूलक है। यह दो को एक करती है, यह दूरी को नष्ट करती है। 'नष्ट करती है' का आशय यह कि उसके फासले को यह रस से भर देती है।

जब पहले पहल खुर्दबीन में से झाँक कर देखने का अवसर हुआ था, तो आश्चर्य में रह जाना पड़ा था। बाहर कुछ भी नहीं दीखता था, एक नन्हा,—बहुत ही नन्हा-सा पत्ते का खण्ड डैस्कर पर रखा था। वह है, इसमें भी शक हो सकता था। उसकी हस्ती कितनी थी! साँस उस पर पड़े तो बेचारा उड़ कर कहाँ चला जाय, पता भी न चले। लेकिन, खुर्दबीन में से जब देखता हूँ तो देखता हूँ कि क्या कुछ वहाँ नहीं है! जो आश्चर्य-कारक है, जो महान् है, वह सभी कुछ वहाँ पर भी है। एक दुनिया की दुनिया उस पत्ते के खंड के भीतर समाई है! वह पत्ते का टुकड़ा क्या कभी पूरी तरह जाना जा सकेगा? उसमें कितना रहस्य है, कितना सार! उसमें क्या अगाध अज्ञेयता नहीं है? जाने जाओ, जाने जाओ, फिर भी जानने को वहाँ बहुत-कुछ शेष रह ही जायगा। खुर्दबीन में से उस बिंदी-भर पत्ते को मैंने इतना फँला हुआ देखा कि मानों वही विश्व हो। उसमें मानों नगर थे, मैदान थे, समन्दर थे। लेकिन वहाँ से आँख हटाने पर क्या मैंने नहीं देख लिया कि हरी-सी-बूंद-जितने आकार के उस पत्ते की सत्ता इस जगत् में इतनी हीन है,—इतनी हीन है कि किसी भी गिनती के योग्य नहीं है!

फिर भी वह है, और नहीं कहा जा सकता कि अपने में वह स्वतंत्र सृष्टि नहीं है। वह खंड वैसा ही स्वयं हो सकता है जैसा मैं अपने में स्वयं हूँ। तब मैं कैसे उसके प्रति अविनयी हो सकता हूँ?

यही भावना की आवश्यकता है। कल्पना ने मुझे मेरा स्थान बताया और सबका अपना अपना स्थान बताया। उसने मुझे स्वतंत्रता दी, उसने अपनी ही मर्यादाओं से मुझे ऊँचा उठाया, उसने मुझे अनंत तक पहुँचने दिया और मेरी सांतता के बन्धन की जकड़ को ढीला कर दिया।

भावना उसी मेरी व्यापकता में रस प्रवाहित करेगी। उसमें अर्थ डालेगी। जो दूर है, उसे पास खींचेगी। भावना से प्राणों में उभार आएगा और जिसे कल्पना ने संभव देखा था, भावना उसी को सत्य बनाएगी।

जो ब्रह्माण्ड में है पिण्ड में भी वह सभी-कुछ है। ब्रह्माण्ड को छूने की ओर कल्पना उठी, तो भावना उसी सत्य को पिण्ड में पा लेने की साधिका हुई। Extensivity (=विस्तृति) में नहीं, Intensity (=घनता) द्वारा ही वह सम्पूर्ण को अपनाएगी। दर्शन की मर्यादा अगम है, पर प्रीति-भक्ति की क्षमता उससे भी गहरी जायगी। प्राणों

का उभार (= Tension) कल्पना की उड़ान से अधिक सार्थक हो सकेगा। उससे उपलब्धि गम्भीर होगी।

कल्पना और भावना ये दोनों ही जीवन की प्रगति के मूल में हैं। दोनों अनिवार्य हैं, दोनों अमूल्य हैं। पर दोनों का खतरा भी बहुत है। दोनों से मनुष्य विराट् की ओर बढ़ता है, पर इन्हीं से वह अपना विनाश भी बुला सकता है।

भावना से जब हम परस्पर में 'क्लेश-क्लिस्ट' दूरी पैदा करते हैं और कल्पनाहीन बुद्धि से लालसाजनित निकटता में रमण करते हैं, तब ये ही दोनों शक्तियाँ हमारी शत्रु हो जाती हैं और हमारा अनिष्ट-साधन करती हैं। जो मेरे पास है, वह मेरा स्वत्व नहीं है, क्योंकि उसका अपने में अलग स्वत्व भी है। कल्पनाहीन होकर हम प्राण को ऐसे पाते हैं, मानों उसकी सार्थकता हमारे निकट प्राप्त होने में ही है। यह हमारी भूल है और इससे हमारी अपनी ही प्राप्ति का रस ह्रस्व होता है। यही मानव का मोह और अहंकार है।

दूसरी ओर भावना को हम दुर्भावना बना उठते हैं और उसके सहारे परस्पर की निकटता नहीं बल्कि दूरी बढ़ा लेते हैं। मन ही एक हो सकता है, तन अनेक हैं। पर मन हम फटने देते हैं, और तन की निकटता के कामुक होते हैं। नतीजा इसका विनाश है।

जो दूर है उसे दूर, जो पास है उसे पास जानना होगा। फिर भी जानना होगा कि दूर है वह भी पास है और जो पास मालूम होता है, उसे भी दूर रखने की आवश्यकता हो सकती है। तन जुदा जुदा हैं, आत्मा एक है। आत्मैक्य को कल्पना द्वारा प्राप्य और भावना द्वारा सुलभ बनाना होगा। और अपनी एवं सबकी देह की अभिन्नता के प्रति सम्मान और संभ्रम का भाव रखना होगा। सबके स्वत्व का आदर करना होगा, किसी स्वत्व का आहरण एवं अपहरण गहि़त समझना होगा। यही दूर और पास का भेद है। इस दूर और पास की तर-तमता का भेद हमने खोया तो समझो अपने को ही खोया। उसको जानकर हम अपने को पाने का प्रयत्न करें, यही शुभ है।

□ □

निरा अ-बुद्धिवाद

सुना जाता है कि शुतुरमुर्ग जो अफ्रीका के रेतीले मैदानों में होता है विचित्र प्राणी है। वह जब शत्रु की टोह पाता है तो और कुछ करता नहीं, रेत में मुंह दुबका लेता है। शत्रु फिर निरापद भाव से आकर उसका काम-तमाम कर देता है। वह जानवर शुतुरमुर्ग इस भाँति शांतिपूर्वक मरता है।

हम लोग शायद उसकी मरने की पद्धति से सहमत नहीं हैं। उसका मरना हमारे मन से कोई गलत बात नहीं है। उसकी बेवकूफी की सच्चा ही समझिए जो मौत के रूप में उसे मिलती है। ऐसे वह न मरे तो अचरज। मरना तो उसका उचित ही है। और हम मनुष्य जानते हैं कि शुतुरमुर्ग मूर्ख प्राणी है।

मूर्ख तो वह हो; लेकिन इतना कहकर बात को हम टालें नहीं। उसे मूर्ख कह देकर आदमी शायद स्वयं अपने का कुछ बुद्धिमान् लग आता हो। पर हमें सन्देह है कि दूसरे को मूर्ख कहने के आधार पर खुद बुद्धिमान् बनने का ढंग ठीक है। तिस पर वह शुतुरमुर्ग क्यों मूर्ख है? और हम क्यों नहीं हैं? और मूर्ख होने में सुभीता यदि हो तो फिर हरज क्या है?—आदि बातें सोचने की हैं।

घर में एक छोटी बच्ची है। नाम अभी है मुन्नी। सदा खेलती रहती है। एक खेल उसे प्रिय है। वह मुन्नी किसी सूखती हुई धोती या बक्स या कुर्सी के पीछे होकर मुंह ढककर चिल्लाएगी—‘अम्माँ ! मुन्नी को ढूँढो।’ अगर अम्माँ एक बार में ध्यान नहीं देगी तो मुन्नी उससे उलझ पड़ेगी। कहेगी—‘अम्माँ, अरी अम्माँ, देख।’ और जब अम्माँ उसकी ओर मुखातिब होगी तब सामने दूर जाकर मुंह की ओट करके कहेगी, ‘मुन्नी नहीं है, अम्माँ। मुन्नी नहीं है, मुन्नी को ढूँढो।’

तब मुन्नी की अम्माँ भी सारे कमरे में इधर-उधर, कभी कलमदान के नीचे, कभी होल्डर के निब में, ग्लास में या सूई के नकुए में, यहाँ-तहाँ और जहाँ-तहाँ खोज मचाती हुई मुन्नी को ढूँढ़ती है, कहती जाती है,—‘अरे मुन्नी कहाँ है? (कपड़े को उलट-पलटकर) अरे कहाँ है? मुन्नी, ओ मुन्नी !’

और मुन्नी सामने खड़ी-खड़ी चोरी-चोरी अम्माँ के यत्नों की विफलता देखकर और उसमें रस लेकर मुंह को दोनों हाथों से ढककर कहती है—‘मुन्नी नहीं है, अम्माँ। मुन्नी नहीं है।’

अम्माँ बहुतेरा ढूँढ़ती है, पर सामने खड़ी हुई मुन्नी नहीं मिलती। ओह ! जाने कितनी देर बाद वह मिलती है। मिलने के बाद ही दो कदम भागकर फिर मुंह दुबकाकर खड़ी हो जाती है, कहती है—‘अम्माँ, मुन्नी फिर नहीं है, और ढूँढ़ो।’

मुन्नी को इस खेल में बड़ा आनन्द आता है। हमें भी आनन्द आता है। हम कहते हैं—‘मुन्नी है।’ और वह भागकर किसी वस्तु की ओट लेकर कहती है—‘मुन्नी नहीं है।’ अपनी आँखें बन्द करके समझती है, वह नहीं रही है।

अभी तक ऐसा अवसर नहीं आया कि हमारे मन में इच्छा हुई हो, कि उसको बुलाकर विद्वत्तापूर्वक समझावें। कहेँ, कि पगली सुन, तेरे देखने और दीखने पर औरों की यथवा तेरी सत्ता निर्भर नहीं है; यथार्थता समझ, लड़की, और मूर्खता छोड़। ऐसा हमने अब तक नहीं किया और अचरज यह है कि ऐसा न करने के लिए कभी अपने को मूर्ख भी हमने नहीं माना। इस खेल को हमने प्रसन्नता-पूर्वक खेल लिया है और कभी यह नहीं सोचा है कि मूर्खता गलत चीज है और हमें मुन्नी का उससे उद्धार करना ही चाहिए।

हमें सन्देह है कि मुन्नी को यदि हम अपनी बुद्धिमत्ता देने लग जायें तो वह उसे नहीं लेगी। इतना ही नहीं, वरन् वह उस हमारी बुद्धिमत्ता को मूर्खता समझेगी और अपनी मूर्खता को स्पष्ट रूप में तर्कशुद्ध ज्ञान जानेगी।

हम कैसे जानते हैं कि मुन्नी गलत है ? जब वह कहती है कि ‘वह नहीं है’ तब भी वह गलत कहाँ कहती है; क्योंकि जैसा जानती है वैसा ही तो कहती है। वह (उस समय) जानती ही यह है कि ‘वह नहीं है।’

वास्तव वास्तविकता तत्सम्बन्धी हमारी धारणा से भिन्न क्या वस्तु है ? भिन्न होकर वह है भी या नहीं ? —यह अभी निर्णय होने में नहीं आया। न कभी आयेगा। अकाट्य-रूप में हम यह कह सकते हैं कि सम्पूर्ण सत्य मानव के लिए चिर-अप्राप्य, अतः चिर-शोध्य है। वह सत्य क्या मनुष्य से बाहर भी व्याप्त नहीं है ? जो बाहर भी है वह मनुष्य के भीतर ही कैसे समायेगा ? उस सर्वव्यापी सत्य की मानव-निर्मित धारणाएँ ही मानवीय ज्ञान-विज्ञान हैं, वे स्वयं में सत्य नहीं हैं। अपने सब ज्ञान के मूल में ‘हम’ हैं। वह ज्ञान सत्य है तो बस हमारा होकर है। हमारा नहीं, तब वह हुआ न हुआ एक-सा है। हर सत्य को अपनी सत्ता के लिए हम पर इस निमित्त निर्भर रहना होगा, कि हम उसे जानें। यह बात साफ है। इसको समझने से कोई इनकार नहीं कर सकता, न कोई दार्शनिक इस बात की मान्यता से बाहर पहुँच सकता है।

जब ऐसा है, जब हमसे अलग होकर सचाई कुछ है ही नहीं, अथवा है तो नहीं जैसी है, तो यह अप्रामाण्य बनता है कि हम शुतुरमुर्ग को गलत और अपने को ठीक कहें।

शुतुरमुर्ग को तो शायद हम ठीक न कह सकेंगे। उसको ठीक कहने के लिए हमें अपने को इनकार करना होगा। हम तो दोनों को देखते हैं न—शुतुरमुर्ग को भी, उसके

शत्रु को भी—इसलिए रेत में सिर दबाकर शत्रु से बचने की श्रुतमुगं की चेष्टा को हम सही कैसे कह सकते हैं ? और श्रुतमुगं के भलत होने का प्रमाण उसी के हक में यह भी है कि शत्रु आकर उसे दबोच लेता है। इसलिए यह तो असंभव है कि श्रुतमुगं ठीक हो। लेकिन जब वह ठीक नहीं है तब हम भी ठीक कैसे हो सकते हैं, यह विचारणीय है। हो सकता है कि हमारी हालत श्रुतमुगं से इतनी ही भिन्न हो, कि हम श्रुतमुगं न होकर आदमी हैं। अथवा कैसे कहें, कि यथार्थ में हम दोनों में बुद्धि की अपेक्षा खासी समता नहीं है।

मान लिया जाय कि श्रुतमुगं बुद्धि से श्रुतमुगं है, लेकिन बातचीत में आदमी है। तब क्या वह हमको मूर्ख नहीं समझेगा ? 'जो दीखता है, उतना ही है। जो नहीं दीखता है, वह इसीलिए तो नहीं दीखता कि नहीं है'—श्रुतमुगं के ज्ञान का तल यह है। हम मानव उसे थोड़े अज्ञेयवादी, अनिष्टवादी जान पड़ेंगे। जो अज्ञात है, उसके होने में क्या प्रयोजन ? वह न हुआ भला। वह नहीं ही है। और श्रुतमुगं के निकट जो दुश्य है, उतना ही ज्ञात है, उतना ही ज्ञेय है। अतः जितना दीखता है, उसके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं,—यह होगा उस मानववर्णी श्रुतमुगं का जीवन-सिद्धान्त। तदनुरूप उसकी जीवन-नीति भी यह हो जाती है कि—'जो अनिष्ट है, उसे मिटाने का सीधा उपाय है उसे न देखना। अनिष्ट पर इसी भांति विजय होगी। अनिष्ट यों ही बसतु होगा। इसलिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, जब भय हो अथवा सन्देह हो, तब आँख मीच लो। भय की आशंका और सन्देह की शंका से इस भांति मुक्ति प्राप्त होगी।'।

अब, क्या मानव-बुद्धि-द्वारा निर्मित तर्क-सम्मत नीति भी लगभग इसी प्रकार की नहीं है ?

उस नीति पर चलने से श्रुतमुगं शत्रु से नहीं बच पाता। शत्रु को उलटे अपनी ओर से वह सुविधा पहुँचाता है और बेमौत मर जाता है। अतः कहा जा सकता है कि वह नीति विफल है, भ्रांत है। हम भी खुद ऐसा मानते हैं।

पर उस नीति की (जो आज मानव-नीति भी हो रही है) वकालत में यह कहा जा सकता है कि मरना तो सबको है। कौन नहीं मरता ? असल दुश्मन मौत है। किसी और को दुश्मन भला क्यों मानें। कोई हमें क्या मारेगा। बात तो यह है, कि मौत हमें मारती है। जिसे दुश्मन मानते हो वह तो यम देवता का साधन है, वाहन है। असल में तो भाग्य के पंजे में सब हैं। यम उसी भाग्य का प्रहरी है। उसके आघात से तो बचकर भी बचना नहीं है। मौत हमें आ दबोचेगी ही। प्रश्न उससे बचने का नहीं है, और मुँह दुबका लेने से क्या श्रुतमुगं सचमुच भय से छुटकारा नहीं पा जाता ? फिर वह मर भी जाय तो क्या ?

मानना होगा कि प्रश्न अन्त में किसी भी शत्रु से बचने का उतना नहीं है। उतना क्या, बिलकुल भी नहीं है। तमाम प्रश्न (उसके) भय से बचने का है। यह तो

१२८ :: जैनेन्द्र के विचार

हम जानते ही हैं कि डरकर हम चाहे कितना ही भागें, हटें, छिपें, पर मौत के चंगुल से बचना नहीं होगा। इस प्रकार के सब प्रयत्न निष्फल होंगे। अतः एक ही लक्ष्य हमारे सामने रह सकता है और वह यह कि मरने की घड़ी हम सीधे ढँग से मर जायें, पर मरने से पहले थोड़ा भी न मरें, अर्थात्, मरने के भय से बचे रहें।

क्या यही लक्ष्य नहीं है ? और क्या इसी लक्ष्य के साधन में मनुष्य ने धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र, कला-विज्ञान आदि नहीं आविष्कृत किये ? फिर शतुरमुगं को मूर्ख क्यों कहते हो ?

शतुरमुगं के वकील के जवाब में क्या कहा जाये ? पर एक तो भय से बचने की पद्धति स्वयं भय का भय है। यह शतुरमुगं की है। अधिकांश में मानव के यत्न भी उसी पद्धति के हैं। पर दूसरा, भय को निर्भयता से जीतने का उपाय है। इसमें भय से छिपा नहीं जाता, उस पर विजय पाई जाती है। उसका सामना किया जाता है।

शतुरमुगं ने अपने को रेत में गाड़ लिया और भय से बचा लिया। इस भाँति वह सहज भाव से मर गया। आदमी ने धर्म की सृष्टि की, उसमें अपने को गाड़ लिया और राम-नाम लेता हुआ कृतार्थ भाव से मर गया। धर्म से उतरकर उसने कर्तव्य, देश-भक्ति, त्याग, बलिदान आदि-आदि अन्यान्य मंतव्यों की सृष्टि की, जिनके भीतर निगाह गाड़े रखकर वह हादिकतापूर्वक मर गया। असल में सब बात मरते समय सहज भाव रखने की है। जो जितना निर्भय है, सरल भाव से मर सकता है, वह उतना ही सफल है। लेकिन स्पष्ट है कि इसके लिए बुद्धि की निगाह को बांधकर कहीं न कहीं गाड़ लेना जरूरी है।

हाँ, जरूर गाड़ लेना जरूरी है। पर इसमें और शतुरमुगं की क्रिया में अन्तर हो सकता है। एक भय-जन्य है तो दूसरी श्रद्धा-प्रेरित हो सकती है।

एक प्रकार के मतवादी हैं जो तर्कपूर्वक सिद्ध करते हैं कि आँख चारों ओर देखने के लिए है। बुद्धि स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व चौमुखी है। श्रद्धा अन्धी वस्तु है। किसी भी अज्ञेय वस्तु का पल्ला पकड़कर नहीं बैठना होगा। सब कुछ तोलना होगा। ये लोग डिजाइनर हैं और तरह-तरह की साइन्सों के चौखूँटे नकशे बनाकर दिया करते हैं।

ऐसे लोग ज्ञान-विज्ञान की बहुत छान-बीन करते देखे जाते हैं। उनका जीवन विवेक-शील, संभ्रांत और मुखमय होता है। ये लोग सब बातों को तोलते, जाँचते और परखते हैं। किसी पर श्रद्धा नहीं रखते, किसी पर फिर अश्रद्धा भी नहीं रखते। उदार, संयत, सीधे-सादे रूढ़ि पर चलने वाले जीव ये होते हैं।

लेकिन मौत का इन्हें बड़ा भय होता है। दूसरे की भी और अपनी भी मौत का। मौत की व्याख्या तटस्थ भाव से ये करते हैं; पर उसकी ओर निगाह नहीं उठने देते। ये श्रद्धा के कायल नहीं। इससे इनकी जीवन-नीति भय के आधार पर खड़ी होती है। भय में से नियम-कानून, पुलिस-फौज, अदालत-जेल, शासन-अनुशासन, अस्त्र-शस्त्र आदि बनते हैं। भय अदभुत-रूप में सहनशील है। वह जबरन कर्म को उत्पन्न

करता है। भय-जात साहस और भय-जात बल में आसुरी प्रबलता है। भय एक दृष्टि से उपकार भी करता है। उससे निर्भीकता की अनिवार्य आवश्यकता प्रकट होती है। भय निस्सन्देह उन्नति के मार्ग में बहुत जरूरी है। पर भय उभय है। उससे मौत पास खिंचती है। वह मौत को न्यौता है।

श्रद्धा में से शास्त्र-पुराण, साहित्य-विज्ञान, कला-दर्शन, क्रान्ति और बलिदान बनते हैं। श्रद्धा मौत को प्रेम भी कर सकती है। इसलिए नहीं कि वह मौत है; बल्कि इसलिए कि श्रद्धा जानती है कि मृत्यु जीवन की दासी है। श्रद्धा जानती है कि यदि जीर्ण की मौत है तो इसी निमित्त कि नूतन की सृष्टि हो और जीवन उत्तरोत्तर पल्लवित हो। श्रद्धा आँख नहीं मीचती। वह आँख खोले रखकर मौत में जीवन के संदेश को और शत्रु में बंधु को पहचानती है।

हम कह सकते हैं कि वह श्रद्धा है तो मनुष्य शुतुरमुर्ग नहीं है; पर हम उस मतवादी से कैसे पार पायें जो मनुष्य को इतना तर्क-संगत और विज्ञान-शुद्ध बनाना चाहता है कि श्रद्धा उनके पास न फटके। तब हम उस बुद्धिवादी को शुतुरमुर्ग का वकील कहते हैं।

मुझे इसमें संदेह है कि आँख एक ही क्षण में चारों ओर देखती है। मुझे प्रतीत होता है कि वह एक पल में एक ही ओर देखती है। और मुझको ऐसा भी मालूम होता है कि हमारी बुद्धि में दृश्य को Perspective देखने की शक्ति न हो तो आँख देखकर भी कुछ न देख सके। Perspective की शक्ति अर्थात् दृश्य की विभिन्नता में एकता देखने की शक्ति। इसी प्रकार व्यक्तित्व को चहुँमुखी होने के लिए एक निष्ठा की आवश्यकता है। शंका के सामर्थ्य के लिए निश्शंकित चित्त चाहिए और श्रवण की शक्ति के लिए समन्वय की साधना चाहिए। मुझे इसमें बहुत संदेह है कि वह बुद्धि जो चारों ओर जाती है, किसी भी ओर दूर तक जा सकती है। मुझे इसमें भी बहुत संदेह है कि जिसको श्रद्धा का संयोग प्राप्त नहीं है, वह बुद्धि कुछ भी फल उत्पन्न कर सकती है, बुद्धि अपने आप में बन्ध्या है। वह भय में से उपजी है और भयाश्रित बुद्धि लगभग शुतुरमुर्ग-जैसी है। उससे निस्सन्देह मदद बहुत भी मिलती है। उसकी मदद से व्यक्ति थोड़ी बहुत निर्भयता भी सम्पादन करता है; पर वह अंततः मन को उठाती नहीं है और स्वयं भी विकारहीन नहीं है।

किसी बृहत्तर अज्ञेय में अपने को गाड़ देने से हम अपने को संकुचित नहीं बनाते। अपनी बुद्धि के भीतर रत रहने से जैसे हम ह्रस्व होते हैं उसी भाँति श्रद्धापूर्वक विराट् सत्ता के प्रति समर्पित हो रहने से हम मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। धर्म, आदर्श, बलिदान आदि की भावनाएँ मनुष्य की इसी प्रकार अभ्युदय स्फूर्ति का फल हैं और वह इन भावनाओं द्वारा अपने ही घेरे से ऊँचा उठता है।

शुतुरमुर्ग की कथा मनुष्य पर ज्यों की त्यों लागू है, अगर वह भय को जीतने के लिए अपनी भयाक्रान्त धारणाओं में ही दुबकता है। साधारणतया हम उस कथा के

१३० :: जैनेन्द्र के विचार

उदाहरण के प्रयोग से बाहर नहीं होते। लेकिन हम बहुत कुछ बाहर हो जाते हैं जब कि अपने बचाव की चिन्ता नहीं करते प्रत्युत् (मालूम होने वाले) शत्रु के सम्मुख बढ़ चलते हैं। शत्रु को जब हम अपने से भिन्न देखते ही नहीं और उससे भागने की जरूरत नहीं समझते, तब हमारी बुद्धि स्वस्थ रहती है। तब हम धीर, प्रसन्न, प्रेम भाव से उसे अपनाते हैं; फिर इसमें चाहे हमें उसके हाथों मौत ही मिले। पर मौत में हार नहीं है, हार तो जय में है। मौत तो जीवन-तत्त्व की प्रतिष्ठा में नियुक्त एक सेविका मात्र ही है।

हमारे घर की जो मुन्नी अपनी आँखें मूंद कर समझ लेती है कि वह नहीं रही, असल में वह हम में से अधिकांश की बुद्धि की प्रतिनिधि है। न देखना, न होना नहीं है और हम बहुधा इसी चक्कर में पड़े हैं। बुद्धि पग-पग पर हमें वहकाती और फुसलाती है। वह प्रवचना है, वह भय की प्रतिक्रिया है। भय उपयोगी है, यदि वह श्रद्धा और प्रार्थना की ओर ले जाय। श्रद्धा भय का काट है। भय संहारक है (जैसा कि वह है) यदि वह अस्त्र-शस्त्र और अहंभाव की ओर ले जाता है। हम जान रखें कि एक साहस है जो भय में से उपजता है। वह आवेशयुक्त, ज्वराक्रान्त और पर्याप्त से अधिक तीखा होता है। वह दूसरे को डराकर अपने को साहस सिद्ध करता है। वह चमत्कृत भय का प्रतिरूप है। हमारी बुद्धि भी अहंजन्य भीरु साहसिकता को अपनाती और पोसती है; पर वह साहस सस्ती चीज है और नकली है। वैसी साहसिकता भीरुता नहीं भी हो तो प्रमत्तता अवश्य है। शराब पीकर जो दुर्बल बड़ी डींगें हाँकता है, वह डींगें उसकी उस दुर्बलता को ही व्यक्त करती हैं। कृपया कोई उन्हें बल न समझे। हमारी बुद्धि बड़ी ठगिनी है। क्षीण-शक्ति पुरुष क्यों शराब की ओर जाता है? इसीलिए कि वह अपने को ठगना चाहता है। नहीं तो अपनी ही क्षीणता उसे असह्य होती है। कुछ देर तक के लिए क्यों न हो वह अपने से बचने के लिए नशे का सहारा पकड़ता है। बुद्धि हमें बताती है कि हम हम हैं और वह अमुक हमारा शत्रु है और वह दूसरा भी हमारा शत्रु है—इस भाँति वह हमें भरमाती है। पर हमारा शत्रु बाहर कहाँ, वह भीतर है। भीतर बाहर के द्विभेद पर हमारी बुद्धि अपना किला बाँध बैठी है। वह हमें परस्पर-व्याप्त अभेद तो देखने ही नहीं देती और हमें भय के मार्ग से अपने उन इस या उस शत्रु से बचने या बदला लेने के नाना उपाय निरंतर सुझाती रहती है। पर ये सब शत्रु-मुर्ग के या शिकारी के उपाय हैं। वे सब मौत के निमंत्रण के उपाय हैं। शुद्ध बुद्धि व्यवसायात्मिका है और वह श्रद्धोपेत है। वह अभेद की भाँकी देती है। वह विनीत बनाती है। वह जगत् के प्रति दूढ़ और परमात्मा के प्रति व्यक्ति को कातर बनाती है। उससे व्यक्ति अटूट, अजेय और अमर बनता है। वह मरता है पर अमर होने के लिए, क्योंकि मृत्यु में उसे संकोच नहीं होता। ऐसी बुद्धि अजेय में से रस लेती है और उसी में अपना समर्पण करके रहती है। वह इस भाँति क्रमशः प्रशस्त और मुक्त होती जाती है।

□ □

प्रश्नोत्तर

—निर्मोह और अबुद्धिवाद का साथ कैसा ?

मोह यह हार्दिक विकार है। श्रद्धा भी हृदय का वैसा ही विकार है। अतः जहाँ आप निर्मोह चाहेंगे, वहाँ विवेक बुद्धि आयेगी ही। और तब उसके आते ही भोली भक्त की भावना—जिसमें हृदय ही अधिक हो और बुद्धि कम—कैसे पाई जा सकती है ?

—इस प्रश्न में कुछ गलतफ़हमी है। पहले उसका दूर करना आवश्यक है।

अबुद्धिवाद शब्द को जो मैंने एक आध जगह प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि बुद्धि के मुकाबले में किसी अबुद्धि का वाद मैं चाहता हूँ। बुद्धि के मैं विरुद्ध नहीं। किन्तु बुद्धिवाद वाली बुद्धि तो निरी अबुद्धि है। अर्थात्, बुद्धिवाद का ही नामकरण मैंने अबुद्धिवाद किया है। जिससे मेरा अभिप्राय है कि—Rationalism is an irrationalism। वाद को कंधे पर बिठाकर जो बुद्धि चलती है वह मेरी दृष्टि से अबुद्धि है। इसलिए बुद्धिवाद को ही मैं निरा अबुद्धिवाद कहता हूँ।

मेरे इन सफाई के शब्दों के लिहाज से आप देखेंगे कि ऊपर का प्रश्न फिर ठहरता ही नहीं।

मोह हार्दिक विकार है, लेकिन श्रद्धा वैसा एक विकार इसलिए नहीं है कि वह विवेक-विपरीत नहीं है। वह श्रद्धा तो विवेक की पूरक है। अतः श्रद्धा विकार नहीं, संस्कार है।

वैशक जहाँ निर्मोह है वहाँ विवेक-बुद्धि तो पहले से है ही। जिसको भक्त की भोली भावना कहो, उस भावना का भोलापन विवेक-बुद्धि के योग से दहक कर स्फूर्ति के समान तेजस्वी हो जाता है। उसमें हृदय और बुद्धि के कम अधिक होने का प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि उस श्रद्धा में वे दोनों पूरे के पूरे समाये रहते हैं।

□ □

प्रगति क्या ?

आइए, समझें, प्रगति क्या ?

इधर दायें से पुकार आती है—उन्नति कीजिए । हम वहीं कर रहे हैं । आइए, हममें आ मिलिए ।

उधर बाएँ से पुकार आ रही है—प्रगति कीजिए । जो हम कर रहे हैं वहीं है प्रगति । आप प्रगतिशील हैं न ? तो इधर आ जाइए ।

स्पष्ट है कि दाहिनी शिक्षा बाईं से उल्टी है । दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं । दाहिनी ओर बाईं वालों के लिए केवल मूर्खता है और ढकोसला है । उसी तरह दाईं तरफ बाईं ले जहालत और मौत देखते हैं ।

किसी ओर आइए, किसी के लिए आप जाहिल और मूर्ख अवश्य हैं । मूर्ख हुए बिना कोई नहीं रह सकता ।

और यह शुभ है । इस भय से आप बचें कि कोई आपको मूर्ख कहेगा तभी आप सोचने समझने के लिए ठहर भी सकते हैं कि, प्रगति क्या ? नहीं तो कोई न कोई आप को बाँह पकड़कर प्रगति के (यानी, दूसरों की जहालत के) मार्ग पर ले ही बढ़ेगा । ज्यादा संभावना यह है कि जिधर अधिक मत-बल और कोलाहल-बल होगा उधर ही आप जायेंगे । और इसलिए उधर ही तरक्की को होना पड़ेगा ।

इसलिए यदि आप प्रगति क्या, वह सोचने-समझने में समय लगाने में साथ देना चाहते हैं तो यह तय है कि आप तय्यार हैं कि कोई आपको मूर्ख कहे । और यह भी तय है कि आप खुद किसी को मूर्ख कहने की जल्दी नहीं करना चाहते ।

इसके बाद आइए अब प्रगति को मालूम करें ।

पर इसमें आगे बढ़ें, इससे पहले एक बात याद कर लें । वह बात हम जानते तो हैं, पर भूल जाते हैं । वह बात यह कि, हम आदमी हैं । यानी दुनिया के अनेकों किस्म में से एक किस्म के प्राणी हैं । हो सकता है कि सबसे ऊँचे प्रकार के प्राणी हम हों । पर यह निश्चय है कि वह प्रकार असंख्य में से एक है ।

जब हम आदमी हैं तो हमारा सोचना आदमी का सोचना है, वह किसी भी ओर का नहीं है । हमारा सच बस हमारा ही है ; और किसी प्रकार के प्राणी के लिए वह सच, सच नहीं है, उसके लिए वह झूठ भी हो जाय तो क्या झूठ ।

अतः हम जान लें कि जिसको हम प्रगति कहकर ठहरायें वह हमारे अपने मामलों से आगे लागू नहीं होती। वह शुरू से अन्त तक हम पर ही लागू है। हमसे बाहर जाकर वह है ही नहीं। इस अनन्त, अनादि, अपरिमेय विश्व में क्या तो प्रगति और क्या अगति—हम मानव क्या हैं कि जो उस बारे में पक्की खबर दे सकें ? इसलिए शुरू से याद रहे कि प्रगति के प्रश्न की हद आदमी के पैदा किये अपने मामलों तक है।

प्रगति शब्द के दो खण्ड हैं—प्र+गति। 'गति' उनमें मुख्य है, 'प्र' विशेषण है। प्रगति की पहिली शर्त है, गति।

गति अनिवार्य है, यानी जीवन के अर्थ में अनिवार्य है। यह घड़ी बीती कि दूसरी घड़ी आ गई। हम चाहें न चाहें, यह घड़ी तो बीत ही जायगी। यह घड़ी घड़ी-भर के लिए है, उसके पार वह नहीं है। उसके पार जो है, वह घड़ी होकर भी दूसरी है। इसी बीतते हुए कायम रहते चलने का नाम है 'गति'।

हमारे जानने के दो रूप हैं !—रूप कह लीजिए या रूख कह लीजिए। एक 'है', दूसरा 'नहीं'।

जैसे कोई भी क्षेत्र तीन सीधी भुजाओं से कम में नहीं घिर सकता वैसे ही कोई भी ज्ञान व्यक्त होने के लिए 'हां' और 'नहीं' से घिरा होना चाहिए। उन 'हां' और 'नहीं' से एक समान दूरी पर तीसरा बिन्दु है 'मैं'। वह हर बात में गभित है।

जैसे आदमी दायें और बायें, अपने इन दो पैरों पर चलता है वैसे ही बुद्धि 'हां' और 'नहीं' इन दो पैरों पर चलती है। स्वीकार भी चाहिए, निषेध भी चाहिए। जैसे एक पैर टिका रहता है तभी दूसरा पैर आगे बढ़ता है, वैसे ही निषेध के सामर्थ्य के बिना स्वीकृति निरर्थक है और स्वीकृति रूपी स्वत्व के बिना निषेध प्रवंचनामात्र है। दोनों के बिना चलना नहीं होता।

'प्रगति' में 'प्र' उसी निषेध की शक्ति का द्योतक है। उस निषेध के आधार पर एक पैर जमा कर दूसरे को स्वीकृति की ओर बढ़ाते हैं, तभी हम 'प्रगति' शील होते हैं।

हम काल और देश से घिरे हैं। घिरे हैं, इसीलिए हम हैं। हमारी व्यक्तिगत सत्ता के माने ही परिमित सत्ता है। हमारी बुद्धि चूंकि हमारी है, इससे अपरिमेय नहीं हो सकती। परिमित का भाग और भी परिमित होगा। इसी से न हम काल को समग्रता में जान सकते हैं, न देश को समग्रता में जान सकते हैं। दोनों को हम खण्डित करके उन खण्डों द्वारा ही पहचानते हैं। गज, मील, कोस, योजन के माप में हमारा देश (=अवकाश) बँटा है। मात्र आकाश हमारे लिए कुछ नहीं है। उसे हम 'असंख्य' मील के अर्थ में समझते हैं,—तभी थोड़ा-बहुत समझ पाते हैं। इसी तरह काल को घड़ी, पल, छिन के हिसाब से हम जानते हैं। घड़ियाँ बीतती जा रही हैं,—वे बीतती जायेंगी। न उनका शुरू है, न अन्त है। वे ही अनन्त घड़ियाँ जहाँ आपस में एक सत्ता-धारा में पिरोई हुई अभिन्नतया एक हैं वहीं काल है। इसी तरह असंख्य योजनों का विस्तार हमारे सामने है, हमारे पीछे है, ऊपर है, नीचे है, दायें-बायें है। सब मिलाकर यह जो तमाम शून्याकार

१३४ :: जैनेन्द्र के विचार

अवकाश है, वह आकाश है।

हम परिमित हैं।—आकाश अपरिमित है, काल अपरिमित है। हमारी चेतना का स्पर्श,—उसका जागरण, उत्तरोत्तर ज्यों ज्यों इन अपरिमेय तत्त्वों के अवगाहन की ओर बढ़ता है त्यों ही त्यों, मानना चाहिए कि हम प्रगति कर रहे हैं।

अनादि इतिहास में से निकलकर मनुष्य अभी बीसवीं सदी तक आया है। इस तमाम यात्रा में मनुष्य मनुष्य ही रहा है। वही दो हाथ, वही दो पैर। पर वह बदला भी है। अनन्त काल में यद्यपि उसके इतिहास के सहस्रशः वर्ष सागर में बूंद के समान हैं, तो भी वह सहस्र वर्ष व्यर्थ नहीं गये हैं। मनुष्य कुछ न कुछ पाता आया है, देता आया है, जाने-अनजाने वह प्रगति करता ही आया है।

यदि प्रगति नहीं करता आ रहा है, तो प्रश्न होता है कि हम सब आज ही समाप्त क्यों नहीं हो जाते, कल के लिए क्यों जिन्दा हैं? सब-कुछ क्यों चल रहा है? जीना क्यों जारी है? इस 'क्यों' के पीछे क्या कुछ भी नहीं है? क्या भविष्य बिल्कुल खोखला है? खोखला मानें, सब कुछ व्यर्थ-निरर्थक मानें, तो जीना एक पल नहीं चल सकता। इससे कैसे इंकार करें कि लिखने वाला मैं और पढ़ने वाले आप जी रहे हैं? इसलिए मानना ही होगा कि अगर हम हैं तो प्रगति भी है। अधिकाधिक अनुभूति-संचय और उसके द्वारा ऐक्य-संचय की ओर हम बढ़ ही रहे हैं। हम मर जाते हैं तो संतति में जीते हैं। परिवार समाप्त होते हैं तो वंश और जाति में जीते हैं। इस भाँति नाना जाति और राष्ट्र इतिहास में एक दिन उदय होकर एक दिन अस्त हो जाते हैं और अपने पीछे अपनी संस्कृति, अपना साहित्य और अपनी कला का अवशिष्ट छोड़ जाते हैं। नष्ट तो कभी कुछ भी नहीं होता; काल के आदि से निरन्तर हो रही प्रगति में बस अपना उत्सर्ग दान कर जाता है।

लेकिन, कहा जा सकता है कि यह क्या बात हुई? जब जो हो रहा है वह ही है प्रगति, तब प्रश्न कैसा कि, 'प्रगति क्या है?' क्या हमारा यह वश है कि प्रगति न करें?

वेशक यह हमारा वश नहीं है,—जैसे जीवित व्यक्ति का यह वश नहीं है कि वह मुर्दा हो जाय। हम मर सकते हैं, तो प्रगति नहीं भी कर सकते हैं। प्रगति सृष्टि का नियम है। नियम तो नहीं बदलेगा, उससे टक्कर लेकर चाहे तो हम अपने को तोड़ खुशी से लें।

इसलिए, प्रगति का पहला लक्षण है, मृत्यु के प्रति निर्भयता और जीवन के प्रति मुवित। जीवन की सब तरह की पुकारों के प्रति हम खुले रहें, और मौत की तरफ हमेशा बेबाक बेफिक्र रहें—प्रगति की हमसे यह पहली माँग है।

इसी भाँति प्रगति का प्रश्न भी, वेशक असंगत है। जैसे अपनी ही पीठ की तरफ हम से नहीं चला जा सकता वैसे ही प्रगति से उलटी तरफ इतिहास नहीं जा सकता।

किन्तु फिर भी प्रगति प्रश्न संगत और अनिवार्य क्या बनता है? इस कारण कि

मानव-प्राणी से अपनी बुद्धि सँभाले नहीं सँभलती और वह बुद्धिमान् के ही विरुद्ध बगावत ठानती है। तिस पर, हम जानते हैं, कि मनुष्यता एक नहीं है, वह असंख्य व्यक्तियों में बँटी है। हर व्यक्ति अपने में एक है। उसके बुद्धि अलग है, हृदय अलग। हृदय से वह 'पर' को प्रेम करता है, या द्वेष भी कर लेता है, (क्योंकि द्वेष विकृत प्रेम है।) बुद्धि से उस 'पर' को समझता है, समझाता है, तर्क करता है। जब तक व्यक्ति है, तब तक विवेक है, तब तक प्रश्न है। भविष्य अज्ञेय है, लेकिन हम वर्तमान में समाप्त नहीं हैं। हमारे स्वप्न, हमारी कल्पना हमारी बुद्धि, उस भविष्य के गर्भ में पैठने को बढ़ती ही है। इसी से विकल्प खड़े होते हैं, और इसीलिए मनुष्य को अपने विकास में संकल्प की आवश्यकता होती है। संकल्प वह है, जो विकल्पों की अनेकता में ऐक्य का स्थापन करे।

इसी संकल्प के बल से वली बना व्यक्ति भविष्य की प्रतीक्षा ही नहीं करता उस भविष्य का निर्माण भी करता है। भविष्य असंदिग्धरूप में अज्ञेय है पर वह अज्ञेय भविष्य भी ऐसे संकल्प के धनी पुरुष के कुछ कुछ मुट्ठी में आ रहता है। मुट्ठी में वह इसीलिए आ रहता है कि वह पुरुष जब कि भविष्य के सम्बन्ध में बिल्कुल निराग्रही दीखता है, तब वह अपने ही विकल्पों का स्वामी भी है। वह स्रष्टा है, वह निःसंशय है, निःशङ्क है, और निःस्वार्थ है। अतः वह क्रमशः अपने साथ सबका भी स्वामी बनने की ओर बढ़ता है। वह मृत्यु को भी जीतता है।

इसे प्रगतिशीलता का दूसरा लक्षण मान लेना चाहिए।

अब यहाँ उस बौद्धिक विवेक की बात करें जो बुद्धि की तुला पर तत्त्वों को तोलता है और तब हेयोपादेय स्थिर करता है।

उसकी बात करते हुए हमें ऐतिहासिक बुद्धि (= Historical Sense) से काम लेना चाहिए।

जैसा ऊपर कहा गया है, हम आज में ही नहीं रहते। कल भी थे और अगले कल को भी शायद हम देखें। इन दोनों कल और आज के आज को हम तीन टुकड़ों में बँटा हुआ देख सकते हैं। देख सकते क्या, देखते ही हैं। हम सभ्य हैं, घर में घड़ी है और हम जानते हैं कि रात को घड़ी में जब बारह बजे थे तभी कल खत्म हो गया था। और आज रात को जब उसी घड़ी में बारह बजेंगे तब आज खत्म हो जायगा और कल शुरू हो जायगा।

इन दोनों कल और तीसरे इस आज की—इन तीनों की तीन सत्तों को अस्वीकार करने की हमारी प्रवृत्ति नहीं है। वह जरूरी भी नहीं है। लेकिन मैं आपसे कल्पना करने को कहता हूँ कि मान लीजिए हमारे पास घड़ी नहीं है, शनि रवि सोम आदि वारों की भी धारणा हमारे पास नहीं है, मान लीजिए कि समय-विवक्ति की कुछ भी आवश्यकता हममें नहीं रही है—तब क्या ये तीनों दिन हमको आपस में ऐसे लड़ी में पिरोए हुए बिल्कुल जुड़े हुए नहीं मालूम होंगे कि वे अविभाज्य रूप में एक ही हैं? और सच,

१३६ :: जैनेन्द्र के विचार

वे बीच में कटे हुए कहीं हैं। इसी से मैं कहता हूँ कि काल एक है।

और सोचिए, एक दिन भी क्या है ? $२४ \times ६० \times ६०$ सेकंडों का जोड़ ही नहीं है ? लेकिन क्या सिर्फ जोड़ ही है ? क्या सब सेकंड अलग-अलग हैं और दिन उनका ढेर ? ऐसा नहीं है। दिन की एक स्वतंत्र सत्ता है। सेकंड उसके $\frac{1}{२४ \times ६० \times ६०}$ वें

खण्ड की कल्पना-संज्ञा मात्र हैं। इसी भाँति तीनों दिनों की भी एक अखण्ड सत्ता है, शनि रवि सोम तो उसी एक के तिहाई तिहाई कल्पित भागों के नामकरण-मात्र हैं।

ऊपर के कथन से एक बात स्पष्ट होती है। वह यह कि तमाम गति में एक संगति है। जो तत्त्व आज और कल के बीच फ़ासले की अपेक्षा गति है वही उन दोनों में मध्य-वर्ती एकता की अपेक्षा संगति है।

अतीत का हमारे पास नहीं हिसाब, भविष्य का नहीं ज्ञान और वर्तमान तो छन छन रंग बदल ही रहा है। फिर भी, हम एक ही बार जान लें कि उन सबमें एक अखण्डता है, एक संगति है।

भूत वर्तमान से विच्छिन्न नहीं है और वह भूत भविष्य के भी विरुद्ध नहीं है। इन दोनों में परस्पर विरोध देखकर चलना ऐतिहासिक विवेकशीलता (= Historical Sense) के विरुद्ध है।

पक्षों के संतुलन के समय यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि अतीत के आधार पर वर्तमान को समझना ही जिस भाँति बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता है, उसी भाँति वर्तमान की स्वीकृति के आधार पर भविष्य की निर्माण-वारणा बनाना वास्तविक शिल्प-कौशल है। प्रगति निर्माण में है। प्रगति भूत के ऐसे अवगाहन और भविष्य के ऐसे आवाहन में है जिनसे उनका वर्तमान के साथ ऐक्य पुष्ट हो। प्रगतिशील वह है जो निर्माता है और निर्माता वह है जिसके मन में उस ऐक्य की स्वीकृति है। काल के प्रवाह में जो संगति नहीं देखता, जो उस प्रवाह के तल पर उठती हुई लहरों के संघर्ष में खो जाता है, जो उस संघर्ष को धारण करने वाली अनवच्छिन्न एकता को नहीं देखता, वह किस भाँति निर्माता होगा ? निर्माता नहीं तो वह प्रगतिशील भी कहाँ हुआ ?

गति अनिवार्य है। उसके भीतर संगति अनिवार्य है। प्रगति संगति के अनुकूल ही हो सकती है। उसमें प्रतिकूलता टिक नहीं सकती। जैसे बहती हुई धारा के वेग में से उछलकर कुछ पानी के कण मौज से किसी भी दिशा में उड़ते रह सकते हैं, वैसे ही इतिहास की गणना में न आने वाली कुछ बूँदें बहक कर इधर उधर जा सकती हैं। पर, इतिहास की धारा का प्रवाह तो एक ओर एक ही ओर है और वह 'ओर' स्वयं इतिहास में-से स्पष्ट है। प्रगति उसी ओर सहयोगिनी होती है।

गति का शिकार होना प्रगति नहीं है। ठीक यही वस्तु है (गति का यह शिकार होना) जो प्रगति से प्रतिकूल है। समय के गंभीर प्रवाह के ऊपर फ़ैशनेबिल आधुनिकताओं की लहरें भी चलती हैं। आज उनका नाम यह वाद है तो कल वह वाद हो जाता

है। किन्तु प्रगति के शरीर पर वाद वैसे ही हो सकते हैं, जैसे मानव-शरीर पर लोम। पर जैसे उन लोमों में मानव नहीं है वैसे ही 'वादों' में प्रगति नहीं है। प्रगति कभी उन वादों तक सिहर कर, कभी उनके बावजूद और अधिकतर उनको सहती हुई चलती है।

वादों (= 'इज्मों') के बारे में वही बात याद रहे जो लेख के आरंभ में दायें और बायें रहने वाले गिरोहों के बाबत कही गई है। एक इज्म है, तो दूसरा भी है। दूसरा है तो तीसरा भी है। इस भाँति वे उतने ही अनगिनत हो जायें जितने कि आदमी, तो भी चैन हो। क्योंकि तब कोई इज्म का शिकार न होगा, सब अपने अपने इज्मों के स्वामी होंगे। लेकिन जब तक यह नहीं होता तब तक 'इज्म' के नाम पर जितनी कट्टरताएं हैं, सब मिथ्याभिमान हैं।

प्रगति में वाद की कट्टरता बह जाती है, जैसे काई बह जाती है।

प्रगति भीतर से आती है और बाहर को होती है। शुरू से ही उसे अपने से बाहर टटोलना और साबित करना निरर्थक है। ऐसी चेष्टा इस बात का द्योतक है कि हमारे ही दिमाग के भीतर जीवन का पानी बहते-बहते कहीं बंध गया है।

यहाँ तक आकर हम एक प्रयोजनीय क्लास-रूम का-सा प्रश्न बनाकर अपने से पूछें कि आखिर इधर-उधर का यह सब तो हुआ, लेकिन, लेखक महोदय, हमको मालूम तो यह करना है कि प्रगति के लिए हम क्या करें ?

तो मैं उस प्रयोजनार्थी विद्यार्थी से कहूँगा कि भाई, अब तुम खुद मालूम कर लो कि प्रगति के लिए क्या करो। तुम्हारे लिए जो काम प्रगति का होगा, वह काम तुम्हारे सिवाय किसी भी दूसरे के लिए उस भाँति प्रगति का नहीं हो सकेगा। तुम जो हों, और तुम जहाँ हो, वह न दूसरा है, न वहाँ दूसरा है। इससे हरेक अपना स्वधर्म देखे, अपनी बिसात देखे, अपना जी देखे। तब अपना प्रगतिशील कर्त्तव्य पाने में उसे अड़चन न होगी।

इस काट का कोट पहनूँ ? यह खाऊँ ? यह पढूँ ? अमुक सभा का नदस्य हूँ,— क्या बना रहूँ ? पत्नी को छोड़ूँ कि माँ को, क्योंकि दोनों आपस में भगड़ती हैं ? घर छोड़ूँ कि नौकरी, क्योंकि मालिक एक बात कहता है, मन दूसरी बात कहता है ? आदि आदि। तुम्हारे प्रश्नों का जवाब यह है कि इन सब मामलों में जो तुम करोगे, बेखटके ठीक वही करो। सब-कुछ करके तुम्हारी प्रगतिशीलता तब तक और उस अंश तक अक्षुण्ण रहेगी जहाँ तक तुम अपने को उत्सर्ग और दूसरे को प्रेम करते हो।—यानी दूसरे को प्रेम करने में भी अपने को कम से कम प्रेम करते हो। यह है तो सब ठीक है।

इसलिए उँगली उठाकर और गिनती गिनाकर बताना असम्भव है कि अमुक कर्म प्रगतिशील है, अमुक नहीं। हाँ, लक्षण प्रगतिशीलता की पहचान के निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

प्रगतिशील व्यक्ति—

(१) मृत्यु का भय नहीं करता। इसलिए, उसकी आकांक्षा भी वह नहीं करता।

(२) वह पूरे प्राणों से जीता है। छल अथवा क्षुद्रता उसके व्यवहार में इसी कारण नहीं हो सकती कि उसका मन इन चीजों के लिए खाली ही नहीं है, वह विश्वास से और संकल्प से भरा है। अल्प-प्राण व्यक्ति ही क्षुद्र होता है।

(३) वह अपने मत पर दृढ़, पर उसे प्रकट करने में विनीत होता है और दूसरों के मत के बारे में अत्यंत आदरशील। वह कभी अपने को इतना सही नहीं मान सकता कि दूसरे को गलत कहे बिना न रहे। अपने ऊपर खर्च करने के बाद उसके पास इतनी कठोरता बचती ही नहीं कि दूसरों पर फेंके। वह अपने प्रति निर्मम और सबके प्रति प्रार्थी होता है।

(४) विवाद उसे अप्रिय होगा क्योंकि कर्म से वह छुड़ी नहीं चाहता। बौद्धिक विवाद कर्म के दायित्व से बचने का बहाना है।

(५) बुजुर्गों के प्रति वह विनयी और अतीत के प्रति श्रद्धालु होगा। घृणा से ही वह घृणा कर सकेगा।

(६) वह वही बोलता है, वही लिखता है जो जानता है, और वह जानता है कि मैं सब-कुछ नहीं जानता,— बहुत कम, बहुत ही कम मैं जानता हूँ। इसलिए वह सदा जिज्ञासु है।

(७) वह धबराता नहीं है; न गुस्सा करता है, न गाली देता है।

(८) वह साधारण आदमी की भाँति रहता है और अपने को साधारण ही गिनता है।

लक्षण यों और भी गिनाये जा सकते हैं। पर इतने भी अधिक हैं, क्योंकि अचूक हैं।

आजकल पदार्थ को समझने की कुछ जरूरत से ज्यादा प्रिय पद्धति हो चली है पदार्थ का विभक्तीकरण। निःसन्देह, बुद्धि का अस्त्र ही यह है। फिर भी, जहाँ तक हो, संयुक्तीकरण की ओर भी हमारा ध्यान रहना चाहिए। क्योंकि पदार्थ का ज्ञान तो हमारा ही भाग है और अपने ऊपर छुरी चला कर हम अपने को मारते हैं। इस भाँति, अपने को अधिक कहाँ समझते हैं ?

आज हवाई जहाज हैं, रेडियो हैं, तरह-तरह की मशीनें हैं। बैठे बैठे यहीं हमको दुनिया प्राप्त हो सकती है। दस हजार मील की बात क्षण-भर में आ जाती है। आदि आदि।

पहले एक पास के तीर्थ की यात्रा करने में बैलगाड़ी में दो महीने लग जाते थे। राह में चोर डाकू का डर अलग। जीने का कुछ भरोसा न था। तब भला राजनीति की

बात तो कीजिए क्या । समाज की बात पूछिए, तो गरीब के भक्षक सब थे, रक्षक अकेला विधाता था जो उनके प्रति प्रायः वाम ही रहता है । बस, जिनके हाथ में लाठी थी उसकी सेवा में लक्ष्मी भी थी, कीर्ति भी थी । वगैरह वगैरह ।

इसलिए हमारा जमाना नियामत है । यह रोगानी का जमाना है । हमने बहुत प्रगति कर ली है । ... इस तरह की बातें गलत तो बेशक नहीं हैं, पर, सच कहूँ, तो मन को बहुत तृप्ति नहीं देती ।

ताजवीबी के रोजे-सी सुन्दर इमारत अगर आज भी नहीं है; अगर ग्रीक की प्रस्तर-मूर्तियाँ आज भी आदर्श सुन्दर हैं; अगर उपनिषद्-ज्ञान आज के लिए भी अगाध है, अगर राम और कृष्ण, क्राईस्ट और बुद्ध, आज के लिए भी विस्मय-पुरुष हैं और उन जैसा इस समय कोई नहीं है तो क्या मैं इससे यह सिद्ध समझूँ कि पिछली कई सदियाँ केवल व्यर्थ ही गई हैं और बीसवीं सदी में कुछ भी प्रगति नहीं हुई है ?

ऐसा कहना सही नहीं है । इसलिए पहला दावा भी इतना सही न समझा जाय कि हम अतीत की श्रद्धा खो दें ।

प्रगति क्या है ? — इसकी जितनी ज्यादा छान-बीन हम करें उतनी ही कम है । लेकिन यह तो सबसे पहले हम जान लें कि प्रगति अनादि-कालिक इतिहास के चरितार्थ की संगति से अविरुद्ध है । प्रगति वह गति है जो ऐतिहासिक संगति की सहयोगिनी है ।

□ □

मानव का सत्य

हम जानते हैं कि चीजें बदला करती हैं, ज़िंदगी में हम बदल गये हैं और जिन चीजों को हम जैसा जाना करते थे, वे आज वैसी ही नहीं हैं। देखते देखते एक लहलहाता गांव उजड़ गया है और, जहाँ बंजर घरती थी, वहाँ शहर बस गया है। जो बच्चे थे, आज बड़े हो गये हैं और जिम्मेदार आदमी समझे जाते हैं। कुछ उनमें अब शेष भी नहीं हैं, वे काल-कवलित हो गये हैं। कुछ और हैं जो चलते चलते मौत के किनारे पहुँच रहे हैं। सारांश, दुनिया चलती रहती है और चीजें बदलती रहती हैं।

कुछ पदार्थ हमें अचल प्रतीत होते हैं। धरती है, मकान हैं, पहाड़ हैं,—ये चीजें स्थिर जान पड़ती हैं। इनमें परिवर्तन नहीं दीखता। पर ऐसी बात है नहीं। अचल वे भी नहीं हैं। साधारणतः हमें उनमें होता रहनेवाला परिवर्तन दीखता नहीं, पर इतिहास के मार्ग से और अन्यान्य विज्ञानों के द्वारा हम जानते हैं कि वे जैसे हैं, वैसे कभी नहीं भी थे। गति अस्तित्व की शर्त है, और जो है वह परिवर्तनीय है। परिवर्तनीयता 'होने' की परिभाषा है।

वस्तुओं की आयु भिन्न है और उनमें होने वाले परिवर्तनों की गति का वेग भी भिन्न है। हर एक अस्तित्व में ये दो क्रियाएँ निरन्तर रहती हैं,—कुछ उसमें से मिटता रहता है, कुछ और नया होता रहता है। उत्पत्ति और समाप्ति, ये दो पहलू प्रत्येक अवस्था में हैं। पुरातन व्यर्थ जीर्ण होकर नष्ट हो जाता है, नूतन उसकी जगह लेता है। इसी भाँति परिवर्तन सम्पन्न होता है।

अपने चारों ओर घटित होती हुई घटनाओं में एकाएक हमें कोई संगति नहीं दिखलाई देती। शहर क्यों खड़ा हो गया और गांव क्यों उजड़ गया? पिता कहाँ है और उसकी जगह अब पुत्र क्यों निश्चिन्ततापूर्वक तना बैठा है? हमारे चारों ओर की हालतें क्यों बदल गई हैं? किस भाँति एक मामूली व्यापारी बढ़कर बड़ा आदमी हो गया है और क्यों कल का बड़ा आदमी आज पूछा भी नहीं जाता? —चारों ओर आँख खोलकर देखने से मन में इसी प्रकार के प्रश्न उठते हैं और वे प्रश्न बहुतेरा उत्तर देने पर भी अंत तक कुछ प्रश्न से ही बने रहते हैं।

लेकिन यदि हम वर्तमान को तटस्थ होकर देख सकें, जो कि पूर्णतया सम्भव नहीं है, तो हमें प्रतीत होगा कि वर्तमान की कोई अंती हुई अपनी स्वयं सत्ता नहीं है।

जो था उसी में से यह वर्तमान बना है। यह मनमाना नहीं है। मनमाना हो भी नहीं सकता। इसी भाँति, जो भविष्य में होगा, वह भी आज के वर्तमान से निरा असम्बद्ध नहीं है। आज ही को कल होना है।

हम देख सकेंगे कि परिवर्तनों में क्रम है और काल की प्रगति में जो आवर्तन-प्रत्यावर्तन होते रहते हैं, वे निरंतर असंगत और अहेतुक नहीं हैं। उनमें संगति और हेतु है।

किन्तु घटना का औचित्य उस घटना में बंद नहीं पाइएगा। घटना को वृत्त मान कर उसी के भीतर हेतु खोजने से नहीं चलेगा। व्यक्ति अपने व्यक्ति-गत जीवन को सबसे तोड़कर अपने में ही उसे समझना चाहे तो जीवन व्यर्थ-सा और अतर्क्य-सा मालूम होगा। लेकिन हम जानते हैं कि जब व्यक्ति अपनी जिन्दगी के साथ, सत्तर, सौ वर्ष जीकर समाप्त होता है, तब भी उसका परिवार चलता रहता है। परिवार मिट जाते हैं और समाज बना रहता है। इसी तरह, एक राष्ट्र के जीवन में समाज अपना जीवन-दान कर जाता है। सहस्र सहस्र वर्षों के इस प्रकार के संयुक्त जीवन की साधना के परिणाम-स्वरूप संस्कृतियाँ बनती हैं। मनुष्य का ज्ञान और सभ्यता और संस्कृति इसी भाँति उन्नत और पुष्ट होती जाती हैं।

हम देखें कि समस्त परिवर्तनों में नितांत असंगति ही नहीं है, प्रत्युत उनमें एक विकास-धारा है। चीजें बनती हैं और मिटती हैं, पर वे अनर्थक भाव से नहीं बिगड़ती-बनतीं। पिता यदि पुत्र को जन्म देकर स्वयं मौत की तरफ बढ़ जाता है, तो यह भी एक नियम के अनुसार है। वह यद्यपि यह अन्ध-भाव से कर सकता है, पर वह विधान निरर्थक नहीं है, नियमानुकूल है। मनुष्य चाहे उसमें अपनी तृप्ति माने अथवा उसे अपने लिए शाप समझे, पर अनिवार्य है। मानव-जीवन का अर्थ उसके अपने ही भीतर समाप्त नहीं है।

एक अनिर्दिष्ट निर्देश से मानव जीता, चलता और मरता है। वह अज्ञान से अथवा ज्ञानपूर्वक अपने जीवन के चक्कर को काटता है और अपने जीवन-दान से बृहत् चक्र के संचालन में सहयोगी बनता है।

हम परिवर्तन करते हैं और परिवर्तन हम पर होते रहते हैं। उसके साथ ही हम जान लें कि वह परिवर्तन मात्र परिवर्तन नहीं है, वह उन्नति और विकास है। जानें कि सब-कुछ के द्वारा और हमारे द्वारा भी युग-युग के भीतर एक विकास अपने को सम्पन्न कर रहा है। हम उसके साधन हैं और उसके भाग हैं।—हम और कुछ नहीं हो सकते। विकास न रुकेगा। भविष्य आवेगा ही। अतीत जो था, था, और भविष्य भी जो होगा, वही होगा। इस दृष्टि से वर्तमान की भी एक निश्चित रूप-रेखा है। इसी महाचक्र के भीतर हम हैं। हम गिनती के वर्षों के लिए हैं और परिमाण में साढ़े तीन हाथ से ज्यादा नहीं हैं। हम जब से आरम्भ हुए, उसकी जन्म-तिथि है; जिस रोज हम न रहेंगे, वह भी एक तारीख होगी। हमारा अस्तित्व उस और ओर छोटी-बड़ी लापसीलों के बीच में

१४२ :: जैनेन्द्र के विचार

नपा-नपाया है। किंतु जन्म की तारीख से पहले भी दुनिया थी और सब-कुछ था। मृत्यु की तिथि के बाद भी दुनिया रहेगी और सब-कुछ रहेगा। अपने आप ही आप में जब जब हम देखेंगे, तब तब पावेंगे कि हमारी बहुत ही परिमित सत्ता है और बहुत ही थोड़ा बश है।

लेकिन इसके साथ ही अमिट-रूप में हम जानते हैं कि जो है, उसका नाश नहीं होता। सब परिवर्तनों के मध्य में कुछ ध्रुव भी है। जिसमें परिवर्तन है वह सदा है, सदा था और सदा रहेगा। वह शाश्वत है और परिवर्तनों के द्वारा वह शाश्वत ही अपने को संपन्न करता है। हम जानते हैं कि असंख्य वर्ष पहले जो था, वह भी हमसे असंबद्ध नहीं है। हम आज अपने भीतर इतिहास के अतीत के साथ भी अपना नाता अनुभव करते हैं। ऐतिहासिक पुरुषों की महत्ता हमें महत्ता की ओर प्रेरित करती है। उस अतीत के ज्ञान में भी हमें रस मालूम होता है। तब का इतिहास, मालूम होता है, अब हमारी रगों में सो रहा है और वह जाग भी सकता है। सदियाँ हमें काल के क्षण-सी मालूम होती हैं और हम भूल जाते हैं कि हम परिमित प्राणी हैं। जान पड़ता है, इतिहास के भीतर भी हमी हैं। हमी वह हैं। आदिम मनुष्य ने जो भोगा और जो किया, उसके बाद प्राग्-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक युगों के दीर्घ-काल में भी जो उसने भोगा, किया और पाया, उसकी वह तमाम अनुभूति, तमाम उपलब्धि, तमाम ज्ञान और उसकी वह समस्त साधना आज हमारे जीवन में बीज-रूप से व्याप्त है। उसी के फलस्वरूप हम आज हैं। नितान्त एकाकी स्वतन्त्र हम अपने-आपमें क्या हैं।

इस दृष्टि से चाहे हम परिमित हों, फिर भी अनन्त हैं। हम काल से भी नहीं बंधे हैं और न प्रान्त से ही। शत-सहस्र शताब्दियाँ हम में मुखरित होती हैं और हमारा दायित्व बढ़ा है।

क्या हम भावी बदल सकते हैं? क्या हम अपने भी मालिक हैं? क्या हम अपने-आप में भाग्य-बद्ध भी नहीं हैं? क्या हमको माध्यम बनाकर कुछ और महत्तत्त्व नहीं व्यक्त हो रहा है जो हमसे अतीत है? हमारा समस्त यत्न अन्ततः किस मूल्य का हो सकता है? अनन्तकाल और अगाध विस्तार के इस ब्रह्माण्ड में एक व्यक्ति की क्या हैसियत है?

ऊपर की बात कही जा सकती है और उसका कोई खण्डन भी नहीं हो सकता। वह सत्य ही है। उस महा-सत्य के तले हमें विनीत ही बन जाना चाहिए। जब वह है, तब मैं कहाँ? तब अहङ्कार कैसा? जब हम (अपने आपके) सचमुच कुछ भी नहीं हैं, तब और किसको क्षुद्र मानें? नीच किसको मानें? तुच्छ किसको जानें? हम उस महा-सत्य की अनुभूति के तले अपने को शून्य ही मान रखने का तो अभ्यास कर सकते हैं।

और बस। अहङ्कार से छुट्टी पाने से आगे हम उस महा सत्ता के बहाने अपने में निराशा नहीं ला सकते, हम निराशा में प्रमाद-ग्रस्त नहीं बन सकते, अनुत्तरदायी नहीं बन सकते, भाग्य-वादी नहीं बन सकते। यह भी एक प्रकार का अहंकार है। प्रमाद

स्वार्थ है, उच्छृंखलता भी स्वार्थ है। हम जब देखने लगे कि हमारा अहङ्कार एक प्रकार से हमारी जड़ता ही है, अज्ञान है, माया है, तब हम निराशा में भी पड़ सकने के लिए खाली नहीं रहते। निराशा एक विलास है, वह एक व्यसन है, नशा है। नशीली चीज कड़वी होती है, फिर भी लोग उसका रस चूसते हैं। यही बात निराशा में है। निराशा सुखप्रद नहीं है। फिर भी लोग हैं जो उसके दुख की चुस्की लेते रहने में कुछ सुख की भोंक का अनुभव करते हैं।

जिसने इस महासत्य को पकड़ा कि मैं नहीं हूँ, मैं केवल अव्यक्त के व्यक्तीकरण के लिए हूँ, वह भाग्य के हाथ में अपने को छोड़कर भी निरन्तर कर्मशील बनता है। वह इस बात को नहीं भूल सकता कि कर्म उसका स्वभाव है और समस्त का वह अङ्ग है। वह (साधारण अर्थों में) सुख की खोज नहीं कर करता, सत्य की खोज करता है। उसे वास्तव के साथ अभिन्नता चाहिए। इसी अभिन्नता की साधना में, इस अत्यन्त वास्तव के साथ एकता पाने के रास्ते में जो कुछ भी विपत्ति उस पर आवे, जो खतरा, जो दुःख उसे उठाना पड़े, वह सब हर्ष से स्वीकार करता है। अपना सुख-दुख तो उसके लिए कुछ होता ही नहीं। इसलिए, उसका सुख समस्तता के साथ अविरोधी सुख होता है। इस जगत् में विलास दूसरे की पीड़ा पर परिपुष्ट होता हुआ देख पड़ता है। वैसा विनाश-मय सुख निरहंकारी मानव के लिए अत्यन्त त्याग्य बनता है।

हमने देखा कि चीजें बदलती हैं; देखा कि वे प्राकृतिक विकास-क्रम के अनुसार बदलती हैं; देखा कि किसी व्यक्ति की अथवा घटना की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। और भी देखा कि किसी व्यक्ति के लिए अपने ही ऊपर केंद्रित होने और अपने ही लिए रहने का अवकाश नहीं है। (अपने माने हुए) सुख से चिपटने और दुख से दूर भागने की छुट्टी भी व्यक्ति को नहीं है। विकास जब अपने आपको चरितार्थ कर रहा है तब व्यक्ति के लिए बीच में अपने सुख-दुख पैदा कर लेना उचित नहीं है। जीवन की स्वीकृति व्यक्ति का धर्म है, यों चाहे तो क्लेश उपस्थित करके वह अपने को मार भी सकता है।

यह हमने देखा। अब प्रश्न होता है कि व्यक्ति अपने को संवेदनहीन बनाने की कोशिश करे, क्या यही यथार्थ है? अपनी इन्द्रियों को क्या मार लेना होगा? अपनी भावनाओं को तपस्या द्वारा कुचल ही देना होगा? अपने भीतर की सुन्दर और असुन्दर, ग्राह्य और घृण्य, आनन्दकारी और ग्लानिजनक, 'सु' और 'कु', यह सब विवेक-भावना क्या व्यर्थ है? अनादि-काल से हमारे भीतर एक वस्तु को हर्ष से अपनाने और दूसरी को दृढ़ता से वर्जित रखने की जो अंतस्थ सहज बुद्धि है, वह क्या व्यर्थ है? क्या सबसे मुंह मोड़कर काय-क्लेश में 'स्टॉइक रेजिग्नेशन' (Stoic resignation) में बन्द हो जाना होगा? क्या संवेदनहीन, प्रभावहीन बनने की ही साधना व्यक्ति के लिए सिद्ध होगी?

और ऐसा हुआ है। लोगों ने अपने को कुचलने में सिद्धि मानी है। उन्होंने अपने से इनकार किया है, दुःख को अपने दुःख के लिए स्वीकार किया है, अपने दुःख को अपने दुःख के लिए स्वीकार किया है, अपने दुःख को अपने दुःख के लिए स्वीकार किया है, अपने दुःख को अपने दुःख के लिए स्वीकार किया है।

१४४ :: जैनेन्द्र के विचार

की है। उन्होंने 'मैं अपने को कुचल दूँगा' ऐसा संकल्प ठानकर कुचलने पर इतना जोर दिया है कि वे भूल गये हैं कि इसमें 'मैं' पर भी आवश्यक रूप में जोर पड़ता है। 'मैं' कुचलकर ही रहूँगा, यह ठान ठानकर जो कुचलने में जोर लगाता है, उसका वह जोर असल में 'अहं' के सिचन में जाता और वहीं से आता है। इस प्रकार, तपस्या द्वारा अपने को कुचलने में आग्रही होकर भी उल्टे अपने सूक्ष्म अहं को अर्थात् 'मैं' की, सींचा और पोषा जाता है। जो साधना दुनिया से मुंह मोड़कर उस दुनिया की उपेक्षा और विमुखता पर अवलंबित है वह अंत में मूलतः अहं सेवन का ही एक रूप है।

जो विराट्, जो महामहिम, सब घटनाओं में घटित हो रहा है, उसकी ओर से विमुखता धारण करने से आत्मैक्य नहीं प्राप्त होगा। चीजें बदल रही हैं और उनकी ओर से निस्संवेदन, उनकी ओर से नितान्त तटस्थ, नितान्त असंलग्न और अप्रभावित रहने की साधना आरम्भ से ही निष्फल है। व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं है, तब सम्पूर्ण का प्रभाव उस पर क्यों न होगा? प्रभाव न होने देने का हठ रखना अपने को अपूर्ण रखने का हठ करने-जैसा है, जो कि असंभव है। आदमी अपूर्ण रहने के लिए नहीं है, उसे पूर्णता की ओर बढ़ते ही रहना है।

इसलिए जगद्गति से उपेक्षा-शील नहीं हुआ जा सकेगा। उससे अप्रभावित भी नहीं हुआ जा सकेगा। यह तो पहले देख चुके कि अपने को स्वीकार करके उस जगद्गति से इनकार नहीं किया जा सकता। इसी भाँति यह भी स्पष्ट हुआ कि उधर से निगाह हटाकर केवल अपने ऊपर उसे केन्द्रित करके स्वयं अप्रभावित बने रहने में भी सिद्धि नहीं है।

तब यही मार्ग है (लाचारी का नहीं, मोक्ष का) कि हम घटनाओं को केवल स्वीकार ही न करें, प्रत्युत उन्हें स्वयं घटित करें। क्या वास्तव के साथ ऐक्य पाना ही हमारा लक्ष्य और वही हमारी सिद्धि नहीं है? वह वास्तव ही घटनाओं में घटित बनकर व्यक्त हो रहा है। तब हमारा अपना व्यक्तीकरण भी इन घटनाओं में ही होगा। हम कर्म करेंगे, यह जानकर नहीं कि वैसा किये बिना गुज़ारा नहीं; यह मानकर भी नहीं कि वैसा हमें करना चाहिए; बल्कि यह अनुभव करते हुए कर्म करेंगे कि हम उसके स्रष्टा हैं। परिवर्तन को स्वीकार भर करने के लिए हम नहीं हैं। उन परिवर्तनों को संपन्न करने के लिए भी हम हैं। विकास हो और वह विकास हमें अपने हाथ में लेकर विकसित कर जाय, इसकी प्रतीक्षा करते नहीं बैठना होगा। हम स्वयं विकास में प्रवृद्ध होंगे और उसे सिद्ध करेंगे। हम स्रष्टा की प्रकृति के समभागी हैं। हम केवल उपादान, उपकरण ही तो नहीं हैं। हम कर्ता भी हैं। चीजें बदलती हैं, वे सदा बदलती रही हैं, यहाँ तक ही मनुष्य का सत्य नहीं है। मनुष्य का सत्य यह भी है कि हम चीजों को बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे। मनुष्य परिवर्तनीय है, इसीलिए तो कि वह परिवर्तनकारी है। मनुष्य विकासशील है, क्योंकि वह विकासशाली है। वह कर्मवेष्टित क्यों है? क्योंकि वह कर्म का स्रष्टा भी है।



सत्य, शिव, सुंदर

‘सत्यं शिवं सुंदरं’—यह पद आजकल बहुत लिखा-पढ़ा जाता है। ठीक मालूम नहीं, कौन इसके जनक हैं। जिनकी वाणी में यह स्फुरित हुआ वह ऋषि ही होंगे। उनकी अखंड साधना के फल-स्वरूप ही, भावोत्कर्ष की अवस्था में, यह पद उनकी गिरा से उद्गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालांतर में सस्ता नहीं पड़ जाता? यही हाल ऋषि-वाक्यों का होता है।

किंतु महत्तत्त्व को व्यक्त करनेवाले पदों को सस्ते ढँग से नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से अहित होगा। आग को जेब में रखे फिरने में खैर नहीं है। या तो जो जेब में रख ली जाती है वह आग ही नहीं है, या फिर उसमें कुछ भी चिनगारी है तो वह जेब में नहीं ठहरेगी। सबको जलाकर वह चिनगारी ही प्रोज्ज्वल बनी दमक उठेगी।

‘सत्यं शिवं सुंदरं’ पद का प्रचलन घिसे पैसे की नाई किया जा रहा है। कुछ नहीं है, तो इस पद को ले बड़ो। यह अनुचित है। यह असत्य है। अनीतिमूलक है। शब्द कीमती चीज है। आरंभ में वे मानव को बड़ी वेदना की कीमत में प्राप्त हुए। एक नये शब्द को जानने में जाने मानव-हृदय को कितनी तकलीफ भेलनी पड़ी होगी। उसी बहुमूल्य पदार्थ को एक परिश्रमी पिता के उड़ाऊ लड़के की भाँति जहाँ तहाँ असावधानी से फेंकते चलना ठीक नहीं है। अकृतज्ञ ही ऐसा कर सकता है।

‘सत्यं शिवं सुंदरं’ पद से हम क्या पाएँ, क्या लें, यह समझने का प्रयास करना चाहिए। उस शब्द की मारफत, यदि हम कुछ नहीं लेते हैं और हमारे पास देने को भी कुछ नहीं है तो उस पद के प्रयोग से आसानी से बचा जा सकता है। ऐसी अवस्था में बचना ही लाभकारी है।

महावाक्यों में गुण होता है कि वे कभी अर्थ से खाली नहीं होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थ को खींच निकालकर उन शब्दों को खोखला नहीं बना सकता। उन वाक्यों में आत्मानुभव की अटूट पूंजी भरी रहती है। जितना चाहो उतना उनसे लिये जाओ फिर भी मानों अर्थ उनमें लबालब भरा ही रहता है। असल में वहाँ अर्थ उतना नहीं जितना भाव होता है। वह भाव वहाँ इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आदि-स्रोत से संबंध है। इसीलिए ऐसे वाक्यों में तब तक कि समाप्ति है, किन्ते पंडित के लिए भी दुष्प्राप्य

हों तब उनमें यह भी खूबी होती है कि वे अपंडित के लिए भी, अपने वितमुताबिक, मुजुम होते हैं।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदों का सार, अपने सामर्थ्य जितना ही हम पा सकते, दे सकते हैं। यहाँ जो 'सत्यं शिवं सुंदरं' इस पद के विवेचन का प्रयास है उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धि के परिमाण का द्योतक मानना चाहिए।

सत्य, शिव, सुंदर ये तीनों एक वजन के शब्द नहीं हैं। उनमें क्रम है और अंतर है।

सत्य-तत्त्व का उस शब्द से कोई स्वरूप सामने नहीं आता। सत्य सत्य है। कह दो सत्य ईश्वर है। वह एक ही बात हुई। पर वह कुछ भी और नहीं है। वह निर्गुण है। वह सर्वरूप है, संज्ञा भी है, भाव भी है।

सत् का भाव सत्य है। जो है वह सत्य के कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टि से असत्य कुछ है ही नहीं। वह निरी मानव-कल्पना है। असत्, यानी जो नहीं है। जो नहीं है उसके लिए यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। इसलिए 'असत्य' शब्द से निरा मनुष्य का आग्रह ही है, उसमें अर्थ कुछ नहीं है। आदमी ने काम चलाने के लिए वह शब्द खड़ा कर लिया है। यह कोरी अयथार्थता है।

इसी तरह 'सत्यता' शब्द भी यथार्थ नहीं है। वह शब्द चल पड़ा तो है पर केवल इस बात को सिद्ध करता है कि मानव-भाषा अपूर्ण है।

जो है वह सत्। जो उसको धारण कर रहा है वह सत्य।

अब 'शिव' और 'सुंदर' शब्दों की स्थिति ऐसी नहीं है। शिव गुण है, सुंदर रूप है। ये दोनों सम्पूर्णतया मानवात्मा द्वारा ग्राह्य तत्त्व हैं। ये रूप गुणातीत नहीं हैं, रूप गुणात्मक हैं। ये यदि संज्ञा हैं तो उनके भाव जुदा हैं,—शिव का शिव-ता और सुंदर का सुंदर-ता। और जब वे स्वयं में भाव हैं तब उन्हें किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा है—जैसे 'यह शिव है', 'वह सुंदर' है। 'यह' या 'वह' उनके होने के लिए जरूरी हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

ऊपर की बात शायद कुछ कठिन हो गई। मतलब यह कि सत्य निर्गुण है। शिव और सुंदर उसी का ध्येय रूप हैं। सत्य ध्येय से भी परे है। वह अमूर्तिक है। शिव और सुंदर उसका मूर्तिक स्वरूप है।

निर्गुण, निराकार, अंतिम सच्चाई का नाम है सत्य। वही तत्त्व मानव की उपासना में सगुण, साकार, स्वरूपवान् बनकर शिव और सुंदर हो जाता है।

सत्य की अपेक्षा शिव और सुंदर साधना-पथ हैं, साध्य नहीं। वे प्रतीक हैं, प्रतिमा हैं। स्वयं आराध्य नहीं हैं, आराध्य को मूर्तिमान करते हैं।

शिव और सुंदर की पूजा यदि अज्ञेय सत्य के प्रति आस्था उदित नहीं करती, तो वह अपने आप में अहं-पूजा है। वह पत्थर-पूजा है। वह मूर्ति पूजा सच्ची भी नहीं है।

सच्ची मूर्ति पूजा वह है जहाँ पूजक के निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस

मूर्ति की सचाई मूर्ति से अतीत भी हो।

इस निगाह से शिव और सुंदर मंजिलें हैं, मकसूद नहीं हैं। इष्ट-साधन हैं, इष्ट नहीं हैं। इष्ट भी कह लो, क्योंकि इष्ट देव की राह में हैं। पर यदि राह में नहीं हैं तो वे अनिष्ट हैं।

लेकिन यहाँ हम कहीं गड़बड़ में पड़ गये मालूम होते हैं। जो सुंदर है वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है? और शिव तो शिव है ही। वह अनिष्ट हो जाय तो शिव ही क्या रहा?

बात ठीक है। लेकिन शिव का शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धि पर स्थगित है। सुन्दर का सौन्दर्य-निरूपण भी मानव-भावना के ताबे है। मानव-बुद्धि अनेक रूप है। वह देश-काल में बँधी है। इसलिए ये दोनों (शिव, सुंदर) अनिष्ट भी होते देखे जाते हैं। इतिहास में ऐसा हुआ है। अब भी ऐसा हो रहा है।

सत्य स्वयं-भू है, एक है, उसे आलंबन की आवश्यकता नहीं है। सब विरोध उसमें लय हो जाता है। उसके भीतर द्वित्व के लिए स्थान नहीं है। वहाँ सब 'न'कार स्वीकार्य है।

शिव और सुंदर को आलंबन की अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव संभव है। अशिव को पराजित करने वाला शिव। यही बात सुंदर के साथ है। असुंदर यदि हो ही नहीं तो सुंदर निरर्थक हो जाता है। दोनों बिना द्वित्व के संभव नहीं हैं।

संक्षेप में हम यों कहें कि सत्य अनिवंचनीय है। उस पर कोई चर्चा-आख्यान नहीं चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्र की अंतरात्मा है।

और जिन पर बातचीत चलती और चल सकती है, वे हैं शिव और सुंदर। हमारी प्रवृत्तियों के व्यक्तिगत लक्ष्य ये ही दो हैं—शिव और सुंदर।

सत्य अनंत है, अकल्पनीय है। अतः हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते हैं, वह सब एकांगी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं है।

इस स्वीकृति में से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो, प्रेम। उसी को फिर अहिंसा भी कहो, विनम्रता भी कहो।

यदि मूल में यह प्रेम की प्रेरणा नहीं है यो शिव और सुंदर की समस्त आराधना भ्रांत है। सुंदर और शिव की प्राप्ति के अर्थ यात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्म में दीक्षित हो ले।

प्रेम कसौटी है। सुंदर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उस पर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा वह खरा है। जो खोटा निकलेगा, वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्ति को इस शर्त को पूरा करना होगा। जो करती है, वह विधेय है; जो नहीं करती, वह निषिद्ध है। सुंदर के नाम पर अथवा शिव के नाम पर जो प्रवृत्ति प्रेम-विमल, वनंत, कलेली, बहुरूप, निरुद्ध, होसी, हमारे शब्दों में वह अशिव होगी,

असुंदर होगी,—चाहे तात्कालिक 'शिव'-वादी और 'सुंदर'-वादी कितना भी इससे इंकार करें।

असल में मानव की मूल वृत्तियाँ मुख्यतः दो दिशाओं में चलती हैं—एक वर्तमान के हृदय की ओर, दूसरी भविष्य के आवाहन की ओर। एक ऐहिक, दूसरी पारलौकिक। एक में आनंद की चाह है, दूसरी में मंगल की खोज है। एक का काम्य देव सुंदर है, दूसरी का आराध्य देव शिव है।

यम-नियम, नीति-धर्म, योग-शोध, तपस्या-साधना, इनके मूल में शिव की खोज है। इनकी आँख भविष्य पर है।

साहित्य-संगीत, मनीषा-मेधा, कला-क्रीड़ा,—इनमें सुंदर के दर्शन की प्यास है। इनमें वर्तमान को याह तक पा लेने की स्पर्धा है।

आरंभ से दोनों प्रवृत्तियों में किंचित् विरोध-भाव दीखता आया है। शिव के ध्यान में तात्कालिक सौन्दर्य को हेय समझा गया है। यही क्यों, उसे वाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीय को हाथ से छोड़कर मंगल-साधना की बंधक में पड़ना निरी मूर्खता और विडंबना समझी गई है। तपस्या ने क्रीड़ा को गृहित बताया है और उसी दृढ़ निश्चय के साथ लीला ने तपस्या को मनहूस करार दिया है। दोनों एक दूसरी को चुनौती देती और जीतती-हारती रही हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुंदर में सत्य की अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। दोनों सत्य के दो पहलू हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पर अपने अपने-आप में सिमटते ही दोनों में अनबन हो रहती है। और इस तरह भी, वे दोनों एक प्रकार से परस्पर सहायक होते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरे के लिए अंकुश (= Check) रखते हैं।

मनुष्य और मनुष्य-समाज के मंगल-पक्ष को प्रधानता देने वाले नीति-नियम जब तब इतने निर्मम हो गये हैं कि जीवन उनसे संयत होने के बजाय कुचला जाने लगा है। तब इतिहास के नाना कालों में, प्रत्युत प्रत्येक काल में, जीवन के आनंद-पक्ष ने विद्रोह किया है और वह उभर पड़ा है। इधर जब इस भोगानंद-पक्ष की अतिशयता हो गई है तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-कानून फिर उभरें और जीवन के उच्छृंखल अपव्यय को रोक कर संयत कर दें।

इस कथन को पुष्ट करने के लिए यहाँ इतिहास में से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। सब देशों, सब कालों का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। स्वयं व्यक्ति के जीवन में इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले अनेकानेक घटना-संयोग मिल जायेंगे। फिर भी, वे प्रमाण प्रचुर प्ररिमाण में किसी को स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, साहित्य-संगीत, मठ-मंदिर, दर्शन-संस्कृति और इधर समाज-नीति और राज-नीति के क्रमिक विकास के अध्ययन में जगह जगह प्राप्त होंगे।

व्यक्तित्व के निर्माण में प्रवृत्ति का और निवृत्ति का समान भाग है। जहाँ शिव प्रधान है—वहाँ निवृत्ति प्रमुख हो जाती है। वहाँ वर्तमान को थोड़ा-बहुत क्रीमत में

स्वाहा करके भविष्य बनाया जाता है। जहाँ सुंदर लक्ष्य है वहाँ प्रवृत्ति मुख्य और निवृत्ति गौण हो जाती है। वहाँ भविष्य पर बेफिक्री की चादर डालकर वर्तमान के रस को छुकर लिया जाता है। वहाँ ज्ञान लक्ष्य नहीं है, प्राप्ति भी लक्ष्य नहीं है, मग्नता और विस्मृति लक्ष्य हैं। वहाँ सुख की सँभाल नहीं है, काम्य में सब कामनाओं समेत अपने को खो देने की चाह है। पहली साधना है, दूसरा समर्पण है।

आरंभ में जो संकेत में कहा वही यहाँ स्पष्ट कहें कि आनन्द-हीन साधना उतनी ही निरर्थक है जितना साधना-हीन आनन्द निष्फल है। वह सुंदर कैसा जो शिव भी नहीं है, और शिव तो सुंदर है ही।

इस दृष्टि से मुझे प्रतीत होता है कि सुंदर को फिर शिव-ता का ध्यान रखना होगा और शिव को सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है तो वह सुंदर तो है ही।

अर्थात्, जीवन में सौन्दर्योन्मुख भावनाओं का नैतिक (= शिवमय) वृत्तियों के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओं को खिझाती हुई, उन्हें कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुंदर की लालसा में लहकना चाहती हैं वे कहीं न कहीं विकृत हैं। सुंदर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं वह 'सुंदर' नहीं है। केवल छद्माभास है, सुंदर की मृगतृष्णिका है।

सामान्य बुद्धि की अपेक्षा से यह समझा जा सकता है कि शिव को तो हक है कि वह मनोरम न दीखे, पर सुंदर को तो मंगल-साधक होना ही चाहिए। जीवन का संयम-पक्ष किसी तरह भी जीवनानंद के मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनंद विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाज की अपेक्षा में देखें तो क्या दीखता है? स्वभावतः वे लोग जिनका जीवन रंगीन है और रंगीनी का लोलुप है, जिनके जीवन का प्रधान तत्त्व आनंद और उपभोग है, जो स्वयं सुंदर (!) रहते और सुंदर की लालसा लिये रहते हैं, जो बेफिक्री से निरे वर्तमान में रहते हैं और जिनमें शिव-तत्त्व पर्याप्त नहीं है,—ऐसे लोग समाज में किस स्थान पर हैं?

दूसरी ओर वे जिनमें जीवन का प्राण-पक्ष मूर्च्छित है, विधि-निषेधों से जिनका जीवन ऐसा जकड़ा है कि हिल नहीं सकता और तरह तरह के आंतरिक रोगों को जन्म दे रहा है, जो इतने सावधान हैं कि उनमें स्वाभाविकता और सजीवता ही नहीं रह जाती, जो पाबंद इतने हैं कि मानों जीते-जागते हैं ही नहीं;—ऐसे लोग भी भला किस अंश तक कृतकार्य समझे जा सकते हैं?

दोनों तरह के व्यक्ति संपूर्णता से दूर हैं। फिर भी, यह देखा जा सकता है कि आत्म-नियमन की प्रवृत्ति आनन्दोपभोग की प्रवृत्ति से किसी कदर ऊँची ही है। जहाँ वह जीवन को दबाती है और उसे बढ़ाने में किसी प्रकार से सहायता नहीं देती वहाँ वह

१५० :: जैनेन्द्र के विचार

अवश्य अयथाय है और सच्ची प्राण-शक्ति को अधिकार है कि उसको चुनौती दे दे। फिर भी, प्रत्येक सौन्दर्याभिमुख, आनंदोत्सुक प्रवृत्ति का धर्म है कि वह नैतिक उद्देश्यों का अनुगमन करे।

अर्थात् वे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जिनका लक्ष्य सुन्दर है उन वृत्तियों के साथ समन्वय साधें जिनका लक्ष्य कल्याण-साधन है। यानी, कला नीति-समन्वित हो। और इसके बाद, कला और नीति दोनों ही धर्म-समन्वित हों। धर्म का आशय यहाँ मतवाद नहीं; —‘धर्म’, अर्थात् प्रेम-धर्म।

‘सत्यं शिवं सुन्दरं’ यह व्याख्यात्मक पद ही नहीं है, सजीव पद है। जीवन का लक्षण है, गति। इस पद में भी गति है, उद्बोधन है। सुन्दर की ओर और फिर सुन्दर से क्रमशः शिव और सत्य की ओर प्रयाण करना होगा,— यह ज्वलन्त भाव उसमें भरा है। यों भी कह सकते हैं कि सत्य को शिव रूप में उतार कर ध्यान में लाओ, क्योंकि यह सरल है। और शिव को भी सुन्दर रूप में निहारो, क्योंकि यह और भी सहज स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर की मर्यादा है। शिव की भी मर्यादा है। और दोनों ही की मर्यादा है सत्य। सत्य में सब-कुछ अपनी मर्यादाओं समेत मुक्त हो जाता है।

□ □

वसन्त आया,—आओ

वसन्त आया ।

प्रकृति तीखी थी, अब स्निग्ध हुई । नंगी थी, अब जैसे कुछ ओढ़ उठी । हरियाला स्नेह उस पर छा गया । ढाँचों में से कोपलें उगीं । हवा काटना छोड़, लहरीली हिलोरें-सी देने लगी । और धूप झकझकाती घौली न रहकर मानों अरुण-सी बनी, हमें चूमने को जैसे बाँहें फैलाकर हमारी ओर बढ़ती आई ।

और लोगों के जी में से जीवन की चुहल उठकर उन्हें गुदगुदाने लगी । विनोद जीवन-सर्वस्व बनकर अपनी गोद में ले उन्हें हिन्दोले-से में झुलाने लग गया । और लोग बुद्धिमत्ता और कमाई का काम-काज छोड़ हठात् चहचहाने को ऐसे अवश हो उठे, जैसे पक्षी । वे लापवाह होकर उत्सव-सा मनाने लगे ।

और, भीतर की ओर बाहर की कालिख उड़कर उजलाहट में विलीन हो जाने लगी ।

और प्राणों में शराब के फेन की तरह कुछ लहरें मारता उठने लगा ।

और कुमारी ने माता हो जाने का मतलब समझा ।

और बालक किलकारियाँ भरना चाहते लगे, और सोचने लगे, दवात-पट्टी को दूर फेंक हम जंगल को भाग छूटें जहाँ पेड़ हैं और घास है, और झाड़ियाँ हैं ।

और ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरे और छतों से छाये घर ऐसे मालूम होने लगे जैसे जेलखाने, और जी हुआ,—चलो जी, हम खुले में खेलें और जिएँ ।

और लगने लगा, सिर पर हमारे आकाश है, और उस आकाश के शून्य के सिंहासन पर अवस्थित जो है, वही है । उसके अतिरिक्त हमारे सिर पर किसी तरह का और प्रभु नहीं है ।

और भीतर से ऐसा उछाह फुहार की भाँति फूटने लगा कि राजमुकुट से लदे बेचारे सम्राट को भी छाती से लगा लेने को जी हुआ । आज उसका सम्मान करने, उसका आतंक मानने, उसके प्रति विमनस्कता या विद्वेष रखने के सब असत्य भाव टूट कर बिखरने लगे; ऐसा लगा, सम्राट् ऐसा ही है जैसे हमारा भूला बड़ा भाई ।

और राजा-प्रजा, अफसर-गुलाम, दीन-सम्पन्न, ब्राह्मण-अछूत, मै-तू,—एक महोत्सव में हमारी अनाई हुई यह सब कुछ (अवश्य को) विषमताओं के स्वप्न की भाँति

१५२ :: जनेन्द्र के विचार

ओझल हो गई ।

और जो दीवारें, अपनी आँखों के आगे, अपनी जान अनजान में हमने खड़ी कर ली हैं, अब भूमि को चूमती हुई समतल हो गई ।

और बूढ़े बच्चे हो गये ।

और सब भाई भाई हो गये ।

और सब भाई-बहिन हो गये ।

जब प्राणों में ज्वार आया, और उसकी क्षीक में यह सब-कुछ जैसे होने लगा !

तब हमने कहा—

वसन्त आया,—आओ !

□ □

नारी के प्रति

ओ नारी, उठ !

मेरे पाँव जकड़े, रोती पड़ी क्यों है ?

क्या तेरे योग्य गिरना है ? तेरा काम जकड़ना है ? तेरा बल आंसू है ? तुझे ठौर चरणों में है ?

नारी, उठ, और कह—‘नहीं’ ।

नहीं, दया मैं नहीं जानूँगा । मैं इंकार करता हूँ । मैं नीच नहीं कि बड़ा बनूँ । पुरुष हूँ, पर कहता हूँ, तू नारी है । उठ, कि तेरे प्रति दया का पाप मुझसे न हो । उठ, कि मैं तुझे ठोकर दूँ और छूटूँ, यह न हो । अरी छोड़, मुझे छूटना है, और जाना है ।

वह सामने असत् दर्पोद्धत, खड़ा है । गर्व-स्फीत, मानों वह कह रहा है—‘कहाँ है कोई जो मुझे राजा नहीं मानता ? देखो मेरे पंजे और देखो मेरी दाढ़, और बोलो मेरी ‘जय’ ।’

तुझे नहीं दीखता, फिर भी, भोली नारी, उठ । गिर मत, कि प्रेम से मैं च्युत होता हूँ । प्रेम के अयोग्य होना मुझे नहीं स्वीकार । उठ, कि तू मुस्कराए, और स्नेह की ज्योति से और जीवन के आनन्द से मैं भर जाऊँ ।

उस ज्योति और उस आनन्द की शक्ति के प्रदान का वरदान, नारी, विधाता ने तुझे सौंपा, और तू रोती है ! अपने प्रेम के स्पर्श के वरदान से मेरे प्राणों में वह तल्लीनता भर, नारी, और वह निर्भीकता जगा कि सत्य के उस भीष्माकार विद्रोही से चल कर कहूँ—‘कहाँ हैं तेरे पंजे, मुझे पकड़ । कहाँ है दाढ़,—मुझे चबा जा । पर जब तक मुझमें स्वर रहेगा, तू सुनेगा । तू नहीं है, जैसे मैं नहीं हूँ । तू विद्रोही है, तू दास है । तेरी माफ़त भी सत्य ही जी रहा है, सत्य ही जीत रहा है । ओरे, वह शक्ति देख, जो तेरी दाढ़ से कुचले जाते हुए भी तुझे इंकार करने का सामर्थ्य मुझे देती है ।’

नारी, तेरे से बल लेकर मैं जाऊँ कि अब सब बलों से मैं मोर्चा ले सकूँ । इससे तू उठ, कि मैं चला ।

तू निरर्थक क्यों है ? तूने मुझसे पुत्र पाया । मुझमें तेरा अर्थ फिर क्या शेष है ? मेरे अभाव में तेरी सार्थकता भङ्ग होने का संभ्रम फिर क्यों है ? तू पुत्र ले, और अपने प्रेम की शक्ति

१५४ :: जैनेन्द्र के विचार

तेरा पुत्र चिरंजीव रहे, सुखी रहे । मुहाग चिरायु रहे । तू उठ, और हँस ।

निष्फलता का आभास जीवन में तुझे अनुभव हो तो, नारी, अपने प्रेम की तुझे शपथ देता हूँ, पुरुष-जाति के सहयोग से नवीन सन्तति प्राप्त करना । प्रेम की धरोहर, प्रेम का धर्म, खोना मत । उसका आधार सुदूर विस्मृति में अथवा चेतना के तट पर, या चित्र के चौखटे के पार पहुँचकर, लुप्त होता दीखे तो नारी, नवीन आधार पाना । प्रेम को हृदय में हर-घड़ी ताज़ा और जागरित रखना ।

नारी उठ, अपने प्रेम का संबल मेरे प्राणों को दे । मत रो । मुस्करा ४ बिदा दे । प्रेम की रक्षा के लिए घृणा से युद्ध लेने मैं जाता हूँ । उठ—हाँ, ठीक, उठ ।

□ □

साहित्य (प्रश्नोत्तर)

— आदमी क्यों लिखता है ?

— मैं अपने भीतर देखूँ कि आदमी क्यों लिखता है। अगर वह एक हो, अकेला हो, कोई भी और कुछ भी दूसरा न हो, तो क्या वह लिखेगा ? ऐसी हालत में मेरे ख्याल में लिखना तो क्या, और किसी भी प्रकार के मानवी व्यापार की कल्पना नहीं हो सकती। मनुष्य जीता है, खाता-पीता, हँसता-बोलता, पढ़ता-लिखता है तो तभी, जब कड़बों के बीच में वह एक है।

मानवी व्यापार एक से दूसरे का आदान-प्रदान संभव बनाने के लिए सृष्ट होते हैं। मानव अपने आप में समाप्त नहीं है। वह सबका अंश है। वह सब है। सब हुए बिना उसकी मुक्ति नहीं। मुक्ति बिना तृप्ति नहीं। उसी तृप्ति की राह में लिखना भी आता है। 'स्व' अपने को नाना संबंधों द्वारा 'पर' से जुड़ा हुआ पाता है। इन संबंधों की अपेक्षा उसमें नाना भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। भावनाएँ उसके भीतर समाती नहीं, वे फूटने के लिए बेचैन होती हैं। न फूटने दें, तो वे हमें त्रस्त कर छोड़ती हैं। वे हमें प्रभावित किये बिना तो रहती नहीं। व्यक्त वे होंगी और होकर रहेंगी। कृत्य में व्यक्त होंगी, वाणी में होंगी, नहीं तो शरीर में ही आधि-व्याधि के रूप में फूट बैठेंगी। इनका अतिरेक सह्य नहीं होता। जो उन्हें संपूर्णता से झेलकर आत्म-निष्ठ होता है, वह योगी है। योगी में भी भावनाएँ मरती हों, सो नहीं; वे आत्मा में रम जाती हैं। वैसा संत योगी साहित्यातीत अर्थात् द्वंद्वातीत है। पर योगी की उस अवस्था के नीचे जब उन भावनाओं का व्यक्तिकरण शब्दों में अंकित होता है, तब हम कहते हैं, साहित्य रचा गया। मनुष्य अपने को मुक्त करने के लिए और दूसरे में अपना दान करने के लिए लिखता है।

— क्या जो लिखा जाता है वह सब साहित्य है ?

— नहीं, सब साहित्य नहीं है। मनुष्य विचित्र प्राणी है। न जाने कितनी साधना से उसने स्वर पाया। फिर न जाने कितनी मुदत बाद उसने भाषा पाई, शब्द पाये। फिर बड़े परिश्रम से उन शब्दों को अक्षरों में बाँधने की पद्धति का आविष्कार किया। जब यह हो गया, तब वह धीमे-धीमे भाषा का महत्त्व भूलने लगा। जो आत्म-दान का साधन था, वह आत्म-वंचना का वाहन बना। व्यक्ति उसमें भावना से अधिक अपना अहंकार गुंजारने

१५६ :: जैनेन्द्र के विचार

लगा। जहाँ यह है, वहीं भाषा का व्यभिचार है। वैसा लिखना केवल लिखना है, वह साहित्य नहीं है।

जो हमारे भीतर की अथवा किसी के भीतर की रुढ़ वेदना को, पिजरबद्ध भावनाओं को, रूप देकर आकाश के प्रकाश में मुक्त नहीं करता है, जिसमें अपने स्व का सेवन है और दान नहीं है, वह भी साहित्य नहीं है।

साहित्य का लक्षण रस है, रस प्रेम है। प्रेम अहंकार का उत्सर्ग है। इससे साहित्य का लक्षण ही उत्सर्ग है।

—लेकिन स्थायी साहित्य कौन-सा ? उच्च साहित्य कौन-सा ?

—स्थायी साहित्य वह, जिसमें मानव की अधिक स्थायी वृत्तियों का समर्पण हो। जिसमें जितना ही रूप का दान है, शरीर-सौन्दर्य का दान है, उसका आनंद उतना ही अल्पस्थायी है। ऐन्द्रियिकता की अपील वाला साहित्य क्षणस्थायी है।

हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व-स्व का उत्सर्ग। जहाँ अपने प्रिय को पाने की कामना का भी उत्सर्ग है, जहाँ सर्वस्व-समर्पण है, वहाँ सर्वाधिक स्थायी तत्त्व है। उसी तत्त्व के माप से हम लोग मरणशील अथवा अमर इन संज्ञाओं से साहित्य का, विवेक किया करते हैं।

इसी प्रकार जहाँ हमारे जितने ऊँचे अंश का उत्सर्ग है, वहाँ साहित्य में उतनी ही उच्चता है।

—क्या साहित्य समयानुसार बदलता रहता है ?

—साहित्य का रूप तो समयानुसार बदलेगा ही, पर उसकी आत्मा वही एक और चिरंतन है। मानवीय सब कुछ बदलता है। पर मरणशील मानवों के बीच में एक अमर सत्य भी है। क्षण-क्षण में जैसे एक निरन्तरता है वैसे ही खण्ड-खण्ड में एक अखण्डता है। उसी निरन्तरता की अभिव्यक्ति क्षणों में होती है। क्षण स्वयं तो क्षणजीवी ही हैं, पर वे क्षणातीत को भी धारण कर रहे हैं। यही बात साहित्य के मामले में भी समझनी चाहिए। उसका सब कुछ बदलेगा, वह हर घड़ी बदल रहा है; पर उसका तत्त्व अपरिवर्तनीय है।

—यहाँ आपका रूप से क्या मतलब है ? क्या रूप का मतलब साहित्य के बाह्य कलेवर से है ?

—हाँ, रूप से मेरा वही भावार्थ है। उसमें भाषा, शैली, मुहावरे, व्यंजना के और साधन, सब आ जाते हैं। इधर एक नई चीज पैदा की जा रही है, जिसको कहते हैं 'टेकनीक'। वह आत्मा से तोड़कर साहित्य को नियमित शास्त्र का रूप देना चाहती है। उसको भी मैं साहित्य के परिवर्तनीय रूपों में गिनता हूँ।

—साहित्य का तो शायद आत्मा से सम्बन्ध है और रहना ही चाहिए; फिर यह 'टेकनीक' का साहित्य से आत्मा को अलग करना ठीक है ?

—इसको समझने के लिए आप अपने को लीजिए। आपका आत्मा से संबंध है या नहीं ? और आप शरीर में भी हैं या नहीं ? अब अगर मैं यह कहूँ कि जितने अधिक आप

आत्मा हैं और जितने अधिक उस आत्मा के अविच्छिन्न आपका शरीर है उतने ही अधिक आप महान् हैं—तो क्या ऐसा कहने में कुछ अय्यार्थ होगा ? इस जगत में कुछ प्राणी हैं जो सिर के बालों को तरह-तरह के लच्छों में काढ़ते हैं; अंगोपांगों को प्रकार-प्रकार से सुसज्जित रखते हैं और शरीर को आभूषित रखने में पर्याप्त चिन्ता व्यय करते हैं। उस शरीर-सज्जा का योग लगभग आत्मा से होता ही नहीं। मैं उसको क्या कहूँ ? क्या मैं यह न कहूँ कि उस साज-सज्जा में जीवन की युद्ध कला अभिव्यक्त नहीं होती। वहाँ जो है वह कुछ नकली-सा है। साहित्य में भी ऐसा हो सकता और हुआ करता है। मूल भाव के प्रति अपेक्षाकृत उदासीन होकर हम उसके अंगोपांगों की परिसज्जा में लुभा पड़ेंगे तो हम साहित्य के नाम पर ठेठ असाहित्यिक हो चलेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। देखिए न आज, नायिका-भेद की चर्चा में कहाँ तक औचित्य रह गया है ? वह क्या व्यसन की हद तक नहीं पहुँच गई थी ?

साहित्य को एक शास्त्र अथवा एक विद्या बनाना इस खतरे से खाली नहीं है। आजकल स्पेशलाइजेशन की (विशेषीकरण की) प्रवृत्ति बहुत है। हर-बात का एक अलग शास्त्र है। इससे फायदा तो होता है। आविष्कारों की सूझ इसी पद्धति से हाथ आती है। लेकिन जब कि पदार्थ-ज्ञान को इस तरह भेद-विभेदों में विभक्त करके देखने में कुछ लाभ भी है, तब यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वास्तव जीवन में वैसे खण्ड हैं नहीं। जीवन एक समूचा तत्त्व है। साहित्य के हर विभाग में साहित्यिकता उतने ही अंश में है, जहाँ तक कि उसमें जीवन-स्पर्दन है। विज्ञान के नाना शास्त्रों की भाँति साहित्य को भी विविध शास्त्रों में विभक्त करके चलना बहुत सही बात नहीं है।

यों हर ज्ञान को विज्ञान का रूप देने से उस ज्ञान के सम्बन्ध में मानव का अधिकार, उम पर मनुष्य का प्रभुत्व, बढ़ जाता है और इसमें कोई हरज भी नहीं है। यह प्रक्रिया अनिवार्य भी है। लेकिन जब वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण समझ ली जाती है तब पाखण्ड हो जाती है।

शरीर की एक-एक हड्डी को जोड़कर उनका इकट्ठा ढाँचा खड़ा कर देने से मनुष्य नहीं बन जायगा। इस तरह जो चीज़ बनेगी वह ठठरी ही होगी। मनुष्य में जो घघकते हुए प्राण होते हैं—मनुष्यता का असली लक्षण तो वह है। ऐसे ही शिल्प-कौशल की विद्वत्ता अपने आप में साहित्यिकतान ही हो सकती। यदि विद्वान के भीतर सहानुभूति से भरा-सा आता हुआ हृदय नहीं है तो वह विद्वत्ता साहित्य की दृष्टि से कुछ बेजान-सी चीज़ है।

‘टेकनीक’ उस ढाँचे के नियमों का नाम है। पर ढाँचे की जानकारी की उपयोगिता इसी में है कि वह सजीव मनुष्य के जीवन में काम आये। वैसे ही ‘टेकनीक’ साहित्य-सृजन में योग देने के लिए है।

शरीर-शास्त्र-वित्त हुए बिना भी जैसे प्रेम के बल से माता-पिता बनकर शिशु-

१५८ :: जैनेन्द्र के विचार

सृष्टि की जा सकती है, वैसे ही बिना 'टेकनीक' की मदद के साहित्य सिरजा जा सकता है।

—तो चिरस्थायी साहित्य कौन-सा है ?

—शरीर और आत्मा की एकता जिसमें जितनी सिद्ध हुई है वह उतना ही चिरजीवी साहित्य है और जिसमें यदि शरीर है तो मात्र आत्मा को धारण करने के लिए है। जो साहित्य जितना ही उन भावनाओं को व्यक्त करता है जो सब देश-काल के मनुष्यों में एक समान हैं, वह उतना ही चिरस्थायी है। ऐसा वही कर सकता है जिसने अपना अहं समष्टि में खो दिया है। पर जो सम्पूर्णतः अशेषतः ऐसा हो, वह व्यक्ति न तो हुआ, न होगा। इससे जब हम साहित्य की अमरता की बात करते हैं तो वह बात एकान्तिक ही समझनी चाहिए। सबको एक दिन मिट जाना है। इसलिए चिरस्थायित्व में तर-तमता ही हमारे कहने का अभिप्राय हो सकता है। जिन ग्रन्थों में युगयुगानुमोदित जातीय आदर्शों को स्वरूप मिला है, जिनमें लक्ष लक्ष मानव-प्राणियों की आकांक्षाओं को, उनकी वेदनाओं को मूर्त्तिकाएँ प्राप्त हुआ है, वे ग्रन्थ उस जाति, उस देश के व्यक्तियों के मनों में गहरे घुसकर पैठ जाते हैं। वे फिर उनके जीवन से कठिनाई से अलग किये जा सकते हैं। महाभारत और रामायण को भारतवर्ष के प्राणों में से खींचकर अलहदा कर सकने की कोई कल्पना कर सकता है ? ये ग्रन्थ अमुक व्यक्ति ने अमुक स्थान पर बैठ कर नहीं लिख दिये। ये तो भारतवर्ष के पूर्वजों में श्रुति-स्मृति द्वारा गहरे अंकित होते गये और प्राणों में बस गये।

□ □

साहित्य और नीति

—साहित्य में मदिरा को स्थान होना चाहिए या नहीं ?

—साहित्य कोई किसी का मकान तो है नहीं कि उसमें रहने वाला चुन-चुनकर अमुक वस्तु को आगे दे या अमुक को निकाल दे। मेरे मकान में मेरी रुचि व्यक्त होगी, दूसरे के मकान में दूसरे की रुचि व्यक्त होगी। साहित्य किसी के भी एक मकान का नाम नहीं है। फिर एक और विचारणीय बात है। साहित्य का स्थल कागज है—कागज पर वह लिखा जाता है, या छापकर संग्रह किया जाता है। जबकि उसका स्थूल स्थान कागज है तब मूल स्थान हृदय है। अब मैं समझना चाहूँगा कि आपकी मदिरा क्या चीज है ? मदिरा क्या वह जो जरा लाल होती है और काँच के गिलास में दी जाती है और पीते वक्त कण्ठ को पकड़ती मालूम होती है ? वैसी मदिरा तो आप खुद सोचिए

कागज में कैसे समा सकती है ? इसलिए साहित्य में यदि कोई मदिरा है तो वह कोई और चीज है। अगर यही लाल लाल कण्ठ पकड़ने वाली मदिरा है तो फिर वह साहित्य साहित्य ही कैसा है। नहीं तो अधिकतर साहित्य में मदिरा शब्द रूपक के तौर पर आता है। मदिरा का एक गुण विशेष है कि वह आपे को भुला देती है। महद्भावनाओं में भी यह विशेषता पाई जाती है। वैसी ही किसी महद्भावना को व्यक्त करने के लिए अगर मदिरा की उपमा का उपयोग है, तो इसमें अन्यथा क्या है ?

— क्या मदिरा को सामने रखकर ही महद्भावना हो सकती है ?

— नहीं, अधिकांश में महद्भावना सामने से हर चीज को हटा देने पर हो सकती है। वह लगभग आँख मींचने पर हुआ करती है। नहीं तो दृष्टि ऐसी चाहिए जो सबको भेदकर पार चली जाय। जब आँखों पर पलकें बन्द हो जाती हैं तब उनमें सपने भरते हैं। यह तो हुई महद्भावना के उदय और जागरण की बात। जब वह जाग गई तब क्या तो शराब और क्या और कुछ—सबके प्रति आँख खोलकर वह प्रीति वर्तन कर सकती है। महद्भावना के वशवर्ती हुए कि जो शब्द और जो भी प्रचलित रूप प्रस्तुत मिलते हैं, उन्हीं में और उन्हीं के द्वारा अपने को व्यक्त करने में आपको कोई घबराहट न होगी। आपको क्या चाहिए ? भोजन चाहिए या कि आपको यहाँ ही अटक रहना है कि वर्तन मिट्टी का है कि कलई का है ? पात्र मिट्टी का भी भला, पर उसमें भोजन प्रीति का होना चाहिए। जिनमें प्रीति का रस नहीं, वैसे स्वर्ण-थाल में भी भरे हुए व्यञ्जन किस काम के ? समीक्षकों में मैं इसी तीसरे नेत्र की दृष्टि चाहता हूँ।

— भोजन तो हमें चाहिए। उसके बिना गुजारा कैसे होगा ? पर साथ ही उसका बनाने वाला भी अच्छा होना चाहिए। आपने इस बात पर कोई प्रकाश नहीं डाला ?

— वह बात अँधेरे में कब है कि प्रकाश की प्रायिनी हो ? जैसे खराब मन का आदमी भी अच्छी मिठाई बना सकता है, वैसी बात साहित्य के मामले में नहीं है। मिठाई मन से नहीं बनती, पर साहित्य मन से ही बनता है। लेकिन यहाँ पर एक बात याद रखने की है कि किसी को अच्छा या बुरा कह देने में हम हमेशा अपनी सम्मतियों से ही काम लेते हैं और हमारी सम्मतियों के तल में हमारा अहंभाव भी होता है। यदि मैं अमुक-पंथी हूँ तो जो व्यक्ति उस पंथ का नहीं है वह कुछ न कुछ खराब है, ऐसा समझ लेता हूँ। हमारे अपने मत-विश्वास हमारी सहानुभूति का परिमाण बाँध देते हैं। परिणाम यह होता है कि जीवन में हम बहुधा अन्यायपूर्वक, आवेशपूर्वक और अहं-भावपूर्वक लोगों को बुरा भला कह दिया करते हैं। साहित्य साहित्यिक की आत्मा को व्यक्त करता है। साहित्य और साहित्यिक इन दोनों में वैसा पार्थक्य नहीं है, जैसा कि हलवाई और मिठाई में होता है। रचनाकार और रचनाकृति में ऐक्य का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। इसलिए आप यह निरपवाद मान लीजिए कि अच्छे साहित्य का कर्त्ता अच्छा ही होता है। अगर वैसा नहीं दीखता तो कहिए—हमारे मत में अथवा हमारे मन में कोई गड़बड़ अवश्य है। साहित्य कृतिकार

१६० :: जैनेन्द्र के विचार

के मन का प्रतिबिम्ब है। इसको अच्छी तरह जानकर साहित्य-रस प्राप्त करने के लिए हमें अपनी ही मत-धारणाओं के बन्धन से तनिक स्वाधीन होना पड़ेगा।

—आपने जो यह गड़बड़ की बात कही, वह कैसे हो सकती है—जब कि हृष कृतिकार को तो जानते न हों केवल उसकी कृति ही हमने पढ़ी हो?

—ऐसी हालत में तो बेशक गड़बड़ नहीं हुआ करती। किन्तु कृतिकार कब सशरीर मानव-प्राणी नहीं है? हो सकता है कि वह आपके ही कमरे में रहने वाला हो और एक दिन बाजार में आपकी आँखों के सामने पड़ जाय। अब तक रचनाओं में आप उसके विचारों का और भावनाओं का परिचय पाते रहे हैं। अब आप देखते हैं कि वह फटा हुआ जूता पहिन रहा है; साधारण कपड़े पहिने है या सज-धज में है; चुप है या बोल रहा है; मूछें हैं या नहीं हैं।—इस सबका आपके मन पर अजब प्रभाव पड़ता है। आप की सहानुभूति गरीब के साथ है तो आपको चमकदार जूता बुरा लगेगा। आप नई पसन्द के आदमी हैं, तो शायद है कि उसकी अनसँवारी मूछें आपको अच्छी न लगें। इसी तरह उसकी चाल-ढाल, कपड़े-लत्ते इन सबका अक्स आपकी धारणाओं पर पड़ेगा। और आपकी धारणाएँ उस अक्स के अमुक अंश को अच्छा और अमुक को बुरा कह छोड़ेंगीं। तब आप अक्सर देखिएगा कि कलाकृति का कलाकार और फटे-कि-चिकने जूते और बढ़िया-कि-मामूली कपड़े वाले उस आदमी में बहुधा पूरी तरह साम्य नहीं हो पाता है। ऐसी दृष्टियाँ बहुत कम हैं, जो व्यक्ति को समग्रता में देखती हों। इसीलिए मैंने वह गड़बड़ की बात कही है। ऐसी गड़बड़ विलायतों में भी है। सभी कहीं है और सब कालों में थी। किसी के बदन पर का फटा कुरता भिन्न मनुष्यों पर भिन्न प्रकार का प्रभाव डालता है। इसी लिए व्यक्तियों के अन्दाजों में अन्तर हुआ करता है। एक आदमी के दोस्त भी होते हैं, दुश्मन भी। अगर वह अच्छा है तो उसके दुश्मन क्यों हैं? अगर बुरा ही है तो दोस्त कहाँ से आये? परिणाम निकला कि व्यक्ति का शुद्ध यथार्थरूप क्या है, इस तथ्य तक पहुँचना ही दुर्लभ है। इसी दृष्टि से मैंने गड़बड़ की बात कही।

—अच्छा तो आपने मान लिया कि साहित्य में मबिरा का स्थान है—ठीक है, मैंने भी माना। परन्तु यह तो बतलाइए कि यह जो अश्लील साहित्य की रचना हो रही है, सो कहाँ तक ठीक है? बुनिया में अच्छी घटनाएँ भी होती हैं और बुरी बातें भी। फिर उनको प्रकट करने में मलाई बुराई क्यों?—जब कि साहित्य का काम ही यही है।

—अश्लील साहित्य अश्लील है। इसलिए उसकी रचना करना भी अश्लील है। 'अश्लील' शब्द में ही यह छवनि है कि वह अच्छा नहीं है। अच्छा होता तो हम अश्लील न कह पाते। जिसको एक भी व्यक्ति अश्लील कहता है, उस साहित्य में कुछ न कुछ खोट है।

जिस व्यक्ति का एक भी दुश्मन है, उस व्यक्तित्व में कुछ न कुछ खोट है। लेकिन जब आदमी को बुरा कहने वाला कोई नहीं रहता तब आदमी मर चुका होता है। मरने पर दुश्मन कोई नहीं रहता। इससे पहले यह स्थिति प्राप्त नहीं होती। परिणाम निकला

कि व्यक्ति मरने पर निर्दोष होता है। जीवन में तो निर्दोषिता की ओर बढ़ना ही होता है।

जन्म कर्म-बन्धनों से होता है। वैसे ही साहित्य असमर्थता में से उत्पन्न होता है। किन्तु उसकी उत्पत्ति का प्रयोजन है कि सामर्थ्य दे, जैसे कि जन्म पाकर व्यक्ति का पुरुषार्थ है कि वह सुवित की ओर बढ़े।

इसलिए जिससे कोई व्यक्ति विचलित नहीं होता ऐसा पुरुष और ऐसा साहित्य निर्जीव है।

यहाँ आपको लगेगा जैसे हम चक्कर में फँस गये हैं। हाँ, वह चक्कर तो है और इसी को समझ लेना बड़ी बात है।

दुनिया में बुरा भला सब कुछ है। ईश्वर सबको देखता, है फिर भी वह अलिप्त रहता है। क्योंकि वह अलिप्त रह सकता है और रह रहा है, इसलिए उसी को सामर्थ्य प्राप्त है कि वह अनादि इतिहास के सब पाप और सब पुण्य देखता रहे। सब पाप और पुण्य उसमें लय हो जाते हैं।

हममें वैसी अलिप्तता नहीं है। इसलिए हम सब कुछ नहीं देख सकते। स्पर्द्धापूर्वक अगर हम अपने सामर्थ्य से अधिक देखने जानने का यत्न करेंगे तो हमारी आँखें फूट जायँगी और हमारा सिर फिर जायगा।

ऐसा ही सिर-फिरा साहित्य अश्लील होता है।

जहाँ स्त्री को घृणापूर्वक (अर्थात् रसपूर्वक) वेश्या, व्यभिचारिणी आदि कहा जाता है वहाँ अवश्य अश्लीलता है चाहे वहाँ कितनी ही चतुराई से काम लिया गया हो। घृणा अश्लील है।

जहाँ स्त्री में माता-भगिनी की बुद्धि है वहाँ अश्लीलता नहीं है चाहे वहाँ शारीरिक नग्नता का जिक्र भी क्यों न आ जाय।

सूरज के प्रति धरती का क्या अप्रकट है? धरती है ही सूरज का भाग। इसलिए सूरज जब धरती को अपनी घूप का दान करता है और धरती उस दान को स्वीकार कर उजली होती और खिल पड़ती है—तब क्या उसमें आसक्ति है? तब क्या सूरज कोई भेला रस पा रहा होता है?

इसलिए धरती तक सूरज की किरणें उसके तमाम वस्त्रों को भेदकर पहुँच ही जाती हैं और वह धरती पाप के अगणित परमाणुओं से आवेष्टित होकर भी सूरज की आँखों के आगे सदा दिग्बसना है और वैसी होकर कृतज्ञ है।

इसलिए प्रकट-अप्रकट का प्रश्न न कीजिए। बड़ा प्रश्न अनासक्ति के अधिकार का है। जहाँ प्रदर्शन है वहाँ आसक्ति है और जहाँ अनासक्ति है वहाँ प्रकटीकरण ही हो सकता है।

—दुनिया में हरेक तरह की घटनाएँ होती हैं—उनमें अश्लील भी होती है। क्या उनको प्रकट करने में साहित्य की आपत्ति है?

१६२ :: जैनेन्द्र के विचार

—घटना, घटना होती है। अपने आप में न वह अश्लील होती है, न शिष्ट। हमारा उस घटना के साथ क्या नाता है, उसके प्रति क्या वृत्ति है,—अश्लीलता इस पर निर्भर करती है।

—किसी लेखक ने यदि किसी अश्लील घटना का हूबहू वर्णन कर दिया, तो साहित्य उस पर आपत्ति न उठाएगा ?

—मैंने कहा तो कि घटना कोई अश्लील नहीं होती और किसी घटना का हूबहू वर्णन नहीं हो सकता। बाहरी जगत् का हमारे मन के साथ सम्बन्ध है और उस जगत् की वस्तु और घटनाओं के साथ हमारा राग-द्वेष रुचि-अरुचि का सम्बन्ध बन जाया करता है। जैसा मैंने कहा—बहुत कुछ अथवा सब कुछ उस सम्बन्ध पर अवलम्बित है, जो वस्तु-जगत् के साथ लेखक अपना लेता है। इस तरह दो व्यक्ति कभी एक घटना का एक तरह वर्णन नहीं कर सकते। दावा दोनों कर सकते हैं कि उनका वर्णन हूबहू है, पर ऐसा हो नहीं सकता। साहित्य में तो ऐसा है ही नहीं। हाँ विज्ञान में, थोड़ा बहुत है। पर विज्ञान में अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं उठता।

□ □

साहित्य और धर्म

—साहित्य में धर्म का क्या स्थान है ?

—‘साहित्य में धर्म का क्या स्थान है ?’ के स्थान पर प्रश्न यों कर दिया जाय कि ‘धर्म में साहित्य का क्या स्थान है ?’ तो मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़े। हम सबको, जो भी है उस सभी कुछ को, जो धारण किये हुए है—वह अतीन्द्रिय तत्त्व है, धर्म। साहित्य मानव की उन अनुभूतियों का संग्रह है जो शब्दों में, भाषा में, व्यक्त हुई हैं। मैं समझता हूँ धर्म से आपका तात्पर्य किसी मत-वाद से नहीं है—जैसे हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि। ऐसे मत-वादों से साहित्य का संबंध बेशक नहीं है। पर मूलभूत धर्म को तो साहित्य पोषण ही देता है।

—अच्छा तो हिन्दू-धर्म में साहित्य कौन-सा है ?

—हिन्दू-धर्म में कौन-सा साहित्य है, इस प्रश्न का ठीक ठीक आशय मैं नहीं पकड़ सका। हिन्दू लोग जिन्हें आगम-प्रमाण मानते हैं ऐसे ग्रन्थ उनका पहला साहित्य है। फिर कुछ वह ग्रन्थ आते हैं जिनमें व्यावहारिक जीवन में नियमन के लिए विधिनियमों का प्रतिपादन है। वे हैं आचार-ग्रन्थ। उनसे उतरकर तरह-तरह के ज्ञान-विज्ञान के ग्रंथ हैं। क्या आप यह चाहते हैं कि उन सबके नाम यहाँ गिनाये जायँ ? मेरे

ख्याल में इतना जान लेना काफी है कि एक हिन्दू, हिन्दू होने से भी पहले आदमी है। इस से हिन्दू समाज के जीवन में विविध प्रकार का वैसा सब साहित्य मिलेगा जैसा इतर जन-समाजों के जीवन में मिलता है। अत्यंत गंभीर और प्राथमिक तत्त्वों की जिसमें गवेषणा होती है, वह साहित्य धार्मिक हो जाता है। उसकी अवस्था भी अधिक होती है उसमें स्थायित्व भी अधिक होता है। इससे उतरकर केवल मनोरंजन और व्यसन का साहित्य भी होता है। मनुष्य की उत्तरोत्तर उच्चवृत्तियों को जो जितनी ही स्फूर्ति दे, वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। वह श्रेष्ठता एक विशेष स्थल पर आकर धार्मिकता हो ही जाती है।

— क्या इन मत-वादों का साहित्य भी कोई भ्रम होता है ?

—हाँ, होता ही है। सत्य यद्यपि एक है पर हमारी बुद्धियाँ अलग अलग हैं। मनुष्य काल-परिमाण से घिरा है। इससे वह सत्य का आंशिक आकलन ही कर पाता है। परिस्थितियों के अनुसार उस आकलन के रूपों में भी विभिन्नता होती है। यही धर्मों की अनेकता का कारण है। ऐसा भी लगेगा कि उनमें विरोध भी कहीं कहीं है। पर विरोध असल आत्मा का नहीं है। वह दीखने-भर का है। गहराई में जाकर तो सबके प्राणों में करुणा ही है।

— किसी एक सम्प्रदाय को उत्तेजना देने वाले साहित्य को आप क्या कहेंगे ?

— मेरा जी होता है कि मैं उसे साहित्य ही न कहूँ। पर मैं डिक्टेटर तो हूँ नहीं। एक ओर भी बात है। दुर्बल प्रकृतियों को उत्तेजना चाहिए ही चाहिए। उनमें जागृति होती है तो वासना को लेकर। अन्यथा जड़ता ही उन पर छाई रहती है। तमाशा तो आज यही है कि अच्छे अच्छे सिद्धान्तों के नाम पर बुरे आदमी बुरे बनने का मौका पा लेते हैं। आप तो जानते हैं कि धर्म के नाम पर कितनी लड़ाइयाँ लड़ी गई हैं। आसने सामने दो भाई एक दूसरे का गला काटने को चलते हैं और उनमें से एक आदमी जोर से चिल्लाता है 'परमेश्वर' और दूसरा चिल्लाता है, 'अल्लाहो-अकबर'। 'अल्लाह' और 'परमात्मा' क्या दो हैं ? पर ये दोनों आदमी एक ही ईश्वर को याद करते हुए, एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। इस आदमी के मन के पागलपन को देखकर हमको अधीर नहीं हो जाना होगा। आदमी की लड़ाई में परमात्मा का कसूर नहीं है। परमात्मा शब्द डिक्शनरी (कोष) में से मिटा दीजिएगा तो लड़ाई मिट जायगी, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। मनुष्य के मन में लड़ाई की जड़ जहाँ है वहाँ परमात्मा तो है ही नहीं। वहाँ तो मनुष्य की ही क्षुद्रता है। उस क्षुद्रता की जड़ें जब तक वहाँ से नहीं उखड़ेंगी, तब तक अच्छे शब्द बुरे काम में आते रहेंगे। सम्प्रदायान्धों को अच्छे धार्मिक ग्रंथों में से भी उत्तेजना का मसाला प्राप्त हो जाता है, यह मैं जानता हूँ। इसीलिए मैंने ऊपर की बातें कहीं। जो संकीर्ण साम्प्रदायिकता को भड़काता है और जो उसका शिकार होता है उन दोनों के मनों में से बद्ध-मूल क्षुद्रता उखड़ गई है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। धार्मिक साहित्य का जन्म मनुष्य के मन में ही होता है। वह तो ऐसे के प्रसव में से ही खिलता है।

मेरी चले तो मानसिक संकीर्णता का विष फैलाने वाली पुस्तकों का प्रचार ही मैं निषिद्ध ठहरा दूँ। उनसे समाज का बड़ा अकल्याण होता है।

—मुगल-काल में राजपूतों को उत्साह दिलाने के लिए उस समय के कवियों ने जो साहित्य रचा—वह भी क्या आपकी ऊपर कही गई व्याख्या में आ जाता है ?

—इस प्रश्न में एक भूल मालूम होती है। उपयोगिता की दृष्टि से आपके लिए उपयोगी वस्तु वही हो सकती है, जो कल या परसों अनुपयोगी हो जाय। जिसमें अनुपयोगी होने का सामर्थ्य नहीं वह वस्तु उपयोगी ही नहीं। जिसने शूरता और बलिदान का ओज-दान किया वह साहित्य निर्जीव नहीं रहा होगा। उसकी सजीवता असंदिग्ध है। किन्तु यदि उसके साथ यह भी मिलता हो कि यवन को मारो और आज उस 'यवन' शब्द की ध्वनि में एक विशिष्ट जाति का बोध समाविष्ट रहता है तो कहना होगा कि वह अंश गलत है। आज वह ओज-संचारी भी नहीं हो सकता। अमुक को विरोध में रखकर यदि हम अपने भीतर शक्ति पाते हैं, तो वह शक्ति नहीं है, वैर है। साहित्य प्रेमोत्सर्ग की शक्ति देता है। द्वेष और घृणा की शक्ति देने वाला उतने ही अंश में असाहित्य है। तब की परिस्थितियों में विशिष्ट रूप से उपयोगी पड़ने वाले साहित्य का हक है कि वह आज के लिए अनुपयोगी हो जाय। उस जमाने का बहुत-सा साहित्य हमारे बढ़ते हुए जीवन का अब भी साथ नहीं दे पा रहा है और छूटता जा रहा है।

—तो क्या आपका मतलब यह है कि उस समय के साहित्य को निकाल दिया जाय ? यदि यही मतलब हो तो भूषणादि कवियों को बहुत-सी कविताएँ निकल आयेंगी।

—यह मतलब तो कैसे हो सकता है कि एक भाड़ू से सबको साफ कर दिया जाय। हाँ, यह ठीक ही तो है कि पुराना सब कुछ जीवन की गति के साथ-साथ निभ नहीं सकता। निकाल देने की बात तो शासन-प्राप्त लोग करें। मैं तो यही कहने योग्य हूँ कि जो लेने और पाने योग्य है उसको लेने और पाने में, जो छूटने योग्य है वह स्वयंमेव छूट जायगा। आज अगर हिन्दी में भी भूषण से अधिक रवीन्द्र पढ़े जाते हैं तो क्या मैं इसको भूषण का अपमान समझूँ ? दिन आ सकता है कि रवीन्द्र भी एक दिन न पढ़े जायें। लेकिन इन बातों में मानापमान का प्रश्न ही कहाँ से उठता है ? यदि आज, आज ही रात के बारह बजे खत्म हो जायगा, कल के दिन बिलकुल शेष न रहेगा, तो क्या किसी प्रकार भी यह इस 'आज' की अवगणना है ? ऐसा नहीं है। 'आज' का तो अर्थ ही यह है कि वह कल न रहेगा और यह उस 'आज' को भी मालूम होना चाहिए। उसके पक्ष में यह दावा पेश करना कि नहीं, इस आज के 'आज' को हम तो सनातन तत्त्व की भाँति सदा कायम रखेंगे—यह दावा पहले से ही अपने आप में हारा हुआ है। भूषण आदि के ग्रंथ मैंने समीक्षा-बुद्धिपूर्वक नहीं देखे हैं। वस्तुतः देखे ही नहीं हैं। बस जहाँ-तहाँ कुछ देखा है। उनके किस अंश को रखकर किस अंश को अपने साथ से छूटने देना है, यह तो किसी हिन्दी के ज्ञाता विद्वान से पूछने की बात है।

—तो आप शायद शिवा-बावनी को उड़ा देने के पक्ष में हैं ?

—मैंने कहा न, इस बारे में कुछ कहने का मैं अधिकारी नहीं हूँ। मोह-पूर्वक न मुझे कुछ रखना है न निकालना है। इस प्रश्न का निर्णय निर्मोही वृत्ति से जो हो कर लेना चाहिए।

□ □

साहित्य-सेवी का अहंभाव

—हम साहित्य-सेवी कैसे बन सकते हैं ?

—अच्छी बातों के सोचने और फिर उन अच्छी बातों के लिखने से। अपने को औरों में खोने और दूसरों को अपने में पाने से। प्रेम की साधना से और अहंकार के नाश से।

—लेकिन साहित्यिकों में तो अहंभाव कुछ विशेष ही पाया जाता है !

—यह तो मैं मान लूंगा कि लेख आदि लिखने वालों में अहंभाव हुआ करता है। उसकी पहली वजह यह कि वे अपने को पाना चाहते हैं। वे दुनिया के प्रार्थी होकर नहीं जीना चाहते, खुद होकर जीना चाहते हैं। जो बनी हुई मान्यतायें हैं, वे ही उनको मान्य नहीं होतीं। वे उन्हें स्वयं बनाने का कष्ट उठाना चाहते हैं। जब तक उनकी वे मान्यतायें बनती रहती हैं, तब तक लगभग आवश्यक ही है कि वे झुकने की चिन्ता न रखें। जो सत्य पालिया गया है, उतने ही से उनकी पूर्ति नहीं होती अथवा कहो वे अपनी निज की साधना द्वारा भी उसे अपने दिल के भीतर पाना चाहते हैं। वे गहरे में आप ही डुबकी लगाना चाहते हैं। इस प्रकार दुनिया से उनकी सहज अनबन-सी रहती है। उनकी भावनायें ज्यादा धारदार हो चलती हैं। छोटी बात भी उन्हें बड़ी लगती है। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति व्यावहारिक पुरुष का तुलना में कुछ कम सहिष्णु दीख पड़ेगा। किंतु ऐसा इच्छापूर्वक नहीं होता। मानो लेखक-प्राण व्यक्ति इस दुनिया के संघर्ष में अपने को खोना नहीं चाहता। उसमें अपने-व्यक्तित्व को अखंडित रखने की चिन्ता जग जाती है। इस अहंकारपूर्वक वह अपने को कायम रखता हुआ दीखता है। पर यह ऊपर की बातें हैं। और जब तक साहित्यिक व्यक्ति वास्तव में साहित्यिक बनने की तैयारी में रहता है, तब तक की यह बातें हैं। न तो असल में वह भीतर से अहंकारी है, और न अपनी मान्यताओं को स्पष्ट और दृढ़ बना लेने के बाद उसमें अहम् का लेश दीख पड़ता है। हाँ, उसके चलन का नियम उसके भीतर ही रहता है। सामाजिक नीति के कोड (कानून) के अनुसार यह नहीं भी चलता दीखता है।

१६६ :: जैनेन्द्र के विचार

आप एक बात देखिएगा। जो होनहार बालक दीखते हैं, उनमें अहम् जल्दी पैदा हो जाता है। यह है तो बुरा ही, पर किसी भलाई को सूचित करता है। वह अहम् इसलिए नहीं है कि भीतर गड़ जाय। वह तो मात्र इतने के लिए ही है कि व्यक्तित्व संचित होता चले। समर्थ व्यक्तित्व ही व्यापक स्नेह को धारण करने में समर्थ होता है।

अतः एक अहम् वह भी है, जो श्रद्धा में बनता है, और स्नेह से पलता है। वह अहंकार नहीं होता, वह मात्र बहाव में बहने के संकल्प की द्योतक दृढ़ता है।

पर यदि दम्भपूर्ण अहम् दिखाई देता है, तो आप समझ लीजिए कि वहाँ साहित्यिक श्रद्धा का अभाव है। मैं मानता हूँ कि लेखकों में सब देश और काल में, ऐसे लोग थोड़े नहीं होते। किंतु यह भी आप मान लीजिए कि दर्प के मूल में सदा न्यूनता होती है। कुछ वृष्टि है तभी मन को हठात् फुलाकर उसको भरने की प्रक्रिया है। भरा हुआ मनुष्य फलों से लदे वृक्ष जैसा नम्र होता है; बेचारे अध-भरे को ही छलकना पड़ता है।

□ □

कहानी क्या ?

—हम कहानी क्यों लिखते हैं ?

—वह तो एक भूख है जो निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं, चिन्ताएँ होती हैं और हमीं उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का, पाने का, सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग हमारे होते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं दे देती, पर यह अलंबता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है, और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस सूझ को ले लेते हैं।

—टेकनीक के विषय में आपका क्या खयाल है ?

—टेकनीक तो होती भी है और नहीं भी होती। वह तो अपने आप ही जन्म लेती है। उसके लिए कोई खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कहानी लेखक किसी घटना को, सत्य को या भाव को अनुभव करता है और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में पैठ जाता है। वस, इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने आप ही बढ़ती गई। जहाँ खतम होना है वहाँ खतम हो गई।...जहाँ उसे रोका टेकनीक बिगड़ गई।...उस समय तो हमें अपनी कलम का नेतृत्व एकदम मान लेना चाहिए। वह जहाँ ले जाय आँख मूँद

चल देना चाहिए। यदि हमारी अनुभूति सत्य है तो हम निस्संदेह सही रास्ते पर जायेंगे।

—पश्चिमी कहानियों के विषय में आपकी क्या सम्मति है ?

—रूसी कहानी में जोर है, भावना है, उत्सुकता है, जान है, Passion है और खूब है लेकिन व्यक्तीकरण की Felicity नहीं है, प्रमोद नहीं है, आनन्द नहीं है। रूसी कहानी में ध्येय भी होता है। लेकिन उसका तरीका मनोरम नहीं है। फ्रेंच कहानी में बात ठीक इससे उलटी है। वहाँ प्रकट करने का तरीका बहुत ही सुन्दर, सुहावना है; हम उसके साथ वह जाते हैं पर कहीं वह रहते हैं नहीं जानते, क्योंकि उनका कोई हेतु नहीं। वे न जाने क्यों लिखते हैं। बस लिखते हैं इसलिए लिखते हैं। रूसी कहानी की ताकत फ्रेंच कहानी में नहीं है। ...सब कुछ कह सुन लेने के बाद रूसी कहानी अपने ढंग की एक है, यह मानना ही होगा।

(श्री अनन्त गोपाल शेवडे की १७-७-३६ के साप्ताहिक अर्जुन में प्रकाशित 'जैनेन्द्र से भेंट' के कुछ अंश।)

□ □

विविध प्रश्नों का समाधान

—अच्छा क्या और बुरा क्या, इसका निर्णायक कौन है ? व्यक्ति या समाज ? और वह निर्णायक कोई भी हो, उसके अच्छे-बुरे की सीमाएँ (=Limits) कैसे निश्चित करें ?

—अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इसका निर्णायक व्यक्ति ही हो सकता है। क्योंकि प्रश्न यह व्यक्ति का है।

समाज के जब अच्छे-बुरे की शंका गहरी हो जाती है तब उथल-पुथल देखने में आती है जिसको राजनीतिक क्रान्ति कहा करते हैं। मामूली तौर पर वह शंका समाज-व्यापी नहीं होती, व्यक्ति-गत या कुछ व्यक्तियों के समूह तक परिमित होती है।

समाज ने अच्छे-बुरे की निर्धारित मर्यादा तात्कालिक और तद्देशीय आईन के दंड-विधान (=Penal Code) में देखी जा सकती हैं। दंड-विधान की धाराएँ उस अच्छे-बुरे की निषेधात्मक सीमा-रेखाएँ हैं। इसलिए अच्छा क्या और बुरा क्या, यह प्रश्न व्यक्ति ही उठाता है। वह उसमें उसके भीतर से पैदा होता है, अतः स्वयं ही उसे निर्णायक होना पड़ेगा।

जब यह व्यक्ति का प्रश्न है तो अर्थ हुआ कि मैं ही सिर्फ अपने अच्छे-बुरे को

१६८ :: जैनेन्द्र के विचार

जान सकता हूँ और कह सकता हूँ। तुम्हारे अच्छे-बुरे को जानने और कहने का दावा मैं नहीं कर सकता।

व्यक्ति अपना निर्णायक है—इसका मतलब ही यह होता है कि मैं या और कोई हरेक का निर्णायक न बने।

लेकिन इसके आगे एक बात न भूली जाय। वह यह कि यदि व्यक्ति अकेला हो तो उसमें कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। प्रश्न संभव ही तभी है जब वह निरा एक नहीं है, कइयों के बीच में एक है, यानी जन-समाज में है।

इसलिए व्यक्ति के अपने प्रश्न, उसके सब प्रश्न, समाज की अपेक्षा में सुलभेंगे और खुलेंगे। समाज कसौटी है जिस पर व्यक्ति के सब समाधानों की परख होगी।

इस भाँति, तुमने देखा न, कि 'अच्छा क्या और बुरा क्या' यह प्रश्न मुझसे टल गया है। टलकर वह सबके अपने अपने पास पहुँच गया है।

अब उसकी लिमिट। स्पष्ट है कि उसकी लिमिट अब भी खिंची खिचाई है। उसे खोजने कहीं भी जाना नहीं है। वह लिमिट हमारा पिनल कोड (दण्ड-विधान) है।

हम हत्या करेंगे तो जेल पायेंगे। चोरी करेंगे तो जेल तैयार है। इस मामले में प्रश्न यह होता ही नहीं कि किन भावनाओं से हम यह काम करते हैं। वे काम ही हमारे अच्छे-बुरे की हद पर बैठे लाल लाल सिग्नल हैं।

लेकिन मेरे अपने लिए तो भावना का ही पहला और आखिरी प्रश्न है। अर्थात्, व्यक्ति का दृष्टि-कोण आवश्यक रूप में इससे भिन्न होता है।

इस दृष्टि से व्यक्ति-कर्त्तव्य और समाज की पुण्य-परिभाषा में अक्सर संघर्ष और कभी विरोध भी हो जाता है।

इस संघर्ष की चरमावस्था का दृष्टान्त है—शहीद। शहीद अनिवार्यतया पवित्र व्यक्ति होता है। लेकिन तात्कालिक समाज की दृष्टि से वह असामाजिक व्यक्ति भी होता है। समाज उसे दंड देकर उससे छुटकारा पाता है। पर हठात् वही व्यक्ति लोगों के जी में बस जाता है और अवतार तक माना जा सकता है।

इसलिए लिमिट की बात करोगे तो पिनल कोड की धारा-सीमाओं से अलग मैं और कोई लिमिट की बात नहीं कर सकता।

पर वे लिमिट्स या सीमाएँ अंतिम नहीं हैं। अवतार और शहीद अपने जीवन द्वारा ज्वलंत रूप में इसी को प्रमाणित करने आते, और उन सीमाओं को और भी आगे किस दिशा में बढ़ना चाहिए, यह दिखाकर चले जाते हैं।

—सुख-दुख क्या है? क्या सिर्फ कल्पना, यानी अपनी मानी हुई चीज? या इससे अधिक भी वे कुछ हैं? नापसन्द को आदमी पसंद में किस प्रकार परिवर्तित करे? पाया गया है कि हरेक श्रेय प्रेय नहीं होता। इसी से इस तरह के श्रेय को पसन्द (प्रेय) बनाना क्या जरूरी है?

—सुख-दुख को सिर्फ कल्पना नहीं कहा जा सकता। कल्पनाएँ जहाँ से उपजती-

उगती हैं, सुख-दुख उन जड़ों को ही भिगो देते हैं। सिर्फ कल्पनाओं के बल पर सुख या दुख से बचना नहीं होता। और उनसे बचना सिद्धि भी तो नहीं है। असल सिद्धि तो उन पर काबू पाना है, उन्हें पचा जाना है।

इसलिए मैं तुम्हें कहूँ कि सुख-दुख से सच्ची छुट्टी तो कविता लिखकर, चित्र खींचकर या कुछ गाकर भी नहीं मिलती। थोड़े-बहुत अंशों में ये सब कला-व्यापार उनसे बचने की प्रक्रियाएँ हैं, उन पर काबू पाने के सच्चे उपाय नहीं हैं।

हरेक श्रेय प्रेय तो है ही, फिर भी यदि प्रेय नहीं मालूम होता तो समझना चाहिए कि हमारी प्रीति हमारे बस में नहीं है। कला को यही राह है। वह प्रेय की राह से श्रेय को अपनाती है। मैं तो मानता हूँ कि श्रेय को प्रेय रूप में भी पाना जरूरी है। ऐसा नहीं होगा तो हमें नीरस कायिक तपस्या के सिद्धान्त तक पहुँचना पड़ेगा। और वह सिद्धान्त तो मुक्ति-कारक नहीं ही है, प्रत्युत अनर्थ-कारक हो सकता है।

प्रश्न में यह भी है कि नापसंद को पसंद में किस तरह परिवर्तित करें। किन्तु यह तो प्रश्न में ही गंभीत है कि वह नापसंद हमें पूरी आत्मा से नापसंद नहीं है, नहीं तो उसे पसंद में परिवर्तित करने का सवाल ही कहाँ से उठता? इसलिए मैं कह सकता हूँ कि इस भाँति जो आंशिक रूप में नापसंद है वह इस योग्य ही नहीं है कि उसे नापसंद किया भी जाय। अर्थात् हम उसको समझेंगे तो नापसंद करना छोड़ देंगे।

लेकिन प्रश्न में ध्वनि ऐसी मिलती है कि साहब, नीम के पत्ते हमारे लिए बड़े हितकारी हैं पर लगते कड़ुए हैं। इच्छा तो हमारी है कि वे पसंद आने लगें; पर मुँह में चलते ही नहीं, वेहद बुरे मालूम होते हैं। अब बताइए, क्या करें।

इसके जवाब में मैं कहूँगा कि उनके स्वाद में बुरे लगने की परवाह न करो। बहुत कड़ुवा मुँह हो जाय, तो पीछे से मिसरी खा लेना। अगर तुम्हारे मन में पक्का हो गया है कि नीम के पत्ते तुम्हें फायदा ही करेंगे, तो उन्हें छोड़ने की बात मुझसे आप सुनोगे भी नहीं। तब यह भी निश्चय है कि एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा कि उनकी कड़ुवाहट तुम्हें बिल्कुल नहीं सतायेगी। अर्थात् श्रेय, यदि पूरे मन से उसमें श्रेय-ता दीखती है तो, एक दिन प्रेय होकर ही रहेगा। इस प्रतीति में बीच की बाधाओं को धैर्य के साथ लाँघते चलना होगा।

—देश और काल के अनुबंध ही क्या संस्कृति कहलाते हैं? क्या आदमी इससे उबर सकता है? इससे ऊपर भी क्या उसकी सत्ता है? है तो वह कहाँ है?

—यहाँ अनुबंध शब्द के भाव को मैं ठीक तरह ग्रहण नहीं कर सका। देश और काल में व्यक्ति व्यक्त अवश्य है, लेकिन यह समझना भूल है कि वह उनसे परिवद्ध है। चित्र चौखटे में जड़ा होता है, लेकिन वह क्या चौखटे से घिरा हुआ है? क्या वह वहाँ बंद है? ऐसा कहना तो चित्र की सच्चाई का अपमान करना है और चौखटे की लकड़ी को सब कुछ मान लेना है। चित्र के लिए चौखटा है, उसके बीच में यदि चित्र न हो, तो चौखटा चूल्हे के काम भी आ सकता है और यह तो स्पष्ट है ही कि चौखटे के बिना भी

१७० :: जैनेन्द्र के विचार

चित्र का जीवन खतरे से खाली नहीं है।

आशय यह कि मिनट-मिनट द्वारा बीतने वाला काल और इंच-इंच द्वारा नपने वाला देश हमारी चेतना और स्थिति की परिभाषा हैं, परिमाण नहीं। यों तो दरअसल हम शाश्वत में ही साँस लेते हैं और समग्र का ही स्पर्श पाते हैं।

आदमी देश और काल में जीता है—इसका असली अर्थ यह है कि वह देश और काल द्वारा अपने अन्तस्थ आनंद का उपभोग करता हुआ उत्तरोत्तर शाश्वत की ओर बढ़ता है।

—Behaviour (= व्यवहार या आचरण) से आदमी के निर्णय करने का जो तरीका मनोवैज्ञानिकों ने खोजा है, वह क्या Hasty (= जल्दबाजी का) नहीं है? एक ओर से यों भी कहा जा सकता है कि आदमी सिरुं बिहेवियर ही तो पकड़ पाता है और वह क्या जाने? क्या यह बात मानी जाय?

—बिहेवियर से निर्णय करने के मनोविज्ञान-शास्त्रियों के तरीके को जल्दबाजी का तो मैं नहीं कहूँगा। शायद वह धीमा है। बेशक वह अपूर्ण है। लेकिन तरीके के दृष्टि-कोण से दूसरा और तरीका शास्त्रीय ढंग से संभव भी कहाँ हो सकता है? सब तरीकों को आब्जेक्टिव (= पर-निष्ठ) दृष्टि-कोण से चलना होगा। ऐसे न चलेंगे तो System (= तरीका) भी वे न बन पायेंगे। जिसको प्रतिभा कहा जाता है, उसी को सर्व-सुलभ शास्त्र का रूप देना है कि नहीं? इसी पद्धति में अनुभूति-मय ज्ञान को पदार्थ-मय विज्ञान बनना पड़ता है। इसमें वस्तु की वास्तव सच्चाई कुछ कम अवश्य होती है, लेकिन उपाय भी और कुछ नहीं है। बिहेवियर की राह से पकड़ते-पकड़ते भी आदमी को नहीं पकड़ा जा सकेगा—यही तुम कहते हो न? मैं माने लेता हूँ। लेकिन, ऐसा कौन-सा उपाय है जिससे भीतर का असली आदमी पूरी तरह पकड़ा जा सके? मैं मानता हूँ वैसा कोई शास्त्रीय उपाय न है, न था, न होगा।

हाँ एक अमोघ उपाय है और वह सर्व-सुलभ है। उसका नाम है, प्रेम। लेकिन प्रेम शास्त्रीय कहाँ है?

अतः वैज्ञानिक तरीकों की अपूर्णता को जानकर भी उन तरीकों के प्रयोग और उपयोग से अपने को वंचित नहीं करना चाहिए।

—क्या प्रेम घृणा के बिना संपूर्ण नहीं है? हरेक प्रेम के साथ जो घृणा लगी रहती है वह क्या अवश्यंभावी है? मानवी प्रेम की चरम सीमा क्या होगी? तब क्या वह और देहिक वृत्तियों से छूट सकेगा?

—मानव-प्रेम के साथ जो घृणा चलती है वह एक प्रकार से वृत्त को पूरा करने के लिए है। बिना Circuit (= वृत्त) पूरा हुए बिजली कहाँ चलती है। हाँ, व्यक्ति को साधारणतया जो प्रेम प्राप्त है उसके साथ अप्रेम अवश्यंभावी है। इस बात को हम अपने सामाजिक नातों में अत्यन्त स्पष्टता से चीन्ह सकते हैं। मेरा पुत्र कहकर मैं आवश्यक रूप में शेष और पुत्रों को अनजाने भी अपने से पराया बना देता हूँ। अपने पुत्र के प्रति

राग की अतिशयता शेष पुत्रों के प्रति द्वेष-रूप हो जाती है। राग-द्वेष यह अभिन्न जोड़ी है—जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी है। इसलिए वह प्रेम जिसे भरने के लिए घृणा आवश्यक है, कहना होता है कि शुद्ध प्रेम नहीं। शुद्ध प्रेम वह है जिसे अपने से अतिरिक्त किसी और अवलंबन की आवश्यकता न हो। किंतु मानव-प्रेम शत-प्रतिशत वैसा शुद्ध हो नहीं सकता। वैसा शुद्ध प्रेम सत्य की भाँति आदर्श है, अतः अप्राप्य है; किंतु आदर्श है, इस लिए हमें उसी को सामने रखना है। जिसमें मोह जितना ही कम है, घृणा-वासना जितनी ही कम है, वह उतना ही श्रेष्ठतर प्रेम है। श्रेष्ठतर कहने में यह आ ही जाता है कि वह अधिक व्यापक है।

संकीर्ण संकुचित प्रेम एक हृद से नीचे जाकर पार्श्विक और घृण्य हो जाता है। वही उत्तरोत्तर व्यापक होकर दैवी कहलाता है।

प्रेम की चरम-सीमा वहाँ है जहाँ व्यक्ति तन्मय हो जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति प्रेम करता नहीं है, स्वयं भ्रम होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य में प्रेम नहीं होता, प्रेम में मनुष्य होता है। निस्सन्देह तब वह प्रेम और दैहिक वृत्तियों से छूट जाता है—दैहिक वृत्तियाँ प्रेम को स्थूल-रूप देकर एक प्रकार से परिमाण में बाँधती हैं। पर प्रेम वास्तव में मुक्त है, निर्बंध है।

स्पष्ट है कि ऐसा प्रेम दो मानवों के बीच का पारस्परिक प्रेम नहीं हो सकता ? यह तो ब्रह्म-प्रेम सत्य-प्रेम ही हो सकता है।

—शान्ति-प्रस्थापन (व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी में) कैसे संभव है ? क्या कलह-वृत्ति का नाश भी मानव में से कभी हो सकता है ? यदि नहीं तो क्यों न कहा जाय कि शान्ति प्रस्थापन की सब बातें बातें हैं, व्यर्थ हैं, लभ्य इनसे कुछ न होगा ?

—पहली बात तो यह है कि मैं मानता हूँ, शान्ति-प्रस्थापन संभव है। संभव ही नहीं, अनिवार्य है। उसको लक्ष्य की भाँति आगे रखकर ही जीने में कुछ अर्थ है, नहीं तो जीवन व्यर्थ है।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे संभव है, यह प्रश्न बहुत बड़ा है। अगर आज ही यह सुलझ जाय तो मैं या आप जिंदगी के बाकी दिन किस बात को लेकर गुजारें ? इसलिए इस प्रश्न को तो फार्मूले से नहीं, जीवन के जोर से सुलझाना होगा।

वह शान्ति-प्रस्थापन कैसे संभव है, इसके लिए एक गुरुमंत्र हाथ लगा है। वह मंत्र यह है कि शान्ति की प्रस्थापना मैं अपने भीतर से आरंभ कर दूँ। (Let every one begin with himself.) अपनी वृत्तियों में सामंजस्य, ऐक्य का प्रस्थापन मैं कर सकता हूँ और मुझे करना चाहिए। समाज, राष्ट्र और विश्व सभी के शान्ति-प्रस्थापन में एक का यही सबसे बड़ा योग-दान हो सकता है।

कलह-वृत्ति का नाश मानव में से संपूर्णतया हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है। यह विश्वास का ही प्रश्न है। मानव को पशु-तुल्य देखकर भी यह विश्वास अडिग बना हुआ है। क्योंकि मानव पशु-तुल्य ही हो सकता है, पशु नहीं हो सकता। इस पशु-तुल्य

१७२ :: जैनेन्द्र के विचार

और पशुता के बीच के बाल-बराबर अंतर में ही मेरा वह विश्वास जड़ बाँधे बैठा है।

जब मैं कलह-वृत्ति का समूल नाश संभव मानता हूँ तब हाँ, एक चीज का नाश नहीं है। वह चीज है युद्ध। युद्ध को असंभव बना दें, तो जीवन भी असंभव ठहरता है। हम सांस लेते हैं, तो इसमें भी संघर्ष, इसमें भी हिंसा है। लेकिन इससे पहली बात खंडित नहीं होती। वह इसलिए कि जीवन अलबत्तह युद्ध-क्षेत्र है। लेकिन समूचे युद्ध-क्षेत्र को धर्म-क्षेत्र बनाया जा सकता है। मनुष्यता का त्राण इसी में है। अर्थात् युद्ध किया जाय किन्तु धर्म-भाव से।

कर्म के क्षेत्र में कलह-हीन वृत्ति असंभव नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ। और चूँकि ऐसा मैं मानता हूँ इससे शान्ति-प्रस्थापन के सतत प्रयत्नों की अचूक निष्फलता से भी मुझे निराश नहीं हो जाना होगा।

—यह तो माना कि काम और अर्थ (=Sex and Money) को ग्राज के जमाने ने जरूरत से ज्यादा महत्त्व दिया है; पर क्या आप कोई व्यावहारिक (=Practical) तरीके सुझा सकते हैं जिनसे उनका महत्त्व घट सके?

—जिसको पूरे अर्थों में व्यावहारिक (=Practical) कहें शायद ऐसा कोई तरीका इस वक्त में नहीं सुझा सकता। प्रैक्टिकल शब्द में ध्वनि आती है कि उपाय संगठित हो, सांघिक हो। उस प्रकार के संघ या संगठन की योजना पेश करने के लिए मेरे पास नहीं है। इस प्रकार का संकल्प (Will) उत्पन्न हो जाय तो उस आधार पर संगठन भी अवश्य हो चलेगा। मेरा काम इस संकल्प को जगाने में सहायक होने का ही है। संकल्प जगा कि मार्ग भी मिला रखता है। The Will Shall have its way.

जैसे पहले कहा, यहाँ भी अमोघ उपाय यह है कि व्यक्ति अपने से आरंभ करे। मैं मानता हूँ कि अब भी मानवीय व्यापारों को हम मूलतः देखें तो उनका आधार काम और अर्थ में नहीं, किसी और ही अन्तस्थ वृत्ति में मिलेगा। उदाहरणार्थ परिवार को ही देखिए। परिवार समाज की इकाई है, शासन-विधान (=State) की मूल पीठिका है। परिवार में सब लोग क्या काम और अर्थ के प्रयोजन को लेकर परस्पर इकट्ठे मिले रहते हैं? माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहन आदि नातों के बीच में इस कामार्थ-रूप प्रयोजन को मुख्य वस्तु मानना परिवार की पवित्रता को खींचकर नरक में ला पटकने के समान होगा। मैं कहता हूँ कि वह कामार्थी प्रयोजन का नाता दो को एक नहीं कर सकता। अधिक से अधिक वह दो को समझौते के भाव से कुछ समय तक पास-पास रख सकता है। किंतु आपस में ऐक्य साधे बिना जगत का त्राण नहीं। इससे कामार्थमयी इच्छाओं से ऊँचे उठे बिना काम न चलेगा।

अतः उपाय यह बना कि हम व्यक्तिशः अपने वैयक्तिक जीवन में इस प्रकार की संकीर्ण वृत्तियों को लेकर आगे न बढ़ें। इन वृत्तियों का सहसा लोप-तो न होगा; लेकिन इतना हो सकता है कि उन वृत्तियों को लेकर हम सार्वजनिक विक्षोभ पैदा न करें। अर्थात्, जब हम क्रोध लोभ के वशीभूत हों, तो मानों अपने भीतर सकुचकर अपने कमरे

में अपने को मूंद लें। अपने से बाहर जब हम आवें तब प्रेम-पूर्वक ही वर्तन करें।

दूसरे शब्दों में इसका यह अर्थ होता है कि यों तो हम पूरी तरह निःस्वार्थ नहीं हो सकते, पर स्वार्थ को लेकर हम सीमित रहें और सेवा-भावना को लेकर समाज में और सार्वजनिक जीवन में आवें। अपरिग्रह, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, ये तीन व्रत हमें इस सिद्धान्त-रक्षा में मदद देंगे।

—परमात्मा क्या है ? क्या वह निरी कल्पना का, बुद्धि का, हृदयक स्वनिर्मित विकार नहीं है ? भय की भावनाओं पर समस्त धर्मों का प्रारंभ हुआ, यह बात यदि सच है तो अब सुबुद्ध मानव को पुनः उसी भयार्त आदिम ज्ञान-हीन जन्तु की ओर मुड़ने और वैसे ही बनने का क्या यह परमात्म-पूजा-भाव नहीं है ?

—परमात्मा क्या है—यह पूछते हो ? तो सुनो—जो है, परमात्म है। मैं हूँ ? तुम हो ?—तो हम दोनों जिसमें है वह परमात्मा है। हम दोनों जिसमें होकर दो नहीं हैं, एक हैं, वह परमात्मा है :

नहीं, परमात्मा विकार नहीं है। उसको छोड़ने से, हाँ, शेष सब कुछ विकार हो जाता है।

विकार इसलिए भी नहीं है कि हमारी सारी कल्पना, हमारी सारी बुद्धि, हमारे सारे हृदय की शक्ति द्वारा भी वह निर्मित नहीं हुआ। हम उसका निर्माण नहीं कर सकते। कल्पना, बुद्धि, हृदय द्वारा हम उसको ग्रहण ही कर सकते हैं। उसकी प्रतीति को हम बनाते नहीं हैं, वह प्रतीति तो हमारे मन-बुद्धि पर हठात् छा जाती है।

जो हमारे द्वारा निर्मित है वह बेशक हमसे दूसरे के लिए और हमारे काल से दूसरे काल के लिए विकार हो जाता है।

लेकिन ध्यान रहे कि मनुष्यों अथवा जातियों द्वारा उनकी पूजा-भक्ति अथवा, भय-विश्वास के संस्कारों द्वारा, जो रूपगुणात्मक मूर्ति तैयार होती है, वह देवी-देवताओं की मूर्ति होती है। वे देवी-देवता बनते हैं इसलिए बिगड़ते भी हैं। परमात्मा इन सबमें होकर भी इन सबसे अतीत है।

परमात्मा वह महा तत्त्व है जिसमें सब एक हैं। उसमें, उसके द्वारा, उसी के हेतु से हम अपने देवी देवताओं अथवा मत-मतानुसरों का निर्माण करते हैं।

हमारी ऐसी निर्मित मूर्तियों में, मत-धारणाओं में जब तक और जहाँ तक परमात्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा है, वहीं तक वे सत्त्व है, अन्यथा वे निस्सत्त्व पाखंड हो जाती हैं।

भय की भावनाओं पर धर्मों का प्रारंभ हुआ, यह बात झूठ नहीं है।

लेकिन इसका मतलब यह क्यों न समझो कि भय की भावनाओं को लेकर ही निर्भयता संपादन करने का संकल्प आदिम मनुष्यों में जागा ?

भय उनके मूल में हो लेकिन निर्भयता की वृत्ति उन धर्मों के कलेवर को धामे हुए है। उनकी सहायता से यदि मनुष्य निर्भयता की ओर, ज्योति की ओर, वसन्त्यता

की ओर बढ़े तो क्या यह उपादेय नहीं है ?

उस प्रकार के भय को मैं जीवन के लिए अत्यंत मंगलमय तत्त्व मानता हूँ। सच्चा ज्ञान उस भय के मूलाधार को और गहरा ही ले जाता है, उसे भेट नहीं सकता। जो मानव-व्यक्ति के चित्त में की इस बहुमूल्य ईश-कातरता पर धूल डालने की कोशिश करता है, वह ज्ञान ज्ञान नहीं है, वह नशा है, वह अहंकार है। अपने भीतर के छद्म-ज्ञान का वह गवं है।

ज्ञान-हीन और भयार्त बनने या बनाने की प्रक्रिया में ही परमात्म-पूजा-भाव आता है, यह समझना भारी भूल है।

जब तक बुद्धि है तब तक व्यष्टि में समष्टि के प्रति, Microcosm (=अणु) में Macrocosm (=अखिल) के प्रति एक दुर्निवार्य आकर्षण, एक तनाव, एक असह्य विछोह का भाव वर्तमान ही रहेगा।

वह विज्ञान वेचारा है जो इस एक परम सत्यभाव को स्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान वही असली है जो इस परम गंभीर अनुभूति को गहरा ले जाता है। महान् वैज्ञानिकों को देखो, यही प्रमाणित पाओगे।

जब मानव अनंत विश्व के समक्ष आमने सामने होता है तब उसमें जो उदय होता है—उस भाव को क्या कहोगे ? विश्व के प्रति व्यक्ति की इस दुरधिगम्य भावना को क्या कहोगे ?

मैं उसको धर्म कहता हूँ।

उस धर्म-भावना का खिचाव जिसकी ओर है, उसको मैं परमात्मा कहता हूँ। उसमें भय आता है अवश्य; लेकिन उस भय को मैं शुभ कहता हूँ।

—आत्म-हत्या में बुराई ही क्या है ? जब मैं सोचता हूँ कि मेरे जीने से न मेरा ही भला है न औरों का ही हो सकता है तब, गांधीजी के बछड़े मार देने के समान, मैं अपने देह को खत्म कर डालूँ तो इसमें हिंसा का पाप तो है ही नहीं उल्टे सिद्धि ही अधिक है।

—प्रश्न की भाषा से प्रकट होता है कि आप विश्वस्त हैं कि 'उसमें हिंसा का पाप तो है ही नहीं, उल्टे सिद्धि ही अधिक है।'।

मैं अपनी ओर से विश्वस्त हूँ कि उसमें सिद्धि तो है ही नहीं, उल्टे हिंसा का पाप अवश्य है।

यह इसलिए कि ऐसे सुविचारित आत्म-घात में यह गर्भित है कि अपना मालिक मैं हूँ। जीऊँ चाहे मरूँ। मैं अपने को मार भी सकता हूँ।

पर यह गलत है। अपना सिरजनहार मैं नहीं हूँ। इसलिए अपने को मारने का भी दम मैं नहीं भर सकता।

'मेरे जीने से न मेरा ही भला है और न औरों का ही हो सकता है' यह सोचने वाला व्यक्ति अपने को निराशा के नशे की चुस्की दे रहा होता है। यह विचार एक

प्रकार का विष-सेवन है, विषय-सेवन भी है। निराशा का जन्म प्रच्छन्न अहंकार में से होता है। 'मैं जगत् का उपकार कर रहा हूँ,' यह सोचना जितना गलत है उतना ही गलत ऊपर के प्रकार का विचार भी है। दोनों के भीतर प्रमाद है, अहं-भाव है।

गांधी जी के बछड़े मारने की बात तो गांधी जी की है। पूरा समाधान तो इसका वही करेगा और उन्होंने किया भी है। लेकिन उन्होंने बछड़े को इसलिए नहीं मारा कि उसका किसी प्रकार भी उपयोगी होना असंभव हो गया था। बछड़े को मारने का समर्थन उन्हें अपने भीतर से इस विचार में से मिला कि मरना तो उसका अवश्यंभावी है। वह अब-मरा अब-मरा तो हो ही रहा है, स्वयं मारकर उसे एक अपार कष्ट से मुक्ति अवश्य दी जा सकती है। अर्थात् गांधी जी का हेतु उपयोगिता-अनुपयोगिता का विचार न था वरन् उसका वास्तव हेतु प्रेम-भाव ही था।

जहाँ प्रमाद है, अहंकार है, वहाँ पाप है। अपघात में, विशेष कर प्रस्तुत प्रश्न में दिखाये गये उदाहरण में, विचार का प्रमाद दीखता है। इसलिए उस में हिंसा है, ऐसा मैं मानता हूँ।

सिद्धि की बात मेरी समझ में नहीं आती। इस अनादि काल से चले आते हुए अनंत विश्व में एक व्यक्ति कितनी घड़ी पहले मर गया—यह अपने आप में उस विश्व के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रश्न मुझे बिल्कुल नहीं मालूम होता। इस भाँति अपने को अनुपयोगी समझनेवाला एक व्यक्ति अपने को मारकर सृष्टि में सचमुच किसी उपयोग की, किसी लाभ की सिद्धि दे जाता है, ऐसा मैं नहीं सोच सकता। दरअसल उस निगाह से प्रश्न पर विचार करना मेरे लिए अशक्य है।

□ □

सत्य

—सत्य क्या है और उसका धर्म क्या ?

—सत्य सत् का भाव है। अर्थात् वह स्वयं में धर्म है। यों कहा जा सकता है कि जो है, जो भी सत् है, उसका धर्म सत्य है।

इस भाँति सत्य का धर्म क्या है, यह पद निरर्थक बनता है।

पर शायद प्रश्न का आशय हो कि उस सत्य का स्वरूप क्या है, स्थिति क्या है, कार्य क्या है ?

तो इस अर्थ में मैं कहूँगा कि सत्य सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह (सत्) है, वह जीता (चित्) है, वह सदा सदा ही रहनेवाला है (आनन्द) है।

१७६ :: जैनेन्द्र के विचार

ऐसा जो सत्य उसे ईश्वर भी कहो।

—सत्य का व्यक्त-रूप (=Manifestation) ही संसार है। किन्तु सत्य स्वयं में पूर्ण और निरपेक्ष है और संसार ऐसा नहीं है। यह कैसे ?

—सत्य संपूर्ण है। हमारा ज्ञात और ज्ञेय और अज्ञात और अज्ञेय सब उसमें समा रहा है।

जो उसका ज्ञात और ज्ञेय रूप है, संसार हम उतने ही को कहते हैं। वह अपूर्ण है, क्योंकि उसमें अज्ञात और अज्ञेय समा नहीं सकता।

अज्ञेय और ज्ञात में कोई विरोध नहीं है। दोनों एक हैं। अज्ञेय यदि पीछे नहीं है, तो ज्ञात झूठा हो जाता है और अगर ज्ञात होकर कोई भी उसका पक्ष सामने नहीं है तो ऐसा अज्ञेय भी निरर्थक हो जाता है।

एक समूचे सत्य तत्त्व का ज्ञात किनारा संसार है। अपूर्ण तो वह भी नहीं है, क्योंकि जिसको वह सूचित कर रहा है वह संपूर्ण है। वह तो एक सामना (=Front) भर है। पर उस सम्मुख पर ही ध्यान रखें तो उसे अपूर्ण हो जाना ही चाहिए। ऐसे वह संसार अपूर्ण है ही। एक प्रकार से यह अपूर्णता उसकी विशेषता है और सत्य की संपूर्णता में वह बाधा तो किसी प्रकार है ही नहीं। वह तो बल्कि उसी संपूर्णता को और भी सिद्ध और अनिवार्य बनाती है।

—सत्य विशुद्ध और एक तत्त्व है किन्तु फिर भी संसार में गुण-रूप का भेद-विभेद क्यों देखने में आता है ?

—मैं एक हूँ पर जो मेरी आँख है, वह नाक नहीं है। आँख और नाक दो हैं। फिर भी मैं तो एक ही हूँ। इसी प्रकार संसार की विविधता को सत्य की एकता का साधक समझा जा सकता है। अपने अंग-प्रत्यंगों की अनेकता और अनेक-रूपता में जैसे मेरी एक ही आत्मा व्यापक है और जैसे मेरे अस्तित्व और व्यक्तित्व की एकता के लिए मेरा अंग-प्रत्यंगैवान् होना आवश्यक है उसी भाँति सत्य और संसार को समझो।

—आत्मा का परमात्मा के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए ?

—आत्मा अपने स्वभाव में परमात्मा का तादात्म्य अनुभव करे, यही उसका इष्ट है। इसके अतिरिक्त किन्हीं और शब्दों में इस स्थान पर उस आत्म-धर्म को कहना ठीक नहीं है।

—संकल्प, चितन और अनुभूति, आत्मा के तीन कार्य हैं। क्या विशुद्ध सत्य की प्रबन्धना में भी तीनों कार्य मौजूद रहते हैं ? यदि नहीं तो उनका विकास कैसे होता है और सृष्टि के विकास के साथ उनका क्या संबंध है ?

—व्यक्ति में आपके कहे मुताबिक जो त्रिविधता है, वह ऊपर जाकर नहीं रहती। संकल्प, चितन और अनुभूति ये क्रियाएँ सत्य में असंभव हैं।

मानव में इसी लिए सम्भव हैं और उपयोगी हैं कि उसमें अभी सत्य से अन्तर है।

कैसे इन शक्तियों का विकास हुआ, इसका मूल हेतु तो यह है कि व्यष्टि को

समष्टि के साथ एकाकारता खोजनी है। उसी विस्तार के आयास में ये शक्तियाँ और क्रियाएँ व्यक्ति में प्रादुर्भूत होती हैं।

सृष्टि के विकास के साथ उनका बहुत घना सम्बन्ध है और वह इसलिए कि असल में सृष्टि का विकास उत्तरोत्तर उन्नत कोटि के मानव बनाने में फलित होता है। जैसे अच्छा फल अच्छे वृक्ष की सफलता है, वैसे ही विस्तृत चेतना प्राप्त मानव उत्पन्न करना सृष्टि की सफलता है। ये तीनों क्रियाएँ उसके उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करती हैं।

—संकल्प, चिंतन और अनुभूति के उत्तरोत्तर विकास में क्या कोई क्रम है ?

—विकास में जो क्रम मैं देख पाता हूँ उसमें, ये शब्द तीन होकर कुछ विशेष सहायता नहीं पहुँचाते। असल में हिन्दी में इन तीन शब्दों का कोई मान अभी ठीक-ठीक निश्चित नहीं है। आम भाषा में तीनों बहुत पास पास के अर्थ के बोधक होते हैं। वैज्ञानिक भाषा में अभी इन शब्दों का ठीक वजन बनने में नहीं आया है। इससे आपके मतलब लायक जवाब मैं क्या दूँ ?

—संकल्प, चिंतन और अनुभूति से मेरा अभिप्राय आप Willing, Thinking और Feeling से समझिए।

—मैं समझा। लेकिन यह प्रश्न शास्त्रीय अधिक हुआ। क्या वह आपके मन का है ? वह प्रश्न इस जगह विशेष स्पष्टता या सहायता देने में काम नहीं आ सकता।

Feeling प्राथमिक भाव है। वह बचाया नहीं जा सकता। उसमें जब कुछ विचार भी आ मिलता है, तो उस भाव में संकल्प की दृढ़ता मालूम होती है। जब उसमें विचार का प्राधान्य होता जाता है, और भावना गौण पड़ती जाती है, तब उसको Thinking कह दीजिए। ये एक ही प्रवाहित भाव की तीन श्रेणियाँ हैं। Feeling बिल्कुल जरूरी है और अनिवार्य है। सच्चा Willing Feeling की जमीन पर ही हो सकता है। और Thinking भी तभी सतेज और सवेग होगा जब वह परिपूर्णता में से जागता है। अभाव-मय प्रतिक्रिया में से नहीं। संकल्प-हीन भावना-हीन विचार प्रमाद पैदा करता है। विचार-हीन भावना अविवेक को जन्म दे सकती है।

पर असल बात न भूलें। गंगा ज्यों ज्यों बढ़ती है त्यों त्यों अलग नामों से भी चीन्ही जा सकती है। हरिद्वार में वह त्रिवेणी नहीं है, प्रयाग में त्रिवेणी है और कल्कत्ता में हुगली। इसी प्रकार इन तीन शब्दों के सहारों से जिस वास्तव और प्रवहमान और विकासशील तत्त्व को समझना है, उसे आँखों से ओझल हम न होने दें। वही असल है।

प्रश्न के अधिक शास्त्रीय होने में यह खतरा है। उससे जो साधन है वह साध्य मालूम होने लगता है। साधन के बारे में भी साध्य से कम सावधान नहीं रहना होगा। पर साधन को समझने में हमारे हाथ में जो साधन है, उसे ही साधन के लिए शास्त्र

१७८ :: जैनेन्द्र के विचार

नहीं, प्रत्युत शास्त्र के लिए जीवन का उपयोग होने लगेगा और यह अनर्थकारी होगा।

२४-७-३७

□ □

सच्ची कमाई

—सच्ची कमाई क्या है ?

—यों तो कहा जा सकता है कि सच्चाई को पाना सच्ची कमाई करना है। लेकिन यह कहना आपके प्रश्न के अभिप्राय को लॉघ जाना होगा।

पूछने का मतलब शायद यह है कि हम जिन भिन्न-भिन्न उपायों से जीविका-निमित्त अर्थोपार्जन करते हैं, उनमें कौन सच्चा नहीं है। और उनमें अच्छे-बुरे अथवा कम अधिक अच्छे की कैसे पहचान की जाय।

इसमें पहले ही ध्यान में रखने की बात यह है कि सब कर्म एक-समान हैं। न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा है। न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। यह बात सच्चाई की दृष्टि से कही है, हल्के-भारी होने की दृष्टि से नहीं। काम करने वाले के लिहाज से यों आसान मुश्किल होते ही हैं। स्टेड्समेन के लिए मोरी साफ करना मुश्किल है, तो सफाई करने-वाले के लिए धारा-सभा का काम कठिन है। पर सच्चाई की दृष्टि से दोनों काम एक तल पर हैं।

अब जिस कर्म में जितनी भक्ति और प्रीति की भावना अधिक है, वह उतना ही सच्चा कर्म ठहरता है।

कमाई की सच्चाई भी यही माननी चाहिए। जिसके भीतर जितनी सेवा-भावना है, प्रीति है, भक्ति है, वह कमाई सच्ची है। जिसमें नहीं है, वह सच्ची नहीं है।

२४-७-३७

□ □

राष्ट्र-भाषा

—भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी ही क्यों हो ?

—और कौन-सी भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है ? हिन्दी के साथ प्रान्तीयता सबसे कम है। उसे हम किस विशेष प्रान्त की भाषा कहें ? यों तो वह किसी प्रान्त

अथवा प्रान्त-खण्ड की ठेठ भाषा नहीं है। साहित्य में जिसे खड़ी बोली कहते हैं, वह एक दृष्टि से किसी की भी घरेलू भाषा नहीं है। सब जगह कुछ हेर-फेर के साथ वह बोली जाती है। ब्रज में वह ब्रज है, अवध में अवधी, मिथिला में मैथिल। इसी भाँति और भी उस बोल-चाल की भाषा के रूप हैं। पंजाबी को भी हम एक तरह की हिन्दी क्यों न कहें? मारवाड़ी तो हिन्दी है ही। इस भाँति हिन्दी तनिक प्रादेशिक संशोधन के अवकाश के साथ अब भी भारत के वृहत भू-भाग की भाषा है। उर्दू और हिन्दी में तो फर्क ही क्यों किया जाय? मुसलमान लोग भारतवर्ष-भर में फैले हैं, सब कहीं वे उर्दू समझते और बोलते हैं। उनके कारण और सब जगह घूमते हुए साधु-सन्तों के कारण, हिन्दी का अजनबीपन सब प्रान्तों से मिट-सा चुका है। अब भी हिन्दुस्तान में कहीं जाइए, हिन्दी से आपका काम निकल ही जायगा। फिर नाम भी तो उसका 'हिन्दी' है अर्थात्, हिन्द-देश की, सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की। हिन्दी न कहना हो तो उसे हिन्दुस्तानी कह लीजिए। बात वही है। ऐसी अवस्था में हिन्दी हिन्द की राष्ट्र-भाषा हो, यह परिस्थितिक अनिवार्यता ही समझनी चाहिए। इसमें किसी प्रकार का भारत के प्राकृतिक विकास पर आरोप नहीं सम्भन्ता चाहिए। भारत के राष्ट्र का ऐक्य तो सम्पन्न होना ही है। तब वह किसके माध्यम से हो, इसे किसी बाहरी तर्क से निर्णय करके देखने की जरूरत ही नहीं रहती। परिस्थिति का तर्क ही बड़ा तर्क है। और हिन्दी राष्ट्र-भाषा उतनी बनाई नहीं जा रही है, जितनी कि वह बनी ही जा रही है। तब हम इस इष्ट साधन में मददगार ही हो सकते हैं।

—क्या यह सच है कि हिन्दी के प्रचार से साम्प्रदायिक द्वेष-भाव बढ़ेगा?

—नहीं, सच नहीं है। अगर हिन्दी शब्द से उर्दू के पार्थक्य की गन्ध किसी को हठात् आती ही हो तो उसको संशोधन कर हम हिन्दुस्तानी कह सकते हैं। जो भाषा आम तौर पर बोली जाती है उसे 'हिन्दी' कह लीजिए, चाहे तो 'उर्दू' कह लीजिए। वह भाषा खास तौर से फारसी से ही लगाव रखे, अथवा संस्कृत के प्रति ही ऋणी हो, यह जरूरी नहीं है। फारसी और संस्कृत दोनों का मोह छोड़ा जा सकता है। वह मोह छोड़ देना ही चाहिए। फिर भी दोनों भाषाओं के साथ आदर और लेन-देन का सम्बन्ध रखा जा सकता है। जरूरी होने पर और भाषाओं के भी शब्द अपना लेने में हमें हिचक क्यों हो? इसका यह मतलब न होगा कि उन उन भाषाओं के साथ अथवा उनके साहित्य के साथ हमने स्पर्धा ठान ली है। इस्लामी साहित्य अरबी, फारसी और उर्दू में है। उस साहित्य में क्या सन्तों की अमर वाणी भी नहीं है? जिस भाषा में मनुष्य की अमर अभिलाषाओं और भावनाओं का स्फुरण हुआ है, वह भाषा क्यों कभी क्षीण होने लगी? एक भाषा के (अर्थात् हिन्दुस्तानी के) प्रचार में यह अर्थ हो ही कैसे सकता है कि विविध भाषाओं में जो ज्ञान-कोप है, वह कम होवे? किसी को चोट देने अथवा पहुँचने की बात ही वहाँ नहीं है। उन उन भाषाओं में जो कुछ श्रेष्ठ है, चिर-स्थायी है, उसको विस्तार और व्यापक बनाने की ही सूझना, भाषा-ऐक्य के साधन से

१८० :: जैनेन्द्र के विचार

बढ़ती है, अहित किसी का भी नहीं होता। परस्पर के आदान-प्रदान को और घनिष्ठ बनाने के ही हेतु से हिन्दी को प्रचार में लाने की बात है। किन्हीं के मनों को फाड़ने के लिए ऐसा थोड़े ही कहा जाता है।

—हिन्दी की अपूर्णता राष्ट्रकार्य-संचालन में बाधक तो नहीं होगी ?

—शुरू में दिक्कत तो होगी, लेकिन पूर्णता की राह ही और क्या है ? और पूर्णता तो आदर्श है। वहाँ पहुँचा कभी नहीं जाता, उस ओर तो चलते ही रहना होता है। जो कठिनाई होगी उसे सोच कर बढ़ें नहीं, तो कठिनाई कभी पार ही न हो और उसके योग्य सामर्थ्य भी संचित होने का कभी मौका न आवे। आज अंग्रेजी बिना काम चलता नहीं दीखता। पर अंग्रेजी न थी, तब भी हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान था और सभी तरह के काम भी तब चलते थे। अंग्रेजी के प्रति बहिष्कार-बुद्धि रखने का उद्देश्य नहीं है, पर परवशता अनुभव करना और परावलम्बन को अनिवार्य बना लेना श्रेयस्कर नहीं है। परस्पर सहयोग होना चाहिए, निरा परावलम्बी बन जाने में अहित है। किन्तु स्वाश्रयी बनने का बल ही कैसे आवेगा, जब तक कि अपना आश्रय स्वयं उठाने का संकल्प ही हम नहीं बाँधेंगे ? इसके बाद मुश्किलें तो पड़ेंगी, पर वे आसान हो रहेंगी। और मुत्कों ने देखते देखते अपनी अपनी भाषाओं को सर्व-सम्पन्न बना लिया है। एक बेर सोचा कि अपनी ही भाषा में अपने को व्यक्त करेंगे,—और जब राष्ट्र-भर ने यह सोचा, तब राष्ट्र की राष्ट्र-भाषा को समर्थ होने में देर क्या लगेगी ?

—हिन्दी साहित्य को पुष्ट और रुचिकर बनाने के लिए आपकी राय में कौन-कौन से उपाय होने चाहिए ?

—मैं तो एक ही उपाय जानता हूँ।—यह मैं लेखक की हैसियत से कहता हूँ, ऐडमिनिस्ट्रेटर की हैसियत से नहीं। और लेखक की हैसियत से जो मैं उपाय जानता हूँ वह यह है कि छोटे संकुचित स्वार्थ से मैं बाहर निकलूँ, मेरी सहानुभूति का क्षेत्र व्यापक हो। कर्म से मैं विमुख न रहूँ, जो सोचूँ पूरे हृदय से सोचूँ। अपने को बचाऊँ नहीं, और अपने जीवन में अपने आदर्श को उतारूँ। मेरा प्रेम मेरे साहित्य को रुचिकर बनायेगा। अपने विश्वासों के प्रति मेरी लगन और तत्परता मेरे साहित्य को पुष्टता देगी।

इसके अतिरिक्त आपके प्रश्न पर मैं किसी दूसरी दृष्टि से अभी यहाँ विचार नहीं करना चाहता।

७-६-३६

□ □

कुछ पत्रों के अंश

भाई माचवेजी,

१-८-३५

पत्र मिला ।...

मेरे वारे में यह बात आप जान लें कि किताबों में मेरी पहुँच कम है । इसलिए मेरा जवाब थोड़ा और सादा ही हो सकता है ।

जीवन से कला को तोड़कर मैं नहीं देख पाता । सत्याभिमुख जीवन की अभिव्यक्ति कला है । शब्दांकित अभिव्यक्ति साहित्य है ।

आप देखें, जीवन के साथ 'सत्याभिमुख' विशेषण मैंने लगाया है । अर्थात् जो हम हैं, वही हमारा जीवन नहीं है । जो होना चाहते हैं, हमारा वास्तव जीवन तो वही है । जीवन एक अभिलाषा है । जब कला के संबंध में 'जीवन' शब्द का उपयोग करता हूँ तब उसे आप उस चिर-अभिलाषा की परिभाषा ही समझें । उस अर्थ में समझने से जीवन और कला का विरोध, जो Parallelism उड़ जाता है ।

क्या जो होना चाहते हैं, वही हम हैं ? क्या कभी भी वैसे हो सकेंगे ? स्पष्टतः नहीं । किन्तु इसका क्या कभी भी यह मतलब है कि aspiration व्यर्थ है ? यह मतलब करना तो सारी गति और चेष्टा को मिटा देना है ।

आदर्श और व्यवहार में अंतर है । वह अंतर एक दृष्टि से अनंतकाल तक रहेगा । उस दृष्टि से वह अनुल्लंघनीय भी है । किन्तु इसीलिए तो उस अंतर को कम करना और भी अनिवार्य है । आदर्श अप्राप्य है, क्या इसी से उसके साथ एकाकारता पाने के दायित्व से हमारी मुक्ति हो जाती है ?

इसी से कला को 'कला' के ही क्षेत्र की वस्तु न मानने देकर उसे जीवन में उतारने की वस्तु कहते रहना होता है ।

जो कला वास्तव से असम्बद्ध होकर ही जी सकती है, वास्तव के स्पर्श से जो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो रहती है, मेरे निकट तो वह ह्रस्व-प्राणी है । मैं उसे गिनती में नहीं लाता । कला अपने भीतर भरी श्रद्धा की शक्ति से 'वास्तव' को संस्कृत करने के लिए है, उससे परास्त होने के लिए नहीं ।

कला मात्र स्वप्न नहीं । वह वास्तव के भीतर रमी हुई वास्तविकता है, जैसे शरीर के भीतर रमी हुई आत्मा । वह अधिक वास्तव है ।

१८२ :: जैनेन्द्र के विचार

जिस आदर्श-क्षेत्र को हम कलात्मक चेतना से स्पर्श करते हैं, जिस स्वर्ग की हमें इस प्रकार झाँकी पाते हैं और उसके आह्लाद को व्यक्त करते हैं, क्या उस स्वर्ग में अपने इस समग्र शरीर और शारीरिक जीवन के समेत पहुँचे बिना हम तृप्त हों ? तृप्त नहीं हुआ जा सकेगा। इसी से तमाम जीवन के जोर से कला को पाना और वहाँ पहुँचना होगा।

Oscar Wilde, को मैंने कुछ पढ़ा है। मैं उसे भटक गया हुआ व्यक्ति समझता हूँ। विचार की सुलझन उसकी विशेषता नहीं।

अपनी रचनाओं की विविधता पर मैं अप्रसन्न नहीं हूँ। न उनमें कोई ऐसा विरोध देखता हूँ। हाँ, विविधता तो देखता ही हूँ और सबका विविध मूल्य भी आँकता हूँ। 'एक टाइप' और 'राज-पथिक' में स्थान-भेद और मूल्य-भेद तो है ही। पर मेरी अपेक्षा से तो दोनों में एक-सा ही सत्य है।...

यह स्वीकार करना होगा कि मैं अपनी किन्हीं रचनाओं में भाव-प्रवण अधिक हूँ, कहीं जीवन-समीक्षक विशेष। किन्तु कहानियों के साथ मैं अपना सम्बन्ध चिन्तापूर्वक स्थिर नहीं करता हूँ और अपनी सभी रचनाओं को मैं प्रेम करना चाहता हूँ।

मैं चाहता हूँ, छोटी और तुच्छ वस्तु मेरे लिए कहीं कुछ रहे ही नहीं। धूल के कण में भी मैं उस परम प्रेमास्पद परम रहस्य को क्यों न देख लेना चाहूँ जिसे 'परमात्मा' कहते हैं। और वह परमात्मा कहाँ नहीं है ? आज कीचड़ में ही उसे देखना होगा। यही आस्तिकता की कसीटी है। मूर्ति में तो अल्प श्रद्धावान् भी दे पाता है।

कलाकार उसी अपरिमेय श्रद्धा का प्रार्थी है और तब कहाँ उसके हाथ Soiled हो सकते हैं। वह तो सब जगह अपूर्व महिमा के दर्शन कर और करा सकता है। यदि मैं खाद की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ अपना मौलिक उपयोगी अनुभव लोगों को बता सकूँ तो यह मैं साहित्यिक जैनेन्द्र के लिए कलंक की बात नहीं समझूँगा, प्रत्युत श्रेय की बात ही समझूँगा।

हम क्यों कला को छुई-मुई-सी वस्तु, hot house product, बनावें। वह शीशे में बन्द प्रदर्शन की वस्तु ही बनकर रहने वाली क्यों बने, वह क्यों न महाप्राणवान्, सर्वथा अरक्षित, खुली दुनिया में अपने ही बल पर प्रतिष्ठित बनी खड़ी हो ?

मेरी कल्पना है कि ऊपर के वाक्यों में आपको अपने प्रश्न के सम्बन्ध में मेरी स्थिति का कुछ आभास प्राप्त होगा।...

×

×

×

×

ता० २५-६-३५

...मुझे अपने कथनों में विरोध नहीं दीखता। अन्य विचारों के वाक्य जो आपने लिखे हैं, उनके साथ भी मेरी स्थिति का अविरोध बैठ सकता है। हमको मान लेना चाहिए कि जो शब्दों में आता है, सत्य उससे परे रह जाता है। उसकी ओर संकेत कर सकें, यही

बस है। वह भला कहीं परिभाषा में बँधने वाला है ! इससे लोगों के भिन्न भिन्न वक्तव्यों का भाव लेना चाहिए। मैं जिसे 'सत्य' शब्द से वृक्षता हूँ, उसमें तो सत्ता मात्र समाई है। जगत का झूठ-सच सब उसमें है। 'वास्तव' से मेरा अभिप्राय लौकिक सत्य से है। जिस को भरने के लिए सदा ही 'असत्य' की आवश्यकता होती है। जीवन में तो द्वंद्व है ही, किन्तु लक्ष्य तो निर्द्वंद्वता है। जीवन विकासशील है। क्या कला जीवन से अनपेक्ष्य ही रह सके ? ऐसी कला तो दंभ को पोषण दे सकती है।...

×

×

×

×

ता० २१-११-३५

...मैं लिखना न छोड़ूँ हो जो हो,—यह आप कहते हैं। आप ठीक हैं। लेकिन मैं अपने लिखने को वैसा महत्त्व नहीं दे पाता। मैं नहीं लिखता, इससे साहित्य की क्षति होती है। यह चिन्ता मुझे लगाये भी नहीं लगती। जब मुझमें वह भाव नहीं है, तब उसे ओढ़ूँ क्यों ? मैं उसे अपने ऊपर ओढ़कर बँठना नहीं चाहता। साहित्यिक विशिष्ट व्यक्ति मैं अपने को एक क्षण के लिए भी नहीं समझना चाहता। ऐसा समझना अनिष्ट है। ऐसी समझ, मैं देख रहा हूँ, बहुत अंश में आज हिन्दी के साहित्य को हीन बनाये हुए है। मानों जो साहित्यिक है उसे कम आदमी होने का अधिकार हो जाता है, अथवा कि वह उसी कारण अधिक आदमी है ! इसलिए मैं उस तरह की बात को अपने भीतर प्रश्रय देना नहीं चाहता। पर, मैं तो देखता हूँ, मुझे अपने ही कारण लिखना नहीं छोड़ना है। क्योंकि जब साहित्य का जिम्मा मेरे ऊपर नहीं है तब मेरी अपनी मुक्ति तो मेरा अपना ही काम है। और कब आत्मव्यक्तीकरण मुक्ति की राह में नहीं है ?

×

×

×

×

ता० ३१-८-३६

...‘राम-कथा’ जैसी चीजें मैं लिखना विचारता हूँ। लेकिन देखता हूँ कि मेरी राह जैसी चाहिए खुली नहीं है। मैं सोचा करता हूँ कि जब मेरे साथ यह हाल है, तब नवीन लेखकों की कठिनाइयों का तो क्या पूछना। मैं तो अब पुराना, स्वीकृत भी हो चला हूँ। जो नये हैं, उनके हाथों नवीनता तो और भी कठिनाई से वे लोग स्वीकार करेंगे।...

कठिनाइयाँ जीवन का Salt हैं पर उनको लेकर व्यक्ति में complexes पैदा होने लगते हैं। वही गड़बड़ है। उनसे बचना।...

अब तुम्हारे सवाल, जो कभी शांत न होंगे। सवाल है ही इसलिए नहीं कि वह शांत होकर सो जाय। वह सिर्फ इसलिए है कि अगले सवाल को जन्म दे। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। वह दंभी नहीं तो मूढ़ है जो जताता है कि उसका प्रश्न हल हो गया। वह मुक्तावस्था है और मुक्तावस्था आदर्श है, अर्थात् वह एक ही

१८४ :: जैनेन्द्र के विचार

साथ तर्क का आदि है और अंत है। तर्क के मध्य में, और जीवन के मध्य में, आदर्श-स्थिति का स्थान नहीं समझना चाहिए। इसलिए सवाल का समाधान नहीं है, मात्र परिणति है। बाहर से उसका मुख भीतर की ओर फेरने से ऐसा परिणमन सहल होता है। इसलिए यह तो सिद्धान्त रूप से मान लो कि सवाल को फिर भीतर की ओर मुड़ना होगा और हरेक उत्तर अपने आप में स्वयं अन्ततः प्रश्नापेक्षी हो रहेगा। प्रश्नोत्तर द्वारा वस्तुतः हम परस्पर को ही पावें; अधिक की अपेक्षा न रखें।

कला हेतु-प्रधान होती है कि हेतु-शून्य ?

मैं कहूँगा कि कलाकार अपने में देखे तो कला हेतु-प्रधान क्यों, हेतुमय होती है। कलाकृतिके मूल में मात्र न रहकर उसका हेतु तो उस कृति के शरीर के साथ अभिन्न रहता है। वह अणु-अणु में व्याप्त है। कलाकार की दृष्टि से कभी कला हेतु हीन (अर्थात् नियमहीन, प्रभावहीन) हो सकती है ? और वह तो हेतु-प्राण है। कलाकार के अस्तित्व का हेतु ही उसकी कला में ध्वनित, चित्रित होता है।

लेकिन बाहर की दृष्टि से मैं उसे सहेतुक कैसे मानूँ ? इस भाँति उसे सहेतुक मानना कलाकृति और कलाकार के बीच में खाई खोदना जैसा है। मनुष्य और उसका घंघ्रा, ये दो हो सकते हैं। पर मनुष्य और उसकी मनुष्यता (यानी, उसकी भावनाएँ) दो नहीं हैं। उसका व्यवसाय मनुष्य के साथ प्रयोजन-जन्य, मनुष्यता उसके साथ प्रकृति-गत है।

जहाँ मानव अपनी घनिष्ठता में, अपनी निजता में, प्रकाशित है, वहाँ उतनी ही कला है। जहाँ अपने से अलग रखे हुए हेतुओं की राह से वह चलता है, और हेतुओं के निर्देश पर रचता है, वहाँ उतनी ही कम कला है।

कला में आत्म-दान है।

आत्मदान सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ी नीति है, सबसे बड़ा उपकार है, और सबसे बड़ा सुधार है। अतः कला सुधार, उपकार, नीति और धर्म, सबसे अविरोध है और सबसे अपरिवर्द्ध है। इस प्रकार कला सत्य की साधना का रूप है। वह परम श्रेय है।

कला तो निःश्रेयस की साधिका ही है। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ वह भ्रांत है। यह कहिए कि वहाँ कला ही नहीं है।

बात यह है कि मानव का ज्ञान अपने संबंध में बेहद अधूरा है। वह अपनी ही भीतरी प्रेरणाओं को नहीं जानता। यह सही नहीं है कि वह प्रयोजन को ही सामने रख कर चलता या चल सकता है। हेतु उसके भीतर संश्लिष्ट है, inherent है। जिसको अहं विकृत ज्ञान में हेतु मान उठता है, उसके प्रति वह सकाम होता है। वह इस तरह, हेतु होता ही नहीं। मनमानी लोगों की गरज उनके जीवनो की वास्तव हेतु नहीं हैं। इस दृष्टि से हेतुवाद एक बड़ा भारी मायाजाल है। जो जितना महत्पुरुष है वह उतनी ही दृढ़ता और स्पष्टता से जानता है कि समाजिक उत्थान से कोई बड़ा ही कार्य उसे चला

रहा है। इतिहास के सब महापुरुष इसके साक्षी हैं। और मैं कहता हूँ कि इस व्यक्तिगत हेतु की भावना से ऊपर उठने पर ही सच्चे जीवन का आरंभ और सच्ची कला का सृजन होता है। हेतुवादी वह संसारी है जो सांसारिकता से ऊँचा उठना नहीं चाहता।

(और तुम पूछते हो कि) अगर कला Self-expression ही है तो फिर जीवन से उसका दायित्व क्या है ?

मैं तो आज कला को Self-expression की परिभाषा में ही समझने की इजाजत देना चाहता हूँ। यद्यपि इसमें (समझने में) खतरा है फिर भी उसी प्रकार की परिभाषा यथार्थता के अधिक निकट और अंततः अधिक उपयोगी है।

पर, फिर भी वह तनिक भी उच्छृंखल नहीं और अधिक से अधिक दायित्वशील है। वह इसलिए कि जो हमारा भीतरी Self असली Self है वह बाहरी जगत के साथ अभेदात्मक है। हम असल में विश्व के साथ एकात्म हैं। जितना अपने को पायेंगे उतना ही, अनिवार्य और सहज रूप में, विश्व को पायेंगे। इसलिए प्रत्येक का Self-expression, अगर वह अपने साथ सच्चा और जागरूक है, तो प्रेमात्मक ही हो सकता है, विद्वेषात्मक तो हो सकता ही नहीं। साधना में जो आत्म-बंधना कर जाता है उसकी बात तो मैं कहूँ क्या,—पर साधक व्यक्ति का Self-expression कभी अहितकर नहीं हो सकता, और आर्टिस्ट साधक है। असल में साधक अनुभव करता है कि वासनाओं में उसका सच्चा 'स्व' ही नहीं है और वह वासना-रस को अनायास छोड़ता चलता है। वह अति सहज भाव से दायित्वशीलता की ओर बढ़ता है और साथ ही विनम्रता की ओर बढ़ता है। इस भाँति साधक आर्टिस्ट के लिए जरूरी हो जाता है कि वह इस बाहर की कसौटी पर अपनी साधना को कसता भी रहे—कि वह उच्छृंखल, अविनयशील, अहंमय तो नहीं हो रहा है। रोग की जड़ अहंमयता है और आर्टिस्ट अहंमयता का खोखलापन आरम्भ से ही देखता है।

कला बुद्धिप्रधान हो कि भावप्रधान ?

बला से, कुछ भी हो। व्यक्ति में बुद्धि का खाना कहाँ है और भाव का कहाँ ? और जहाँ अपनी आत्मा का ही दान है वहाँ बुद्धि अथवा भाव को बच निकलने की जगह कहाँ है ?

और इन प्रश्नों को लेकर क्या कहूँ ? कितना भी कहते जाओ तत्त्व उतना ही गहन रहता है। सत्य की पुकार तो है कि आदमी सब नाते, सब बन्धन, तोड़ छूट पड़े।—तब कुछ समझ मिले तो मिल भी सकती है। अन्यथा सब वृथा है।

अपनी जिंदगी के बारे में क्या कहूँ ? क्या कुछ उसमें कहने लायक है ? अभी तो मुझे कुछ पता नहीं।...

मैथिलीशरणजी को मैं क्या मानता हूँ ? हिन्दी कवियों में आज मैं समझो उन्हीं को मान पाता हूँ। श्रद्धा के नाते उन्हें ही, समझ के नाते यों औरों की भी मान लेता हूँ।

×

×

×

×

१६-६-३६

... प्रोफेसरों का अविश्वास मैं समझ सकता हूँ। पर दिल से अहंकार निकाल डालने का तरीका ही यह है कि उसे हथेली पर ले लिया जाय। जिसे निन्दा से डरना नहीं है, वह प्रशंसा से डरे? जो अपवाद पर झुल्लाते हैं, वे ही पर्याप्त से अधिक संकुचित हो सकते हैं। पर वे दोनों एक रोग हैं—भीति और लालसा।...

×

×

×

×

ता० १६-२-३७

... जिसके प्रति मन में प्रशंसा न हो उसके प्रति conscious झुकाव रखना सच्ची नीति है। 'नीति' का मतलब पालिसी नहीं, कर्तव्य भी मैं लेता हूँ। क्योंकि आखिर तो आलोचना की जड़ में अज्ञान ही है। इसी से जवाहरलाल जी की आलोचना वैसी लिखी गई जैसी लिखी गई।...

... शरद समाज के प्रति निर्मम है, पर व्यक्ति के प्रति निर्मम क्यों न हुआ जा सके? सच्ची निर्ममता मैं तो उसे जानूँ जो समाज के लिए व्यक्ति को तजे, समाज को ज्ञान के लिए, ज्ञान को तथ्य के लिए, और इस प्रकार अपने सब कुछ को अखंड-सत्य के लिए।

'अश्रुमती गौतम' क्यों भाई? सीधी बात है कि भाई इससे भाई। उसमें tendency मेरे मन की है। लेकिन एक बात है। आत्म-त्याग एक वस्तु है, आत्म-त्याग की भावना बिल्कुल दूसरी वस्तु। जहाँ यह भावना प्रधान है वहाँ आदर्श-वाद है। और ध्यान रखना चाहिए कि आदर्श-वाद भी और वादों की तरह थोथा होता है। 'वाद' नहीं चाहिए, स्वयं आदर्श चाहिए। आत्म-त्याग को एक doctrine एक Dogma बनाकर व्यक्ति सचमुच स्वार्थी होने में मदद पाता है। तुम्हारी 'अश्रुमती गौतम', मुझे प्रतीत होता है आदर्श की अपनी 'धारणा' से चिपटी रही। आदर्श को ही पकड़ती तो उससे चिपट नहीं पाती। क्योंकि, आदर्श, जितने बढ़ते हो, उतना ही स्वयं बढ़ता जाता है। इसलिए आदर्श की ओर यात्रा करने वाला व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, उसका स्वभाव खुलता ही जाता है। जब कि आदर्श-वादी व्यक्ति अपने 'स्व' के घेरे को और मजबूत ही बनाता है। पर जैसे 'अ-रूप' आराधना नहीं होती, आराधना स्वयं अ-रूप को स्वरूप दे देती है, वैसे ही जाने-अनजाने बुद्धि वादानुगामिनी होती है। और अश्रुमती, मुझे बहुत खुशी है, किसी doctrine की नहीं, एक idea (गौतम-idea) की अनुगामिनी है। Idea संप्राण वस्तु है। उसकी रेखाएँ बँधी नहीं हैं इसी से।

×

×

×

×

भाई द्रविडजी,

उपन्यास के बारे में मेरी जो वृत्ति है वह वैज्ञानिक शायद न हो। पर मुझे तो

वही उपलब्ध है। उसमें जिसे Characterization कहा जाता है, उसे लगभग बिल्कुल भी स्थान नहीं है। मुझे उस शब्द के भाव का पता नहीं मिला। इससे पात्र को सांगोपांग करने की ओर मेरा ध्यान नहीं जाता। क्या एक पात्र अपने आप में कुछ चीज है? असली चीज मेरी निगाह में पात्रों का पारस्परिक संबंध हैं, न कि पात्र स्वयं। relation-ship। मुझे विचारणीय बात मालूम पड़ती है, न कि persons। इससे सुबोध पर मैं अटकता नहीं। आपके सुझाने पर भी एकांगिता मुझे खटकती नहीं। व्यक्ति क्या एकांगी के अतिरिक्त सर्व-संपूर्ण हो भी सकता है? असल में सुबोध का व्यक्तित्व (अथवा कि किसी भी एक का व्यक्तित्व) खींच उठाना मेरा लक्ष्य नहीं है। अमुक के relations में किसी एक के relations क्या हैं, इसे दिखाते दिखाते यदि मैं कहीं भी आत्मा के गहरे तल को जा छूता हूँ तो यही मेरे लिए बहुत है। उपन्यासकार के नाते, इससे अधिक मेरा इष्ट भी नहीं है। असल में मैं पक्का उपन्यासकार नहीं हूँ। शायद कुछ whims हों जिन्हें छोड़ना नहीं चाहता। कहा जा सकता है कि लिखता हूँ तो उन whims को ही निवाहने और पुष्ट करने के लिए।

...आपकी बात ठीक है। जीवन को जीते और बाँटते चलना चाहिए। इसी राह में बहुत-कुछ आ जाता है।

सस्नेह—जैनेन्द्र

×

×

×

×

२-६-३७

भाई द्रविडजी,

प्रश्न के बारे में यही कि अज्ञेय की स्थिति में मैं थोड़ा सुधार सुझाना चाहूँगा। उनका वाक्य है—

“The creation of an artist always arises from a state of unbalance...Etc.”

यह वाक्य यों हो—

“An artist rises from the state of...Etc.”

• सुधार के पक्ष में रह कारण उपस्थित है—

That the state of unbalance, itself, is not creative.

पर नहीं। ऊपर का लिखना व्यर्थ है। उसे कटो समझिए। अब मैं समझा कि मैं गलत समझा। प्रश्न आर्टिस्ट का नहीं, आर्टिस्ट के creations का है। पहले मैंने जाना कि artist के creation (जन्म) का सवाल है। खैर।

अब स्थिति को मैं यूँ समझता हूँ। कोइले से आग होती है। वह (आग) सदा कोइले से (लकड़ी आदि से) होती है,—यह भी कह दीजिए। दोनों में झूठ बात कोई नहीं है। लेकिन यह कहने से आग की प्रकृति पर प्रकाश पड़ता है, सो नहीं। कोइला

मलिन हो, आग सदा उज्ज्वल है।

आर्टिस्ट का unbalance एक प्रकार का conditional antecedent है। पर आग जैसे कोइले को क्षार कर देती है, वैसे ही creation unbalance को मिटाने के लिए है। कोइला तो पत्थर है,—दियासलाई उसमें आग दिखाती है। creation के मामले में वह दियासलाई है क्या ? जो रवींद्रनाथ ने कहा वह उस creation की आग में दियासलाई-वाला तत्त्व समझा जाय। unbalance उसमें कोइला-रूपक तत्त्व है।...

...Unbalance is inherent, is implicit. No man is in perfect harmony, can ever be in complete unision, with his environs. All experience unbalance. But everybody is not an artist. So, unbalance does not lead to creation direct. It cannot. It is a principle of disintegration. What it does is to stimulate our senses and sharpen our seeking. It makes us *miss* balance and be acutely conscious of the *want* of it. It is only thus that it helps creation. It is Faith, working through doubt, which creates. Doubts necessitate faith which, when born, devoures all of them and nourishes and flourishes on them. We ought not to confuse them both, though ever they are to be found close to each other.

Creation rises out of unbalance with a sure poise of balance and grace...

रवींद्रबाबू का कथन ठीक दिशा में है, यद्यपि उसमें content विशेष नहीं है।

मेरी निज की स्थिति ऊपर के वाक्यों में कुछ आ जाती है। असल में इन मामलों में objective approach से बचना चाहिए।

सस्नेह—जनेन्द्र

□ □

टिप्पणियाँ

१ साहित्य क्या है ?

इस लेख में साहित्य की सृष्टि के मूल की मनोविज्ञानिक आवश्यकता बताकर साहित्य के स्वरूप को समझाया गया है। साहित्य के आरम्भ का मूल तत्त्व है 'स्व' की विश्व के साथ अभेद अनुभूति। 'अपने स्वयं का अतिक्रमण कर,' आत्म-समर्पण का पाठ शेष विश्व से सीखकर, तथा अपने क्षुद्रत्व की अनुभूति से व्रत होकर विराटता की अनुभूति जगाने की जो व्यग्रता मनुष्य में है, उसी से साहित्य उत्पन्न हुआ है। अतः साहित्य, और कुछ नहीं, इसी सत्योन्मुख प्रगतिशीलता और अनुभूतिशीलता की अभिव्यक्ति है।

लेखक मानव-जीवन की संभावना द्वित्व से निर्मित विग्रह, संघर्ष और पुनः समझौते में मानता है। वैज्ञानिक डार्विन इसी को परिस्थिति के अनुरूप बनने का (adaptation) उत्क्रान्ति-तत्त्व मानता है। मानव-जीवन की इसी कर्मशीलता को आत्मिक भूमि पर देखें तो, एक की अनेक में और फिर उन अनेकों की भी किसी विराट् एक में मिल जाने की जो चाह है उसे ही साहित्य की प्रेरणा मानना होगा। अतः साहित्य जीवन को प्रश्नमयता का समाधान है,—जीवन का अभेदोन्मुख कर्म है।

लेखक की भूमिका से दो बातों का पता चलता है। एक सजीव भुमुक्षुवृत्ति का जो ब्रह्मसूत्रकार, के 'अथातो जिज्ञासा' की तरह है। हर वस्तु को जानने से पहले 'क्यों ?' 'क्या ?' 'किसलिए ?' आदि प्रश्नों का मन में स्वभावतः उठना अपेक्षित है दूसरी बात है विचार-स्वातंत्र्य में अटूट विश्वास जिसके लिए रोम्याँ रोलाँ महाशय उत्सुक रहते हैं। लेखक विचारों को किसी भी प्रकार परिवर्द्ध या जड़वादी बना हुआ नहीं देखना चाहता। उनके मत में विचार-नैश्चित्य बुरा नहीं है पर विचार का स्थिर होकर बँध रहना तो उसके जीवन के लिए बाधक है।

साहित्य की अनेक परिभाषाओं में से जैनेन्द्र की परिभाषा के साथ दो परिभाषायें तोलनीय हैं और वे यहाँ दी जाती हैं—'साहित्य जीवन की समीक्षा है,' (—मैथ्यू आरनाल्ड) मनुष्य जाति की संचित ज्ञान-राशि का कोष साहित्य है,' (—आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी)।

मनुष्य की बुद्धि के साथ अहंकार के जागरण की कथा सांख्यदर्शन में बहुत अच्छी तरह रूपक द्वारा व्यक्त की गई है। सांख्य के अनुसार मुक्त पुरुष शुद्ध चित् पर स्थिर रहता है और प्रकृति पुरुषोत्तम है, अतः प्रकृति के अनेक अंगों और चिर-नतन मयी। उस प्रकृति

१६२ :: जैनेन्द्र के विचार

की छाया पड़ते ही, स्फटिकपात्र में रक्तपुष्पच्छटा के समान, पुरुष-तत्त्व रंग जाता है और उसमें सत्ताईस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जिनमें बुद्धि और अहंकार प्रथम और प्रमुख हैं। विलियम जेम्स, वार्ड आदि आधुनिक मनोविज्ञानिकों ने भी मनुष्य की चेतना को स्व-चेतना (Self consciousness) से उदय होते हुए माना है।

जैनेन्द्र के 'अवबोध' शब्द का उपयोग समझना होगा। बोध अर्थात् परिज्ञान, अवबोध अर्थात् विशिष्ट प्रकार का ज्ञान (=Conception)।

(‘अर्जुन’ में प्रकाशित)

२ विज्ञान और साहित्य

बुद्धि से अधिक स्वाभाविक हार्दिकता है, यह निर्विवाद है। इसी आधार पर इस लेख में भक्ति का आरम्भ ज्ञान से पहले हुआ, अर्थात् विज्ञान के मूल में भी साहित्य-प्रवृत्ति है यह दर्शाया है।

वेदों में पाई जानेवाली इन्द्र-वरुणादिक देवताओं की प्रार्थनायें ऐसे ही आरोपण-मूलक वैयक्तिक देवताओं से संबंध रखती थीं। मैक्समूलर ने ऐसी प्राकृतिक देवताओं की उत्पत्ति को आदिम मानवविकासवादी प्रवृत्ति माना है। इसी संबंध में प्रश्नोत्तर-विभाग में ‘धर्म का आरम्भ क्या भय से हुआ?’ ‘निरा अ-बुद्धिवाद’ और ‘राम-कथा’ पठनीय हैं। श्रद्धामूलक ज्ञान को यहाँ विभेदमूलक विज्ञान से श्रेष्ठतर माना गया है।

आत्मनिष्ठ और परनिष्ठ अथवा ज्ञाता और ज्ञेय का अन्तर अर्वाचीन पश्चिमी आलोचना एवं मनोविज्ञान सभी में बहुत जोर पकड़ता जा रहा है। जैनेन्द्र ऐसे विभक्तीकरण को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे भोक्ता और भोग्य, ज्ञाता और ज्ञेय, कलाकार और आलोचक सबको एकाकार बना देना चाहते हैं। उनका दृष्टिबिन्दु (=perspective) अतिशय विशद-उदार उपनिषदों के पूर्णात्पूर्णमिदम् से लगाकर गेस्टाल्टपंथी अमेरिकन मनोविज्ञानिकों के सामान्य तत्त्व तक एक ही अविभक्तता संपन्न होती देखने का है। डॉ० जानसन के अनुसार कला और विज्ञान का अन्तर Art is doing and Science is knowing (=कला कर्म है, विज्ञान बोध) है। जैनेन्द्र साहित्य की अनुभूतिशील रचनात्मकता पर जोर देते हुए, उसे विज्ञान की व्यवस्था-बद्धता और तज्जन्य जीवन से विच्छिन्न होने की आशंका से अलग कर देते हैं। आज के विख्यात इटालियन कला-समीक्षक बेनेडेटो क्रोच्चे ने भी मानव की परिज्ञान-प्रक्रिया को इसी तरह के दो क्षणों में अर्थात् अवधियों में बाँटा है—एक तो कलात्मक, दूसरी तार्किक (=Moments of Pure Intuition and Moments of Pure Logic)। परन्तु अनुभूति-सूचकता अथवा कलात्मक अभिव्यक्ति को उसने हेगेल के समान सर्वश्रेष्ठ माना है। इसी मूलानुभूति को गलती से इन्दौर के साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-परिषदीय भाषण में अध्यापक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ‘प्रज्ञात्मक’ कहा है। पर यह विवाद यहाँ साहित्य के जिज्ञासु विद्यार्थी के लिए सूत्ररूप में छोड़ना ही पर्याप्त है।

विज्ञान की प्राथमिक अवस्था कैसे श्रद्धामूलक थी, इसको स्पष्ट करनेवाले उदाहरणों की कमी नहीं है। पदार्थ-विज्ञान में पहले अग्नि को एक स्वतंत्र शक्ति मानते थे (—पलाजोस्टीन-थ्योरी)। अरिस्टाटल की शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी धारणायें ऐसी ही रूपकात्मक थीं। मनोविज्ञान के प्रारम्भ-काल में वृत्तियों की लहरियाँ (=Humours) को महत्त्व दिया जाता था। ज्योतिष-विज्ञान में भारतीय पद्धति तो अभी तक चित्रात्मक है। यहाँ तक कि व्याकरण जैसे व्यवस्था-बद्ध शास्त्र के लिए पाणिनि ने शंकर के डमरू का आधार लेकर—‘अ इ उ ऋ लृ...’ को सिद्ध किया।

और विज्ञान की ऐसी ही दर्शनोन्मुख अन्तिम अवस्था के लिए अत्याधुनिक पदार्थ विज्ञानवेत्ताओं की आस्तिकता, माँशियाँ बर्गसाँ की ‘Master and Mind’ पुस्तक, डॉ० जेम्स की ‘चेतना-प्रवाह’ की मान्यता, डीन आइंग का ‘परमात्मा और खगोलशास्त्री’ ग्रंथ, आइन्स्टाइन के सापेक्षतावाद का रहस्यात्मक आधार आदि आदि उदाहरण काफी होंगे।

इस लेख की कहानीनुमा शैली ध्यान देने योग्य है।

(‘अर्जुन’ में)

३ साहित्य और समाज

सच्चे साहित्य-सृष्टा का अपने वातावरण के प्रति एवं समाज के प्रति भविष्य-दृष्टा तथा दूरदर्शी रूप से संबंध होता है और उसी कारण उसे समाज के हाथों जो उपेक्षा का कष्ट-प्रसाद भुगतना पड़ता है, उसी को फकीर के रूपक द्वारा इस लेख में बताया है। इसी शालीन वृत्ति के विरोध में समाज की मान्यताओं को स्वीकृत मानकर, जो चाहिए वह माल बाजार-दर में ला रखनेवाले बनिया साहित्यिक की सामाजिक प्रशंसा से तोला गया है। तात्पर्य, बिकनेवाले और टिकनेवाले साहित्य की अन्तर-रेखा स्पष्ट की गई है और बताया गया है कि कवि ब्राउनिंग ने जैसे मानव-जीवन का उद्देश ‘रजकण से असीम की प्राप्ति की ओर’ (=From Man’s dust to God’s eternity) बताया है वैसे ही लेखक को भी न केवल ‘जहन्नुमेर आगुने बशिया हांशी पुष्पेर हांशी’ (—काजी नजरूल इस्लाम) अपितु, ‘असंख्य बंधन माझार, लभिव मुक्तिर स्वाद’ (—कवींद्र रवींद्र) जैसी वृत्ति बनाकर, अभेद-संपन्नता की ओर बढ़ना चाहिए।

लेखकों के जीवन-काल में उपेक्षा के उदाहरण अनन्त हैं। अधिकांश रूसी साहित्यिक निर्वासित हुए, सुप्रसिद्ध फ्रेंच व्यंग-लेखक वाल्टेयर की यही हालत हुई, अंग्रेज महाकवि शेले अपनी निर्भीक मतावली के लिए देश देश मारे मारे फिरे। कोमल-मना कीट्स तो ऐसी आलोचना के कारण मर गये। डिकेन्स ने अपना उपन्यास सैंतीस पौंड पर बेचा था और गोल्डस्मिथ ने अपना पहला उपन्यास सत्ताईस सिक्कों के लिए। शोपनहार को पचास पौंड पारिश्रमिक अपने लेखों पर मिला था। नीत्से की प्रसिद्ध किताब ‘जरथुष्ट्र ने कहा’ की सिर्फ चालीस प्रतियाँ छपीं, सो भी नहीं बिकीं। तभी तो उसने अपनी अन्तिम किताब की भूमिका में लिखा—‘मुझे पता है, हायद, मुझे समझने

१६४ :: जैनेन्द्र के विचार

वाले, मेरे मरने के बाद जनमेंगे।' और हुआ भी ऐसा ही। अभी इधर विश्व-विख्यात साहित्यिकों में बहुतों को स्वाधीनचेता होने ही के कारण जेलवास, देशनिकाला आदि न जाने क्या क्या भोगना पड़ा। भारत में भी अब जिन्हें सर्वमान्य माना जाता है वे आजीवन दारिद्र्य में रहकर स्वर्गवासी हुए। ऐसे उदाहरण कम नहीं। सबसे ताजा उदाहरण स्व० प्रेमचंदजी ही हैं।

जैनेन्द्र ने एक बार चर्चा में कहा था कि अपराधी को रामायण, संभ्रान्त को खूनी के बयान, सुखासीन को कर्ण-कथा पढ़ना अच्छा लगता है। महादेवी ने अपनी 'रश्मि' की भूमिका में अपने दुःख-वाद का मूल ऐसी ही विषमता में बताया है। हमें हमारे अभावों का निरूपण करनेवाला साहित्य रुचता है, यह बात मनोविज्ञानिक दृष्टि से एक हद तक ठीक है; परन्तु, सामाजिक दृष्टि से कुछ लोग जब समाज के व्यंगों को अपना पंथ बना लेते हैं, तो वहाँ मानना होगा कि उत्कट विद्रोह भी उत्कट मोह का ही लक्षण होता है। अष्टन सिक्लेयर का 'मैमन आर्ट' या अन्य उग्रतावादी लेखकों का सुधाराग्रह या क्रांति-प्रेम उस समाज के प्रति उनकी कृपावलंबिता की कमजोरी को ही दर्शाता है। जैनेन्द्र कहते हैं कि परार्थ भी निर्मोही बनकर करना होगा, उसमें अपरोक्ष भी स्वमोहन हो। अधिकांश जोशीले समाज-सुधारकों में निर्मोह नहीं पाया जाता। गांधीजी भी इसी निःस्वार्थ निष्कामता के अनन्य समर्थक हैं।

जैनेन्द्र आज के हिंदी साहित्य में, —उपन्यासों में, कथानक की प्रधानता और मानसिक सूक्ष्मताओं के प्रकटीकरण का अभाव तथा काव्य में असंयम एवं नशेवाजी की ओर झुकाव आदि दोष चीन्हते हैं जो सचमुच में महत्त्वशाली हैं।

(‘विश्वमित्र’ में प्र०)

४ कला क्या है ?

यह लेख 'जल्दी में' शीर्षक से 'विशाल भारत' में छपा था। इस लेख के सार-वाक्य पृष्ठ १४ पर ऐंटिक में दिये हैं। लेख इतना स्पष्ट है कि टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं।

Art is to be felt, not to be dealt with (कला अनुभव-गम्य है, स्पर्श-गम्य नहीं) यही तत्त्व लेख की आत्मा है। बा० श्यामसुंदरदास के ललित-कला विषयक लेख में अंग्रेज समीक्षक हड्सन के अनुरूप कला की जिस सौन्दर्योपासना का संकेत है वही यहाँ भी लक्षित है। इसी संदर्भ में जिज्ञासु पाठक टालस्टाय की 'What is Art' (=कला क्या?), क्लार्इव बेल की 'Art' (=कला) और कजिन्स और कालिंग बुड की 'Philosophy of Beauty' (=सौन्दर्य-दर्शन) पुस्तकों को एवं पत्रांशों में मेरे साथ जैनेन्द्रजी के इस विषय के थोड़े-से विवाद को अवश्य देख लें।

जैनेन्द्र स्वयं कलाकार हैं और उनकी कलम में कला इस तरह पैठी है कि उनके लिए कला क्या, ऐसा कोई भी तटस्थ सवाल, अलग बुद्धि द्वारा प्राप्य-रूप में, संभव ही

नहीं। वे तो कला को आत्मा की एक भावच्छटा मानते हैं।

इस लेख की मुक्त और कलात्मक शैली की विशेषतायें स्पष्ट हैं।

५ किसके लिए लिखें ?

‘विशाल भारत’ में ‘कस्मै देवाय ?’ शीर्षक लेख में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने दरिद्र जनता के लिए साहित्य लिखने की ओर विशेष अंगुलि-निर्देश किया था। उसी प्रश्न को लेकर जैनेन्द्र ने ‘हंस’ में उपर्युक्त लेख लिखा था। ‘किसके लिए लिखें ?’ इस प्रश्न का उत्तर ‘कला के लिए कला-वादियों’ की तरह ‘स्वान्तःसुखाय’ और प्रोपेगेंडिस्टों की तरह ‘केवल जनतार्थाय’ न देकर जैनेन्द्र एकांगीनता और पक्ष-सत्य के गड्ढे से बचे हैं। उनका उत्तर है—लिखना सत्य के लिए अर्थात् परमात्मा-तत्त्व के लिए है। इसी संदर्भ में पृ० १८३ पर का पत्रांश पठनीय है, जहाँ वे लिखते हैं—‘लिखते रहना तो मुझे अपने खातिर भी नहीं छोड़ना है।’ इसी संदर्भ में हाल में प्रकाशित ‘विशाल भारत’ के साहित्यांक में ‘साहित्य और राजनीति’ संबंधी चर्चा में जैनेन्द्र का पत्र पठनीय है। उस में जलोदर की उपमा देकर रुग्ण और स्वस्थ साहित्य का भेद सुंदरता से बताया है।

यहाँ भी लेख की पुकार सत्योन्मुख एकस्वरता और समता के लिए अव्याहत और स्पष्ट है। जैनेन्द्र नकारात्मक अथवा ध्वंसवादी (=Nihilistic) प्रवृत्तियों का तीव्र विरोध करते हैं। वे ऐसी सब विधि-निषेध-शृंखलामयता को जीवन-विरोधिनी समझते हैं। ‘शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः’ की गीतावली उक्त वृत्ति को जैनेन्द्र अंगीकरण के योग्य मानते हैं। वही वृत्ति लक्ष्य तक पहुँचेगी, और कुछ भी नहीं। आत्मा के उस विशुद्ध प्रेम-विस्तार की राह में बाधा रूप जितने भी विभेद खड़े किये हैं वे सब अहंकारजन्य हैं और अहंकार अहंप्राप्ति की साधना का सबसे दुर्घट शत्रु है।

६ साहित्य की सचाई

यह भाषण १९३६ में नागपुर में अ० भा० हि० सा० सम्मेलन के साथ-साथ किये गये साहित्य-परिषद् के अधिवेशन में दिया गया था।

अतिशालीन आत्म-निवेदन से शुरु करके आगे वैज्ञानिक बुद्धि की अपूर्णता और बन्ध्यापन की चर्चा हुई है। विज्ञान पहले ‘अंश’ को अन्तिम विभाग मानता था जिसके अनुसार डेमाक्रेटीज वगैरह यूनानी दार्शनिक ‘एटामिस्ट’ कहलाते थे। फिर विज्ञान की गाड़ी ‘मालिकयूल’ (=परमाणु) पर आकर रुकी। अब तो विज्ञान अनगिनत ‘इलेक्ट्रॉन्स’ पर विश्वास करने लगा है। नतीजा यह होगा कि बुद्धि तीक्ष्णातितीक्ष्ण होती जायगी, विश्व कंट-छंट जायगा, और हाथ कुछ न लगेगा। क्योंकि ‘इलेक्ट्रॉन्स’ की भी सत्ता उनके वेगमय सहकार (=Velocity and Conglomeration) में है। (पृ० २३)।

यह बुद्धि-भेद साधक और सृष्टि-रमल जैसे जुड़वाँ (=materialists)

लोगों ने अंतिम तत्त्व प्रकृति (=matter) को सिद्ध करने के लिए माना है। व्यक्ति-त्व-पंथी मनोविज्ञानिक भी अब मन और कर्म के अलग-अलग विभाग बना देने में विश्वास नहीं करते। अंततः आज, जैसे अथतः आदि दिन भी, सभी विज्ञान मानव को एक सश्लिष्ट इकाई (=one whole) मानते हैं। (पृ० २४)

रूस में बोलशेविक क्रान्ति के बाद समस्त साहित्य-कला-क्षेत्र में चाहा गया कि उसके प्रचारोपयोगी अंश को ही जीवित रहने दिया जाय और बाकी को दाग के समान काल-स्तर पर से मिटा दिया जाय। न जाने कितनी मूर्तियाँ, सुंदर चर्च और महल तोड़-फोड़ डाले गये, यहाँ तक कि कई विचार-स्वातंत्र्य के उन्नायक साहित्यकारों को देश छोड़कर भाग जाना पड़ा। ट्राट्स्की, शोलोखाफ, टिचिरनाफ आदि उन्हीं में हैं। यह एकांगिता का लक्षण है। यह नौवत अनिष्ट है। इधर अपने यहाँ भी कुछ लोग ऐसे ही मतवाद को पकड़ते दीखते हैं। पर वे भूलते हैं कि वे मत-प्रचार चाहे करें, परन्तु औरों पर प्रहार करना, सहा से अधिक, उनका उद्दिष्ट नहीं हो सकता। प्रहार जिनका उद्देश्य तक हो, वे भ्रांत हैं। निषेध कभी भी सिद्ध नहीं। (पृ० २६) यहीं क्लार्क बेल का एक वाक्य याद आता है कि 'यदि समाज कलाकार पर कोई सबसे बड़ा उपकार कर सकता है तो वह है उसे अकेले छोड़ देना।'

फ्राईस्ट के बारे में कथा है कि मेगडलीन नाम की स्त्री की दुश्चरित्रता के प्रति घृणा और क्रोध के मारे एक बार बहुत-से लोग उसे पत्थरों से मार डालने को उतारू हो गये थे। वे ईसा के भक्त थे। उस समय ईसा ने उनकी भीड़ की ओर मुखातिब होकर कहा कि तुम में से जिसने जन्म में एक पाप भी न किया हो वह अवश्य इसे पत्थर मारने का अधिकारी है। फिर किसी की हिम्मत न हुई कि पत्थर फेंके। ईसा ने मेगडलीन को अपने यहाँ रखा और उसे पवित्रात्मा संत बनाया।

गाँधीजी ने मद्रास में वेश्याओं के सम्मुख जो भाषण दिया था वह अतिशय हृदयद्रावक है। (देखिए 'नवजीवन' की फाईलें)। बुद्ध और सुजाता की कथा प्रसिद्ध ही है। जैनेन्द्र अश्लील साहित्य के संबंध में यह विचार-स्थिति बहुत मननीय है। इमर्सन ने भी एक जगह कहा है,—Hatred Hate.

७ साहित्य और साधना

२३ अप्रैल १९३५ को इन्दौर में अ० भा० हि० सा० सम्मेलनान्तर्गत साहित्य-परिषद में जैनेन्द्रजी ने जो भाषण दिया था, उसके ये कुछ अंश हैं।

इस भाषण में बतलाया गया है कि साहित्यिक का पंडित होना आवश्यक बात नहीं है। क्या जाने वह उचित भी न हो। हिन्दी के कई संत-कवियों को लिखना-पढ़ना बिल्कुल नहीं आता था। कबीर और सूर-संप्रदाय के सभी कवि ऐसे थे जो भजन रचते और गाते थे। वे कविता 'लिखा' नहीं करते थे, 'कहा' करते थे।

'Poets open new windows in the soul' (= कवि आत्मा में नये वाता-
यन खोल देते हैं) सैम्युएल बटलर की यह उक्ति इसी संदर्भ में पढ़ी जाय। साथ ही
'हिन्दी में सजीव साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक श्री 'अज्ञेय' की अपील ('विशाल
भारत') और जैनेन्द्र का उस पर नोट भी पढ़ा जाय।

८ लेखक के प्रति

यह संदेश बच्चों के पत्र 'पीयूष' के लिए लिखा गया था।

९ संपादक के प्रति

इस चिट्ठी की विचार-प्रवर्तकता और 'स्याद्वाद'मय तर्क-पद्धति महत्त्व-
पूर्ण है।

('विद्या' में प्रकाशित)

१० आलोचक के प्रति

मैं इसे जैनेन्द्रजी के सर्वोत्तम लेखों में गिनता हूँ। यह बहुत सुलझी हुई और क्रमबद्ध
सफाई है। उनके 'सुनीता' उपन्यास पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा जो तरह तरह की
आलोचनाएँ हुई थीं उनको, संक्षेप में, उनके सापेक्ष महत्त्वानुसार उत्तर देने का प्रयत्न
किया गया है।

बुद्धि द्वारा जीवन के आह्लाद को ग्रहण करने की जो मानवी क्षमता है वह,
जहाँ मनुष्य मुमुक्षु न रहकर वादी और ज्ञानाग्रही होने लगता है, वहीं कम हो जाती
है। इसी को लेखक जैनेन्द्रजी ने अपने सामने रक्खा है। बौद्धों की तरह स्वामी राम ने
एक जगह कहा है—*whosoever grasps loses*. यही तत्त्व इस पुस्तक से झलक रहा
है। इस लेख की तीसरी बात ज्ञान की अपेक्षाकृति (= Relativity) है।

रविबाबू की 'घरे बाहिरे' और 'सुनीता' का जो संतुलन जैनेन्द्रजी ने किया है
उससे पाठक सब अंशों में सहमत न भी हो सकें, तो भी, उपन्यासकार से क्या अभीप्सित
है इस बारे में पाठक को उनसे मत-भेद नहीं हो सकता।

ऑस्कर वाइल्ड ने झूठ से आतंकित करने के मोह में अपने 'मृषा का ह्रास'
(Decay of Lying) नामक निबंध में कहा है—'यदि उपन्यासकार समझता है कि
उसके पात्र जीवन से लिये गये हैं तो यह गर्व की नहीं प्रत्युत शर्म की बात है।' रवीन्द्र-
नाथ ने अपने 'साहित्य' नामक निबन्ध-संग्रह के 'ऐतिहासिक उपन्यास' शीर्षक लेख में
सत्य और कल्पना का कहाँ तक मिश्रण उपयुक्त है, इस पर चर्चा की है। यह सब
पृ० ३६-३७ के साथ पढ़ा जाय।

जहाँ 'क्या लिखूँ?' समस्या का जिज्ञास है, वहाँ विलियम जेम्स के मनोविज्ञान-
शास्त्र में 'स्व-पर-समस्या' नामक अध्याय का आरम्भ याद आता है। साथ ही यह कहना-

१६८ :: जैनेन्द्र के विचार

होगा कि जैनेन्द्रजी का विज्ञान को पूर्णतः ऑब्जेक्टिव मानने का दावा सब वैज्ञानिकों के लिए न्यायोचित नहीं है।

एक जगह 'माया' का प्रयोग आया है। शंकर के समान जर्मन दार्शनिक फिच्टे ने भी यही कहा था कि 'ससीम का असीमानुबोध सदैव सीमाबद्ध ही होगा, क्योंकि ज्ञान हमारी सीमा है।' वैसे ही जैनेन्द्रजी से कहा जा सकता है कि श्रद्धा भी हमारी उसी प्रकार की सीमा हो सकती है। परंतु वे निष्ठा को छद्म नहीं समझते, क्योंकि उनके मत में वह हादिक निर्भ्रान्तता पर निर्भर है।

अन्त में आलोचक के लिए दो हुई नर्म नसीहत बड़ी उपयोगी वस्तु है।

(‘हंस’ में प्रकाशित)

११ जीवन और साहित्य

२१ मार्च १९३६ की सायंकाल को लाहौर में राष्ट्रभाषा-प्रचारक संघ के अन्तर्गत लाजपतराय हाल में दिया गया भाषण।

‘सत्य अन्तिम नहीं है’ (पृ० ४१)। लेनिन ने भी एक जगह कहा है—‘Nothing is final’ ! यहाँ जैनेन्द्र जो सदा जीवन और साहित्य का लक्ष्य सत्योन्मुखता बताते हैं, वे उसको ‘अन्तिम नहीं’ कहकर विरोधाभास में उतरते जान पड़ते हैं। परन्तु उनका मूल-तत्त्व ‘सत्य अपेक्षाकृत है’, यह समझने पर विरोधाभास नहीं रहता।

सुकुरात के संबंध में यूनान की एक जोगिन ने कह दिया था कि वही यूनान का सबसे बड़ा ज्ञानी पुरुष है। जब यूनानियों ने जाकर यही बात सुकुरात से पूछी तब उसने जवाब दिया ‘मैं इतना ही ज्ञानी हूँ कि मैं जानता हूँ कि मैं नहीं जानता, क्योंकि और लोग तो यह भी नहीं जानते।’ इस ज्ञान की सीमा का ध्यान प्रत्येक ज्ञानी को रहना चाहिए। न्यूटन ने आजीवन अविश्रांत अन्वेषण के अंत में यही कहा कि ‘मैं तो ज्ञान-सागर की वेला के कुछ थोड़े से बालुकण और सीपियाँ ही बटोर पाया हूँ।’ उमर खय्याम की एक रुबाई का एक चरण है—‘मालूमम शुद हेच कि मालूमम न शुद।’

(पृ० ४२-४३) जर्मन महाकवि गेटे का भी यही कहना है कि ‘क्रांतियाँ ज़बरदस्त भाव-प्रवणता के आधार पर जनमती और जीती हैं।’ शोपेनहार का ‘The word is my idea’ वाक्य प्रसिद्ध ही है।

(‘हंस’ में प्रकाशित)

१२ हिन्दी और हिन्दुस्तान

यह जून १९३७ में मुहृद-संघ मुजफ्फरपुर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर साहित्य-परिषद के सभापति-पद से दिया गया भाषण है। इसकी एक विशेषता तो यह है कि जैनेन्द्र का यह पहला ही लिखा हुआ भाषण है, दूसरी यह कि इसमें सूक्ष्म दार्शनिकता ही नहीं स्थूल राष्ट्रोपयोगिता भी है।

(पृ० ४५-४६) ‘प्रेम मूक होता है’ यह महात्मा गांधी का प्रसिद्ध वचन है। रोम्याँ

रोलाँ की 'I will not rest' पुस्तक में साहित्य और राजनीति की परस्परावेक्षाशीलता का अत्यंत सुंदर विवेचन आया है। आवेश भावना की न्यूनता का परिणाम-स्वरूप है यह तथ्य शायद पाठक को नया लगे; परंतु वास्तव में 'आवेश' का अर्थ क्षणिक छलकती हुई उन्मत्त भाव-प्रवणता है, उत्कटता नहीं। वैसे ही 'न्यूनता' का अर्थ यहाँ गहराई की कमी है।

(पृ० ४६-४७) टालस्टाय की 'वार एण्ड पीस' पुस्तक में यही बात आती है कि शान्ति की चर्चा का महत्त्व युद्ध-प्रसंग ही में है। जैसे आत्मा के अमरत्व पर गीता का संदेश कुक्षेत्र में ही दिया गया।

(पृ० ५१) 'आसक्ति में संकीर्णता' इस पर गीतांजलि का एक अंश याद आता है जिसमें यह पंक्ति है, 'दीपक क्यों बुझ गया ? मैंने ही तो उसे अपने अंचल में बंद करके सँभालना चाहा था ! नदी क्यों सूख गई ? मैंने ही तो उसके बाँध-बाँधे थे !'—आदि। रवीन्द्रनाथ का भी विश्वास यही है कि साहित्य पूर्ण-मिदं से 'आनंदरूपम् अमृतम्' की ओर अग्रसर हो रहा है। (देखिए 'साहित्य'; पृ० ५१) व्यथा-विसर्जन—वेदना-दान। यथा—

'मोम की प्रतिमा पर अनजान, वेदना का ज्यों छाया-दान'

—महादेवी वर्मा ('रश्मि')

बिलगाव, यथा—

'मोरी बिलग बिलग बिलगाई हो...'—कबीर

(पृ० ५१) द्वित्व, यानी, 'हाँ' और 'ना' दोनों का निषेध जैनेन्द्र कभी नहीं करना चाहते। यदि 'हाँ' और 'ना' दोनों तजकर कोई अपने ही गर्व में सना, यह कहे कि जो मैं कहूँ वही अन्तिम है, तो उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे बौद्ध शून्यवादियों का तर्क परमात्मा के संबंध में अर्थहीन नकारान्त में समाप्त हुआ। लक्ष्यहीन स्याद्वाद् भी ऐसी ही निरर्थक स्थिति पर जाकर टकरा सकता है।

(पृ० ५१-५२) नीत्से और शोपेनहार का साहित्य साथ साथ पढ़ें या हिटलर की आत्मकथा (My Struggle) और गोर्की का उपन्यास 'माँ' साथ साथ पढ़ें, तो शक्ति-पूजा और उसके प्रति विद्रोह के दर्शन स्पष्ट हो सकते हैं।

(पृ० ५१-५२) बहुत लोग भारतीय अथवा दर्शन-प्रधान साहित्य को हतबलों का अल्पप्राण निर्वीर्य साहित्य कहकर आरोप करते हैं। और कहते हैं कि छटपटा देनेवाले बुलंद, गरम साहित्य में बल के दर्शन होते हैं। परन्तु बल ही अन्तिम नहीं है, उसके साथ करुणा भी चाहिए। निर्दय बल दयनीय है।

१३ प्रेमचंदजी की कला

लेख अत्यंत स्पष्ट है। अलोचना से अधिक इसमें उपन्यास की आत्मा पर विचार हैं। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि प्रो० जनार्दन भ्वा 'द्विज' द्वारा लिखित पुस्तक

२०० :: जैनेन्द्र के विचार

‘प्रेमचंद की उपन्यास-कला’ में बाह्य रूप की ही अधिक एवं आत्मा की कम विवेचना हुई है। प्रेमचंद की कहानियों के अनुवाद भारत की प्रायः सभी भाषाओं में, तथा रूसी और जापानी भाषाओं तक में, हुए हैं। मास्को युनिवर्सिटी के हिन्दी अध्यापक प्रो० ए० बॅरोनिखाँव का ‘द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ’ में लेख देखिए। प्रेमचंद-स्मृति-अंक में जैनेन्द्र का ‘प्रेमचंद, मैंने क्या जाना और पाया’ लेख मननीय है।

(भारत—सन् १९३० में प्र०)

१४ नेहरू और उनकी कहानी

इसमें पुस्तक की आलोचना कम और व्यक्तित्व की अधिक है। घटनावली तो निरी खबरों की तालिका है, परन्तु आत्मगाथा, उससे अधिक, आत्मा की कहानी होती है।

(पृ० ६६) नीत्से, जो जन्मभर शोपेनहार का कट्टर विरोधी था, मरण समय यह कह गया कि ‘शोपेनहार भला आदमी था।’ वैसे ही ईसा का क्रूस पर अन्तिम वचन था ‘पिता क्षमस्व, ते न जानन्ति’।

आरंभ में नेहरूजी के बचपन की यादगारों का काश्मीरी सौंदर्य मूल पुस्तक में से ही पढ़ने की चीज है। आगे समाज-सुधारकों का जहाँ जिक्र है (पृ० ६७-६८) वहाँ मालवीयजी, लाला लाजपतराय, और कुछ अंशों में मोतीलालजी की ओर भी निर्देश हैं।

पं० मोतीलाल समाजवादी नहीं थे। वे प्रजातंत्रवादी स्वराज्य पार्टी के पक्ष में थे। परन्तु जवाहरलाल समाजवादी अर्थात् रूसी-स्वराज्य चाहते हैं। यहाँ सभ्यता के स्व-राज्य पर महात्माजी का विशेष कटाक्ष है जो कि चाहते हैं। सर्वांशतः भारतीय स्वराज्य। भीड़ की मनोवृत्ति (नीत्से ने जिसे Herd-morality और Crowd-Hysteria कहकर व्यंग कसे थे) जिसकी आवश्यकता से अधिक पूजा रूसी राजनीति में पाई जाती है, उसका पृ० ७० पर चित्रण बहुत स्वाभाविक है।—शेक्सपियर के ‘कॉरियालेनस’ और ‘ज्यूलियस सीज़र’ नामक नाटकों में भीड़-मनोवृत्ति (mob-psychology) के ऐसे ही क्षण-क्षण-परिवर्तित पहलुओं पर बहुत मजेदार चित्रण किया गया है।

(पृ० ७०) पर के अंग्रेजी वाक्य का अनुवाद—‘जहाँ गांधी में महत्-पूर्णता है वहाँ जवाहरलाल को एक दिव्य दुःखान्त पात्र समझिए। चाहो तो गाँधी को मानवोपरि कह लो, पर जवाहर तो अंतरतः मानव—सर्वथैव मानव है। ऐसा मानव कि हम सहम जायें।’

लेख में जहाँ जहाँ ‘वासना’, ‘रोमान्स’, ‘असंलग्नता’ का अभाव आदि शब्द आये हैं वहाँ उनका अर्थ आत्मलग्न व्यामोह से है। ‘वे स्वयं’ और ‘व्यक्तित्व’ दोनों में अंतर समझना चाहिए। व्यक्तित्व वह, जो अभिमतों से ऊपर उठकर अंतर-सत्य की एकता का प्रतिनिधि हो।

(पृ० ७१) शिवाजी, लेनिन, कृष्ण, नेपोलियन, ईसा, गाँधी, ईश्वरचंद्र विद्या सागर रॉसे मेकडोनाल्ड, गोर्की, हिटलर, मुसोलिनी, स्टैलिन, डोलोरस पेंशेनेरिया आदि महान् व्यक्ति गरीबी में जन्में, कष्टों में पले। किन्तु जवाहरलाल को तो पिता की मृत्यु पर न जाने कितने लाख रुपयों का बीमा ही मिला।

(पृ० १३०) जवाहर के हृदय की सच्चाई तो इसी से झलकती है कि पुस्तक में एक जगह लिखा है *I am a misfit everywhere and at home nowhere*। इसी वाक्य को लेकर मराठी पत्र 'प्रतिभा' के जनवरी १९३७ ई० के विशेषांक में प्रकाशित श्री० के० क्षीरसागर की नेहरू-चरित्र की आलोचना काफी मार्मिक और जैनेन्द्र के लेख के साथ साथ पढ़ने लायक है।

जवाहरलाल के लौकिक व्यवहार में यद्यपि आज की बौद्धिक अमीरी (=Intellectual Aristocracy) व्यक्त हुए बिना नहीं रहती तो भी उनके 'इन दी ट्रेन' (मार्डन रिव्यू) जैसे छोटे छोटे लेखों में अथवा 'आत्म-चरित' के 'देहरा जेल में' 'धर्म', 'गाँधी एक विरोधाभास' आदि सुंदर प्रकरणों में उनकी साहित्यिक और कलात्मक (जैनेन्द्र के दार्शनिक अर्थ में) आत्मा के खूब खुलकर दर्शन होते हैं।

('सैनिक' में प्रकाशित कई पत्रों में उद्धृत, और मराठी गुजराती में अनुवादित)

१५ आप क्या करते हैं?

यह जैनेन्द्र का एक टिपिकल (खास ढंग का) लेख है। इसमें हास्य की पुट के साथ सुकरात के जैसे संवाद द्वारा स्वयं बुद्ध की भूमिका लेकर दुनिया का बुद्धपन दर-साया गया है, एवं व्यवहृत नीति के तत्त्व पर व्यंग किया गया है। लिपिपट की यात्रा लिखने वाले स्विफ्ट ने जिस प्रकार राज्य-पद्धति की आलोचना की थी, वैसे ही इस लेख में कर्ममीमांसा व्यंजित की गई है। बात वही है जो गोता के निष्काम-कर्म में है, पर दुनियावी उपयोगिता के मूल्य की कच्चाई और मनमानेपन को किस मजे से अप्रमाणित किया गया है, साथ ही स्थूल समाज-समस्याओं को सूक्ष्म दशन के शासन से कैसे देखा गया है, यह भी दर्शनीय है।

(‘भारत’ में प्र०)

१६ कहानी नहीं

यह जैनेन्द्र का सबसे मजेदार मनोविश्लेषणात्मक निरीक्षण है। मानवता का जो अन्तर्तन्तु सबमें समव्याप्त है वह 'बुर्जुवा' दिल से भी, चाहे वह कितनी ही कोशिश क्यों न करे, कैसे हटाये नहीं हटता, इसे बड़ी घरेलू और बहती हुई संवादात्मक शैली में दर-साया है। इस लेख की उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी मार्क की है।

भिखमंगों का सवाल जेलों से नहीं हट सकता। वह तो एक ही चीज से हट सकता

२०२ :: जैनेन्द्र के विचार

है और वह है विश्वव्यापी सहृदय मानवता का ध्यान। इसी कहानीनुमा लेख के सिल-सिले में जैनेन्द्र की 'साधु का हठ' कहानी भी पढ़नी चाहिए।

(‘भारत’ में प्र०)

१७ राम-कथा

झूठी ऐहिक मान्यताओं पर जो व्यंग्य-पुट-सहित समीक्षण जैनेन्द्र ने किये हैं उसमें ‘राम-कथा’ अपना विशेष मनोविज्ञानिक महत्त्व रखती है। इसमें भी वही तर्क-पांडित्य की निषेध है और शैशव-श्रद्धा को महत्त्व दिया गया है।

पृ० ८७ पर जो पश्चिमी लोक-वाक्य निर्देशित है, उसी का भाव कार्ल मार्क्स के ‘धर्म गुलामों को अपनी पराधीनता भुलानेवाली अफीम है,’ इस वाक्य में पाया जाता है और इसी को का० मानवेन्द्रनाथ राय ‘इन्डिपेन्डेंट इण्डिया’ के कालमों में कैसी निष्ठा के साथ दुहराया करते हैं !

राम-नाम की महिमा तो है ही, परन्तु श्रद्धा के बल पर ज्यादा जोर दिया गया है। जैनेन्द्र का जान-बूझकर पांडित्य से भागना स्पष्ट है। वे प्रेम द्वारा ही ज्ञान-प्राप्ति को मानते हैं।

(‘हंस’ में प्र०)

१८ जरूरी भेदाभेद

यह कहानीनुमा लेख आदर्श और व्यवहार की परस्पर विसंगति पर बड़ा ही सुंदर और मार्मिक व्यंग्य वन पड़ा है। जैनेन्द्र की समाज-विषयक समीक्षाओं में मैं इसे सर्वोत्तम मानता हूँ। इसमें सकारण हास्य है, जो साहित्य की सफलता की अंतिम कसौटी समझिए। इससे हठात् वाल्टेयर के मर्म-व्यंग की, साथ ही जी की सचाई की, याद हो आती है।

समाज-वाद कैसे अपने आप में असंभव है और अधार्मिक होकर नहीं जी सकता, यही तत्त्व इस लेख में अभिप्रेत है।

नीत्से ने एक जगह कहा है—‘Whom do I hate most among all the rabble of to-day ? The socialist, who undermines the working man’s instincts, who destroys his satisfaction with his insignificant existence, who makes him envious and teaches him revenge.’

इतनी कठोरता अनुपयुक्त है सही फिर भी इस लेख से एच० जी० वेल्स के ‘साम्यवाद-आलोचन’ की अवश्य याद आ जाती है।

‘अभेद’ में जैनेन्द्रजी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। ‘कल्याण’ मासिक ने सिर्फ यही अंश और ‘भारत’ ने इसके बाकी दोनों अंश ‘विश्वमित्र’ से उद्धृत करके छापे थे। मुमुक्षु की प्रारंभिक अवस्था पर छान्दोग्योपनिषद् में प्रजापति और इंद्र का आत्मज्ञान-विषयक संवाद जिस प्रकार जागृति, स्वप्न, और सुषुप्ति आदि

अवस्थाओं का उल्लेख करता है उसी प्रकार का कुछ संकेत इस रात्रि-अनुभव में संनिहित है। 'धीरे धीरे उतर क्षितिज से ओ वसंत रजनी' या 'ओ विभावरी' (—श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०) या श्री मैथिलीशरणजी की 'सो मेरे आशवासन सो, मेरे अंचल-धन सो' (—'यशोधरा') या श्री सरोजनी नायडू की 'एक लोरी,' (—'a little, lovely dream —cradle song') अथवा श्री तांबे के मराठी 'अंगाई गीत' के जैसा कुछ आनंद इस परिच्छेद में आता है।

पृ० ६६ पर की अस्मिता से 'तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ' यह कबीर की उक्ति याद आती है।

१६ उपयोगिता

इस निबंध में जैनेन्द्रजी ने साधारण मनुष्य का, दुनियादारी में फँसे हुए व्यवहार कुशल कहलाने वाले आदमी का, जो निकट-प्रश्न रहता है कि 'इससे क्या लाभ?' 'क्या फायदा?' उसका जवाब देने की कोशिश की है और बताया है कि प्रायः एक बात हिसाबी माने में उपयोगी न कही जाय, किन्तु फिर भी उस पर विश्व का सद्भाव टिका है। यही सार सत्य अपनी कथात्मक शैली में वचन की कहानी से प्रारम्भ करके समझाया है।

पृ० १०३ पर 'ईश्वर ही है' वाली बात से गालिब का शेर याद आता है—

'न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता।

डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता?'

यह जैनेन्द्र की तर्क करने की हमेशा की पद्धति है कि वे एक वस्तु को उसके बड़े जातीय वृत्त (=Species) में देखेंगे और फिर उसे उससे बड़े वृत्त में और श्रेणी (=series) गणित शास्त्र के ∞ के समान अन्त तक पहुँचा देंगे। वे प्रत्येक लौकिक मान्यता-धारणा और मूल्य के आगे एक महत्-तत्त्व अवश्य देख लेते हैं। और उस आकाशवत् अति गूढ़, चारों ओर से मुक्त बृहत्तम महत्-तत्त्व का प्रार्थी इस लौकिक तथ्य को बतलाते हैं। वह महत् तत्त्व वास्तव में सत्य-भाव है परंतु प्रत्यक्ष में वह बहुत कम पाया जाता है। 'वास्तव के वायवीकरण (=Rarification) की इसी तरह की तर्क-प्रणाली का आश्रय वैशेषिक पंथ के नैयायिक 'धटाकाश—महाकाश' आदि कहकर लिया करते थे। रस्किन ने भी अपने 'अन्टू दी लास्ट' में, मिल इत्यादि तत्कालीन अर्थशास्त्रियों के मनुष्य को 'जरूरतों का गट्ठर' दिखाने के प्रयत्न पर खासा व्यंग लिखा है।

(पृ० १११) नीत्से ने जिसे कूप-मंडूक-दृष्टिकोण (=Frog-perspective) कह कर पुकारा है वैसा ही हास्यास्पद प्रयत्न कुछेक अँग्रेज कवियों ने राष्ट्राभिमानी गीत लिखते हुए किया है। 'सोलजर' कविता में कवि ने यहाँ तक कह डाला है 'English Sky

२०४ :: जैनेन्द्र के विचार

English air !' अत्याधुनिक राजकवि रडयर्ड किपलिंग ने भी अपनी 'रिसेशनल' कविता में 'We the favourite children of God' कहकर और ईसा के महात्मापन को पक्षपातरंजित बताकर उसे अपमानित किया है।

ज्यामिति-द्वारा परमात्मा सिद्ध करने की प्लेटों की शैली भी अपनाई गई है। ज्यामिती से गूढ़-तत्त्व पर्याप्त रूप में ग्राह्य और स्पष्ट होकर सामने आ जाता है।

(‘हंस’ में प्र०)

२० व्यवसाय का सत्य

इस लेख में काफी व्यावहारिक और बहुत कम दार्शनिक बनकर बात शुरू की गई है। बर्नर्ड शां ने जैसे अपने 'इण्टेलीजेंट बुइमन्स गाइड टू सोशलिज्म' में कहा है 'What is called saving is only making bargains for the future' (Page 6) उसी तरह रुपये की गतिशीलता पर यहाँ विचार किया गया है। इन्वेस्टमेण्ट का असल अर्थ और फामूलावद्ध अर्थ-शास्त्र का उससे विरोध रस्किन की याद दिला देता है। शोलोखाफ की नई नाविल 'Virgin Soil Upturned' जिसने पढ़ी हो वही जान सकता है कि सिर्फ शासन-द्वारा-नियंत्रित 'सोशलाईजेशन' अथवा संयुक्त कृषि रूस में भी सर्वांशतः सफल नहीं है। जरूरत अर्थ-नीति में भी स्पिरिट के सुधार होने की है।

२१ हर और पास

यह अपने ढंग का एक मनोरम तत्त्व-प्रतिपादन है। इसमें कल्पना का माहात्म्य वर्णित है। साथ ही तटस्थता और सम्मान के अन्तर के साथ कैसे निकटता रक्खी जा सकती है, इस पर विचार है। खलील जिब्रान के 'प्रॉफेट' पुस्तक में विवाह पर एक गद्य काव्य है उसका एक अंश यहाँ तुलना के लिए दिया जा सकता है—

‘एक दूसरे को प्यार करो, पर प्यार का करार न बनाओ।

‘तुम्हारी आत्मा के दुकूल में प्यार एक हिलोर लेता समुन्दर बना रहे।

‘एक दूसरे का प्याला भर दो पर एक ही प्याले से न पियो।

‘अपनी अपनी रोटी में से एक दूसरे को दो, पर उसी रोटी में से मत खाओ।

‘साथ साथ नाचो, गाओ, खुशी मनाओ, पर तो भी तुम में से हर एक अकेला रहे।

‘—उसी तरह जैसे वीणा के तार अकेले हैं तो भी उनमें से एक ही रागिनी निकलती है।’

भावना और कल्पना के समुचित सामंजस्य के अभाव में ही आज दुनिया में इतनी वेदना और गलतफहमी फैली हुई है। हर हालत में ठीक 'प्रपोशंन' ख्याल में रखने की जरूरत है।

२२ निराश्र-बुद्धिवाद

यह लेख जैनेन्द्रजी के दर्शन की कुंजी है। 'शुतुरमुगं-नीति'—अंग्रेजी में तो कहावत पड़ गई है 'आस्ट्रिच पालिसी'।

समस्त विश्वास को शंकित मानने से मनुष्य किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सकता। यही बात सुन्नी के उदाहरण से लक्षित है। पश्चिमी दर्शन में सुविख्यात शंकावादी डेविड ह्यूय ने इसी प्रकार तर्क द्वारा सभी मान्यताओं को खोखला कर डाला था।

हर्बर्ट स्पेन्सर, शोपेनहार और उपनिषत्कार इसी प्रकार अज्ञेयवादी थे। उनके मत से साध्य चाहे प्राप्य हो या अप्राप्य, मानव की निरंतर कर्मशीलता में बाधा नहीं आनी चाहिए।

मैकडूगल आदि आधुनिक मनोविज्ञानिकों ने भी भय को आदिम मानव की प्रथम मूल-वृत्ति माना है और जो डर से डरने का प्रयत्न करते हैं वे निश्चय डर से बचना चाहते हैं।

(पृ० १२६) श्रद्धा का अर्थ अंध मोह नहीं है। विशुद्ध श्रद्धा निर्भीक होती है। ऐसे ही मीरा कहती थी 'संतन ढिग बैठ बैठ, लोकलाज खोई...'।

मौत के संबंध में 'चढ़ा मन्सूर शूली पर पुकारा इस्कवाजों को, यहां जिस जिसमें हिम्मत हो वही खम ठोककर आये' किवा रवीन्द्रनाथ का 'मरण जे दिन आसे दुवारे, की दिव उहारे' या कबीर का 'मरण रे तुहुं मम श्याम सभान' अथवा उमर खय्याम का फरशि-अजल का रूपक, या मैथिलीशरणजी की 'यशोधरा' का 'मरण सुंदर बन आया री, शरण मेरे मन भाया री' या श्रीमती महादेवी वर्मा का 'ओ जीवन के अंतिम पाहुन' या 'एक भारतीय आत्मा' का 'अरी ओ दो जीवन की मेल' आदि याद हो आते हैं।

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि' गीता के इसी अमर संदेश को हँसते हँसते कहते हुए कन्हाई दत्त का वजन फाँसी के तख्ते पर बढ़ गया था। यह सब श्रद्धा का फल है। लेख के अन्त में मेरे द्वारा पूछा हुआ प्रश्न लेख के दृष्टि-कोण को और भी स्पष्ट कर देता है।

(‘हंस’ में प्र०)

२३ प्रगति क्या ?

लखनऊ में कांग्रेस के साथ साथ 'प्रोग्रेसिव राईटर्स' या प्रगतिशील-लेखक-संघ की ओर से एक जलसा हुआ था। उसके द्वारा प्रगतिशीलता के संबंध में जो गलत धारणायें हम अपने राष्ट्र-जीवन में पोस रहे हैं उनका विरोध जैनेन्द्र ने अपने भाषण में किया था। वही विचार यहाँ लिखित हैं।

(पृ० १३५) वोज्ञान्वये जैसे आधुनिक आदर्श-वादी तार्किक (=Idealistic Logicians) 'न' कार का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते।

. कैंटेने देश और काल को मनुष्य की बौद्धिक इयत्तायें, शर्तें या (categories of

understanding) माना था जिनसे परिज्ञान-सामग्री छन कर आती है और भाव-रूप पकड़ती जाती है। हमारा ज्ञान देश-काल-सीमाओं से स्वतंत्र नहीं है। किन्तु इसी से हमें अपने को स्वतंत्र सत्ताधिकारी नहीं मानना चाहिए, जैनेन्द्र का यह तर्क 'कॉम्प्ट' जैसे स्वीकारवादी (=Positivist) और 'ह्यूम' जैसे शंकावादी ने नहीं माना था। पर वह कथा बारीक है और बहुत है। विशेष जिज्ञासु ए० अलेक्जेंडर की 'Time, Space and Deity' (काल, आकाश और देवता) पुस्तक पढ़ें।

देश-काल के माप-दंडों से अलिप्त, मात्र आकाश की, अलग कोई शून्य-सत्ता है, ऐसा बौद्ध मानते थे। परंतु सामान्य मनुष्य न यह समझ पाता है न प्रतीत कर सकता है।

डायोनिस्स नामक ग्रीक दार्शनिक जीवन से ऊब कर एक पीपे के अंदर औंधा मुंह करके बैठता था। वैसे ही ग्रीक-दर्शन में दो विचार धारायें चली थीं। एक ओर परमेनाईडस और उसके शिष्य थे जो कहते थे "सब स्थिर है, सब स्थिर है।" दूसरी तरफ हेराक्लीटस के शिष्य थे जो कहते थे "सब परिवर्तनशील है, सब परिवर्तनशील है।" ऐसे ही 'गति के शिकार' यानी गत्यंध बौद्धों में शून्यवादी भी थे जो कहते थे, 'क्षणिकम्, क्षणिकम्, सर्वम् क्षणिकम्'।

(पृ० १३५) कार्ल मार्क्स ने हेगेल के 'डायलेक्टिक्स' शब्द में ऐतिहासिक विशेषण जोड़कर अपना एक नया ऐतिहासिक भौतिकवाद (=Historical materialism) पैदा किया था। जैनेन्द्र उसके विरुद्ध एक अभौतिक किंतु चिर-प्रस्तुत ऐतिहासिक शृंखला को लक्षित कर रहे हैं।

(पृ० १३६) गणित के उदाहरण से ग्रीक स्थिरतावादी दार्शनिक 'जीनो' के बहुत विचित्र तर्क की याद आ गई। वह कहता है कि, "समझिए, कोई तीर यहाँ से फेंका गया। वह प्रत्येक क्षण देश के प्रत्येक अणु में स्थिर रहेगा,—यह खंडशः देखने से पता चलता है; इसलिए, तीर चलता ही नहीं।" 'गति भ्रम है,' इस तत्त्व पर जीनो अपने गलत एकान्तवाद की वजह से पहुँचा था।

सारांश, प्रगति-विचार में जैनेन्द्र, नकारात्मक पद्धति, एकान्तवाद तथा अतीत को भुला देने की नीति गलत समझते हैं। ('हंस' में प्र०)

२४ मानव का सत्य

इस लेख से श्रीसुमित्रानंदन पंत की सर्वोत्तम कविता 'परिवर्तन' की याद आ जाती है। टेनीसन की पंक्ति Men may come and men may go, but I go on for ever और शेली की 'बादल' ('cloud') कविता में 'I chang, but never die' का भी भावार्थ इसी प्रकार है। मनोविज्ञान ने भी मन की दो मूल वृत्तियाँ मानी हैं; एक संग्राहक, दूसरी रचनाशील। संग्राहक वृत्तियों का संचय जहाँ विद्यमान चेतना के

तल-पृष्ठ में गया कि वह मिटता हुआ जान पड़ता है। पर वास्तव में मिटता कुछ भी नहीं।

बर्ले ने एक जगह लिखा है कि हम जुलूस को सबसे अच्छी तरह तभी देख सकते हैं जब हम उसमें के कोई न होकर उससे अलग एक हों। यह पृथक् तटस्थता प्रत्येक विचारक को अपेक्षित है।

यूनानी दार्शनिकों में अरिस्टाटल के अवसान के बाद दो पंथ चल गये; एक थे स्टॉईक; दूसरे, सायरेनिक। स्टॉईक थे निराशावादी और सायरेनिक कट्टर पवित्रतावादी। 'स्टॉईक रेजिग्नेशन' (Stoic Resignation) का अर्थ हुआ जगत् से मुँह मोड़ लेना, जैनीयों में कर्मास्त्रव का निजंरा-प्रयोग भी कुछ ऐसा ही है।

(‘माधुरी’ में प्र०)

२५ सत्य, शिव, सुंदर

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस पद का जन्म अरिस्टाटल से बताया है। रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ इसे ब्रह्मसमाजी व्येय बनाकर संस्कृत-रूप में भारत में लाये। फिर तो बंगला की छाया से हिन्दी में भी इसकी धूम मच गई।

(पृ० १४५-१४६) यही आदर्श जो महा-वाक्यों का बताया है महान् मनुष्यों के जीवन का भी होता है। विक्टर ह्यूगो ने कहा है ‘to appear yielding, yet to be unapproachable is greatness’ या वर्नार्ड शॉ ने एक जगह कहा है, ‘Greatness is but a sensation of littleness’। स्वामी राम ने भी परमात्मा की एक विलक्षण परिभाषा दी है, ‘To be active in inaction is God’।

संज्ञा और भाव में अन्तर इतना ही है, कि एक भान के और दूसरा ज्ञान के अर्थ में आता है। Notion और Conception इन प्रायः समानार्थी शब्दों को लेकर पाश्चात्य दर्शन में लॉक और बर्ले के बीच में बहुत बड़ा विवाद चल गया था।

‘तात्कालिक शिव-वादी और सुन्दर-वादी’ वे हैं जो आज युद्ध इष्ट है, तो उसी का समर्थन करनेवाले अथवा आज एक पद्धति सुंदर मानी जाती है तो उसी पर पन्ने रंगने वाले यथा अंग्रेजी पत्रों में फैशन संबंधी स्तंभों के लेखक।

पृ० १४८-१४९ पर दिया हुआ विश्वव्यापी क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सिद्धान्त (बीदों का ‘प्रतिपत्ति—समुत्पाद’) निम्नलिखित रूप में प्रतिफलित पाया जाता है—

स्थापत्य—यूनानी नग्न मूर्तियाँ, रोमन परिवेष्टित मूर्तियाँ या महावीर और बुद्ध-काल की इसी प्रकार की दिगंबर और सवसन मूर्तियाँ।

वास्तु—वेस्ट मिनिस्टर ऑफ़ और आज की अमेरिकन शैली की इमारतें। उपयोगिता की सौन्दर्य पर विजय।

संगीत-साहित्य—रीतिकाल की प्रतिक्रिया में भूषण, और कबीर की प्रतिक्रिया में विद्यापति। पक्के गाने की प्रतिक्रिया में मुस्लिम-प्रभाव-लांछित ह्याल-ठुमरी की

२०८ :: जैनेन्द्र के विचार

संस्थायें ।

दर्शन-संस्कृति—स्टॉईक और सायरेनिक, चार्वाक और वेदान्त दर्शन में परस्परालंबित ऐतिहासिक क्रम ।

समाज-नीति—वर्बर से सभ्य । अब अति-सभ्य की Back to Nature की पुकार । रूस में स्वच्छंदता विरोधी कानून । अमेरिका की नैतिक दशा ।

राजनीति—प्रजातंत्र की आवाज से, लोक-क्रान्ति से किसी क्रामवेल, नेपो-लियन, स्टैलिन, हिटलर या अन्य तानाशाह का जन्म । साम्राज्यवाद में से पुनः स्वातंत्र्य की ओर पुकार । यथा—आयरलैंड का स्वातंत्र्य युद्ध, स्पेन, और वर्तमान भारतवर्ष ।
(‘हंस’ में प्र०)

२६ बसंत आया—आश्रो

वैसे जैनेन्द्रजी ने गद्यकाव्य बहुत ही कम लिखे हैं । इसे उनके विचार-प्रवाह की दिशा का एक निदर्शक समझकर दिया गया है । इसमें प्रकृति से मानव का सौहार्द-ग्रहण,—एक प्रफुल्ल पूर्णता की प्राप्ति, अभिव्यक्त है । इस प्रकार का भाव-स्वप्न, जो ‘जरूरी भेदाभेद’ के ‘अभेद’ में भी है और लाजवाब है । इसकी शैली में अवश्य कुछ खलील जिब्रान का मजा आता है । मगर इसे लेखक ने खलील पढ़ने के बहुत पहले लिखा था ।
(‘चित्रपट’ में प्र०)

२७ नारी के प्रति

इस गद्य-काव्य की भूमिका समझना पहले जरूरी है । एक सत्य का सिपाही असत् के साथ (वह वासना हो, विद्वेष हो, अन्याय हो या अनृत हो) लड़ाई ठानने जा रहा है । उसकी पत्नी जो माता भी है, रो रही है, चरण पकड़कर उसे रोक रही है । उसे डर है कि कहीं वह (पुरुष) असत् की लड़ाई में ही न खप जाय । पर पुरुष उसे उसी ‘हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्’ जैसी विजयाह्लाद-प्राप्ति का आदेश देता है । इसी तरह का कुछ भाव, जिसमें कर्तव्य प्रधान हो और व्यक्तिगत प्रेम गौण बताया जाय, ‘परस्व’ के अन्त में और ‘परदेसी’ में है ।

नारी को मातृत्व की चेतना मिलने पर, यानी पुरुष द्वारा उसे अपनी सार्थकता का प्रतीक पुत्र प्राप्त होने पर, निरर्थक होने का अवकाश ही कहाँ बचा रहता है,—यह दर्साया गया है । ‘King of England never dies’ इस प्रकार से सती का सुहाग पति के चले जाने से या मर जाने से नहीं टूटता । यही अखंड-सौभाग्य ‘सुनीता’ में श्रीकान्त के लाहौर चले जाने पर जागरित हुआ था । यही बात उनकी ‘ब्याहो ?’ कहानी में बड़ी मार्मिकता से विशद हुई है, अर्थात् पुरुष का प्रेम संकुचित या स्वत्व-सीमित नहीं होना चाहिए ।

यहाँ मुझे एंटन चेखोव की ‘डालिंग’ कहानी पर टालस्टाय की टिप्पणी जो

‘कला क्या?’ पुस्तक में है, याद आती है। प्रो० वा० म० जोशी के दार्शनिक उपन्यास ‘सुशीलेचा देव’ में नारी पर इसी प्रकार का प्रबुद्ध विचार ग्रथित है।

(‘चित्रपट’ में प्र०)

प्रश्नोत्तर और पत्रांश

प्रश्नोत्तरों और पत्रांशों पर अब लिखने को स्थलाभाव है। सिर्फ इतना कह देना चाहता हूँ कि अधिकांश प्रश्न मेरे पूछे हुए हैं और कुछ श्री ‘रंजन’ जी के हैं। पत्रांशों में श्री द्रविड वी० एस-सी० को भेजे हुए दो पत्रों के अंश हैं। बाकी मेरे हैं। मैं चाहता हूँ कि जैनेन्द्रजी के पत्रों की अलग से एक दूसरी किताब निकले। मेरी सभी हिन्दी-साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियों से विनय है कि जिन जिनके पास जैनेन्द्रजी के साहित्यिक या वैचारिक दृष्टि से मूल्यवान् पत्र हों, उन्हें मेरे पास ‘माधव कॉलेज, उज्जैन’ के पते पर भेज दें। असल में तो जैनेन्द्र ही क्यों, सभी महान् चिन्तक-साहित्यिकों के पत्र-संग्रहों की जरूरत है। इस दिशा में जो भी प्रयत्न हों, आवश्यकिय हैं।

□ □

संदर्भ-सूची

श्री	७७	अपूर्णता-विज्ञान	१७६
श्री प्रेमचन्द	५६.५६	अ-बुद्धिवाद	१२५
अ		अभेद	२, ६७
अकल्पनीय	१४७	अभेद-अनुभूति	२, ७
अखिल (Macrocosm)	१७४	अमर सत्य	१५६
अखंडता, खंड खंड में—	१५६	अमृक-पंथी	१५६
अखंड सत्य	१८६	अर्थनीति	१०१
अचल	१४०	अल्पस्यायी	१५६
अचौर्य	१७३	अलाभ, आग्रहपूर्ण संग्रह में—	३४
अच्छा और बुरा	१६७	अलिप्तता	१६१
अच्छे बुरे के लिमिट्स (Limits)	१६७	अवकाश	१३३
अणु (Microcosm)	२४, १७४	अवास्तव	५
अति मानव	३६	अवास्तव कला	१८१
अध्यात्म	११८	अव्यवसाय	११६, ११७
अनात्म की सेवा	५३	अविवेक का आतंक	४६
अनासक्ति का अधिकार	१६१	अश्लीलता	२७
अनिर्वचनीय	१४७	अश्लील साहित्य	१६०
अनुबंध	१६६	अश्रुमती गीतम	१८६
अनुभूति, विराट की—	२	असत्	१४६
अनुभूति संघ	७, १३४	असत्य	१८३
अनुरक्ति और विरक्ति	१०६	असली सेल्फ (self)	१८५
अनैक्य और वैषम्य, मिथ्या—	१६	अस्तित्व, सीमित—	१३
अनंत और सांत	१२३	अस्मिता	६६
अनंत जीवन	१३४	अस्वीकृति	८८
अनंत शून्य	२६	असाधारण	४०
अपना-परायण	२१	असाहित्यिक	१५७
अपमानव	३६	असीम	१३
अपरिग्रह	१७३	असंलग्नता	१२२
अपरिवर्तनीय	१५६	अधिकांशीय अहंकारीय	
अपूर्णता	४४	बुद्धि	१२२

२१२ :: जैनेन्द्र के विचार

ग्रहम्	१०६	आर्टिस्ट	१८५
ग्रहम्-कृत धारणा	११०	आलोचना	१, ५६
ग्रहम्-चक्र	११०, १६५	आलोचना, कॉलेजीय विद्वानों की	५६, ८७
ग्रहम्-शून्य	२६	आलोचना में दूरी का महत्त्व	५६
ग्रहंकार	१, १८५	आलोचना—सच्ची कैसी हो ?	४०
ग्रहिणा	३१	आलोचक	१४
अक्षर-शब्द-वाक्य	३६	आसक्ति	२६, ५१
अज्ञात और अज्ञेय	१७६	आस्कर वाईल्ड	१८२
अज्ञानता	६८	आहरण अविनय	१२२
अज्ञेयता	१२३	आँख और दिलो-दिमाग	८३
अज्ञेयता-बादि	१२७	इ, ई	
आ		इज्जत (Ism)	२६
आकाश	१३४	इतिहास	३०
आग्रह, धारदार—	३३	इजर्जी (Energy)	११६
आग्रह, सत्य—	१६	इन्डिस्ट्रिक्टिविलिटी ऑफ मैटर	
आज और कल	१६४	(Indestructibility of matter)	१४२
आत्मचरित्र—आदर्श कैसे हो ?	७१		
आत्मनिवेदन	२३, ५४, १८३	इन्व्हेस्टमेन्ट	११३
आत्मनियमन—अर्थार्थ—	१४६	इस्मानियत	२३
आत्मलाभोन्मुख पुरुषार्थ	५२	इष्ट, अनिष्ट, शिव, सुन्दर	१४७
आत्मविसर्जन	२५	इस्लामी और फारसी साहित्य	१७६
आत्मसमर्पण	२	ईश-महिमा	५५
आत्मस्वामित्व	१०७	ईश्वर	२६, १६१
आत्महत्या	१७४	ईश्वराभिमुख	७
आत्मा और परमात्मा	१७६	ईसा	११, ४१
आत्मा, अंतर—	११०	उ	
आत्मा का केन्द्र-बिन्दु	११०	उपयोगिता	१०६
आत्मा सच्चिदानन्द—	१६	उपयोगिता की उपयोगिता	१११
आत्मापण ही आत्मोपलब्धि	३४	ऋ	
आत्मैक्य	४, १२४	ऋषि-वाक्य	१४५
आत्मोद्योग का अभाव	४७	ए, ऐ	
आदर्शवाद	१८६	एक	१००
आनंदहीन साधना और साधनाहीन आनंद	१४६	एकत्व-अनुभूति	१६
आबजेक्टिव (objective) विज्ञान	३८	एकस्वरता (Harmony)	३
आबजेक्टिव-इज्जत (objective-ism)	१७०	एकानामिक्स (Economics)	६८
आर्ट (Art) और रोटी	४२	ऐक्यबोध	३४
आर्ट फॉर आर्ट्स सैक (Art for Art's sake)	६१, ६३	ऐहिक, अपारलौकिक	१४८
आर्ट फॉर गॉड्स सैक (Art for god's sake)	६२, ६३	ऐंद्रियकता	१५६
		अं	
		अंग्रेजी पराबलवित्व का त्याग	४८

अंग्रेजी का मोह	४७	गतिशील	६
अंग्रेजी द्वारा बिलगाव उत्पन्न होना	४७	गवन	५६
अंतःसंबंध	१६	गर्वस्फीत शक्ति	१२
अंधता, कट्टर (Dogma)	१	गरीबी ग्रामीरी	२०
क		गांधी	२७, ४३, ६७, १७५
कबीर	५६	गांधी, धठड़ा मारना	१७४
कथावाचक	८८	गांधी, हिंसा	१७५
कमाई, सच्ची—	१७८	गांव और शहर	४७
कर्तव्य	१००	गीता	८०, ११६
कर्म	७४	गुण-रूप का भेद-विभेद	१७६
कर्मवेष्टित और कर्मसृष्टा मानव	१४५	गुलामी	१०६
कर्मकर्मविवेक	८१	गोतम बुद्ध	२७
कल्पना	१२१	घ	
कल्पना और भावना	१२३	घर और बाहर	३८, ३९
कल्पना की लचक	१२१	घ	
कला	१४	चल और अचल	१४०
कला और जीवन	१८१	चेतना	१३४, १७४
कला और नीति	१५०	चेतना घिरी नहीं है	४६
कलाकार और परमात्मा	६२	चैतन्य शुद्ध	१४७
कलाकार का हेतु	१८४	ज	
कलात्मक चेतना	१८२	जगत-घटना से लेखक का संबंध	१६२
कला, परिभाषा	१६	जनता	१८
कला में आत्मदान है	१८४	जनार्दननाथ	२१
कवि	२५	जमाना	१३६
कस्मै देवाय	१८	जमाने की खराबी	८२
कहानी	३०, ८३	जवान नेहरू	६७
कहानी का टेकनिक	१६६	जरूरी	१००
कहानी क्यों लिखते हैं ?	१६६	जवाहरलाल नेहरू	६६
कहानी—रूसी और फ्रेंच	१६७	जवाहरलाल और कांग्रेस	६६
काम और अर्थ	१७२	जवाहरलाल और गांधी	६७, ७०
कॉम्प्लेक्स (Complexes)	१८३	जवाहरलाल का जीवन चरित्र	६६
काल और देश	१३३	जवाहरलाल की आलोचना	१८६
काल और प्रदेश की रेखा	६४	जवाहरलाल की जन्म-परिस्थिति	७१
कांग्रेस	६६	जवाहरलाल की बुद्धि का फेर	६६
कोढ़ी	८५	जवाहरलाल के हृदय की सच्चाई	७२
कोलाहल	१३२	जवाहरलाल—मन की व्यथा	७०
कौशिक विश्वम्भरनाथ	६०	जवाहरलाल से निस्संगता का अभाव	७१
क्राइस्ट (christ)	२७	जवाहरलाल, स्वप्नदृष्टा—	६७
ग		जातीय आदर	४७
गति			९

२१४ :: जैनधर्म के विचार

विश्वास संशय नहीं है	३५	नये विचारों की लहर	२४
जीवन की भासा	५०	नारी	१५३, १५४
जीवन के प्रति मुक्ति	१३४	नास्तिक	१४
जीवन-दान	१४०	निर्मोह और अद्विष्टवाद	१३१
जीवन-नीति	१२७	निराशा	१४३
जीवन-प्रेरणा, अंतस्थ	५१	निष्काम	१२
जीवन में गरल को अमृत बनाना	५०	निष्काम हितैषिता	११
ट		निष्प्रयोजन काम	१४
टेक्निक (Technique)	१५५	निषिद्ध	६२
ड		निषेध	५१
डाक्टर (Doctor)	७७	निःश्रेयस	१८४
डेड मैटर (Dead matter)	११६	नीति अनीति की धारणाय	८
त		नूतन-पुरातन	१४०
तटस्थता और निकटता	१२३	प	
तर्क-सम्मत जीवन नीति	१२७	पत्नी	३८
तुलना की भ्रामकता	५२	पति-परायणता	३६
तुलसी	२८	पदार्थ	५
थ		पर-स्व	३७, १५५
थियरी (Theory)	२४, ३४	परम सत्ता	१५
द		परमात्म-तत्त्व और मूर्ति	१७३
दृष्टि, प्रमाणवादि—	१२७	परमात्मा	२६, ५५, १०३
द्वित्व	१, ५१	परमात्मा क्या काल्पनिक विकार है ?	१७३
द्विभेद	१३०	परिचय	७४
द्विविधा	६	परिभाषा	१
द्वंद्व	१, ३०	परिमित, फिर भी अनंत	१४२
देव, काम्य और धाराध्य	१४८	परिमिति	१३४
देवता	५	परिवर्तनीय और परिवर्तनकारी	१४४
देश काल-संस्कृति	१७०	परिवर्तनीयता	१४०
ध		परीक्षण और विफलताओं से	
धर्म	१४, ६७, १७४	घबराना नहीं	५०
धर्म-पालन	११	पर्सपेक्टिव (Perspective)	३७
धर्म सम्मुखता है	२५	पश्चिम	५१
धर्मों की अनेकता के कारण	१६३	पश्चिमी कहानियाँ	१६७
धारणा, फार्मूला (Formula) बद्ध	७	पश्चिमी साहित्य	५१
धार्मिक	१४	पक्षपात	२०
धार्मिक साहित्य का जन्म	१६३	पक्ष-सत्य	१०८
न		पाठक	३४
नकार	१४४	पात्र	३६
नग्नता	१७	पाटी से परे, बाहरलान	७३

संदर्भ-सूची :: २१५

पार्यंक्य	५०	प्रेम-धर्म	१४७
पारलौकिक	१४८	प्रेम, मानव—	१७०
पॉलिटिक्स (Politics)	६८, ११८	प्रेम, मुक्त	१७१
पिनल कोड (Penal code)	३३, १६७	प्रेमविमुख पढ़ना-लिखना	५६
पिंड और ब्रह्मांड	१२३	प्रेम-शक्ति का अकृति दान	२२
पुत्र	१५३	प्रेम, संकीर्ण और शुद्ध—	१७१
पुस्तक और जीवन	४३	प्रेय और श्रेय	१६६
पुस्तक के पात्र अशरीरी होते हैं	३४, ३५	प्लेटफॉर्म के भिखारी	८४
पूर्णपूर्ण	१४४	फ	
पैसा	१६	फलाकांक्षा	११८
पैसा, एक—	८५, ६६	फेन्च कहानी	१६७
पंच-तत्त्व	६	ब	
पंडिताई के राम	६१	बदलना	१४०
पंथ, मतवाद	६६	बरताव	१७०
प्रकट-अप्रकट	१६१	बात करना	७६
प्रकृति	१, ६६	बात करना, मतलब की—	७८
प्रकृति से युद्ध	१०६	बिन्हेयरिज्म (Behaviourism)	१७०
प्रगति	४६, १३२, १३६	बिंदु	६७
प्रगति निर्माण में है	१३६	बिंदु में समस्त ब्रह्मांड	६७
प्रगतिशील व्यक्ति के लक्षण	१३४	बुद्धि	७
प्रयोजन	१०८	बुद्धि—असंस्कारीय, अहंकारीय	१२२
प्रयोजन, लोककर्म	१०६	बुद्धि, ऐतिहासिक(Historical Sense)	१३५
प्रवृत्ति	१४७	बुद्धि और भाव	१८५
प्रवृत्ति और निवृत्ति	१४८	बुद्धि, ठगिनी	१३०
प्रश्नवाचकता	१	बुद्धिमत्ता और मूर्खता	१२६
प्रश्नोत्तर	१८४	बुद्धि, बादानुगामिनी—	१८७
प्राकृतिक विकासक्रम	१४३	बुद्धिवादी जवाहरलाल	७२
प्रारब्ध	१०६	बुद्धि, शुद्ध व्यावसायात्मिका	१३०
प्रेम	५५	बुद्धि, स्थूल—	१०७
प्रेम और आवेश	४६	बृहत्तर प्रज्ञेय	१२६
प्रेम और धृष्टि	१५४, १७०	बृहत् सत्य	६२
प्रेम, कलुषित और निर्विकार	६४	बोध	१
प्रेम के ढाई अक्षर पढ़े सो		बंकिमचन्द्र	६१
पंडित होय	२८, ५६	ब्रह्मचर्य	१७३
प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र	६२	ब्रह्मांड और पिंड	३६
प्रेमचन्द और कर्मभूमि	३६	भ	
प्रेमचन्द का पाठक को आकर्षित करना	६१	भय और निर्भयता	१२६
प्रेमचन्द—शक्ति	५६	भय और निर्भयता	१२६
प्रेमचन्दजी की सुलझन	६०	भविष्य और वर्तमान	१४१

२१६ :: जैनेन्द्र के विचार

भारत और धर्म	८८	मुक्ति-लाभ	४६
भारत राष्ट्र	४७	मूर्खता	७५
भारतीय संस्कृति-तत्त्व	४७	मूर्ति	३, १७३
भावना और वासना	६६	मूर्तिक और समूर्तिव	१४६
भाषा	३२	मूल्य, वस्तुओं का	१२०
भाषा का परिष्कार	३२	मूल्य, रुपये का	११५
भाषा का व्यभिचार	१५६	मृत्यु के प्रति निर्भीकता	१३४
भाषा का माध्यम	४६	मैथिलीशरणजी	१८५
भिखमों का सवाल—क्या जेल से		मोह और अहंकार	१२४
हल होगा ?	८५-८६	मोह, दूरीजन्य	११६
भूषण की कविता	१६४	मोक्ष	६८
भेद	६३	मोत	१२७
म		मोत से बचने का मार्ग-धर्म	१२८
मतवाद पंथ	६६	मृ	
माध्याकपण	१११	यथार्थ	१०७
मन की विचित्रता	८६	यवन	१६४
मन-वचन-कर्म का ऐवय	५७	युद्ध	५०
मनुष्यता	२०	युद्ध और शांति	१७१
मनुष्य में कलह-प्रवृत्ति	१७१	युवक, यौवन	१०५
मनोविज्ञान के नियम	३५	योगी	१५५
मनोविज्ञान के नियम-बंधन	३५	योगः कर्मसु कौशलम्	११६
मनोविज्ञान शास्त्र	१७०	र	
मरणशील मानव	१५६	रविबाबू	३७
महत् तत्त्व	१४५	रविबाबू का घर और बाहर	३७, ३८, ३९
महत्ता	१४७	रवीन्द्र	६१
महत् भावना की मदिरा	१५६	रस	१५६
महात्माजी	२६	राग-द्वेष	१७१
महाभारत और रामायण	१५८	राजकवि	७६
महावाक्य और आत्मानुभव	१४५	राजनीति	४५
मानव का सत्य	१४०	राजनीतिक कर्म और साहित्य—	
मानव प्राणी की श्रेष्ठता	१०५	परिपोषण	५५
मानव-प्रेम	१६५	रात	६८
मानवीय कॉन्टेक्स्ट (Context) और		राम	२६
उपन्यास	४०	राम-कथा	१८३
माया	३७, ६४	राम, पंडिताई के—	६२
मासेज और क्लासेज (Masses and		राम, बच्चों के—	६०
classes)	२५	राम-राज्य	६६
मिस्टिक (Mystic)	६७	राम, शब्द से परे	६२
मुक्ति	१८३	रामायण	८७

रामायण की कथा	८७	विश्व की प्रक्रिया	१५
रूसी कहानी	१६७	विश्व-हृदय के साथ एकस्वरता	२२
ल		विश्व-शांति की समस्या	१७१
लिबरल (Liberal)	६७	विस्तृत्व और घनता	१२३
लेख और सामयिकता	६३	विज्ञान	५
लेखक की निरपेक्षता	६३	विज्ञान, व्यवस्थाबद्ध—	७
लेखक की महत्ता	२६	वीभत्स	२७, १२२
लेखन किसके लिए ?	२१	वेदना की वाणी	६६
लेखन-हेतु	१५५	वेदना के साथ एकात्म	१२
ख		वैषम्य	२४
वकील	७६	व्यक्त और अव्यक्त	६६
वज्रश्रद्धा	१५	व्यक्त रूप	१७६
वर्कमनशिप	३६	व्यक्ति और समाज	१६७
वर्गभेद	१८	व्यष्टि और समष्टि	११६
वर्णन	३६	व्यक्ति की अद्वितीयता	३२
वर्णन, बाह्य का मोह	३४	व्यक्ति मूल	६६
वर्तमान और भविष्य	१३५	व्यक्तित्व	१२६
वसंत	१५१	व्यक्तित्व और व्यक्ति	७१
वाद	३३, १३७	व्यक्तित्व, शून्य—	६
वाल्मीकि	२८	व्यक्तित्व, स—	६
वास्तव	५	व्यथा विसर्जन	५१
वास्तव के साथ ऐक्य	१४४	व्यवसायशीलता	६
वास्तविकता	१२६	व्यवसायशीलता, सच्ची—	११६
विकल्प	१८७	व्यय और प्रतिफल	११५
विकास में संकल्प की आवश्यकता	१३५	व्यय और प्राप्ति	११५
विकासशील और विकासशाली मानव	१४४	व्यय और श्रम	११५
विग्रह	१६	व्यवहारवादिता	१६
विद्वान्, विद्वत्ता का नाता	३३	व्याकरण की चिन्ता	५६
विधि-निषेध	१६	व्यापार	८०
विधि-निषेधों की अंतर-रेखा	५१	व्यापार शोषण है	१०१
विभेदवृत्ति	२, ७	वृत्तियाँ, रसग्राही—	३४
विराट्	२	वृत्तियाँ, रेरिफाइड (Rarified)	३५
विराट्, भ्रज्य	२४	श	
विराट् की अनुभूति	२	शक्तिपूजा	५१
विलायत	१६०	शब्दज्ञान	४३
विवाद	१३८	शब्द की कीमत	१४५
विवेक	८८, १३१	शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय	६१, १८६
विवेक, बौद्धिक—	१३५	शरीर की रुकावट, सत्यज्ञान मार्ग में	६४
विशाल भारत	१८, २१	शहीद	१६८

शाश्वत	१४२	सत्य, स्वयंभू—	१४७
शासन-शक्ति का भ्रातृक	४७	सत्याभिमुखता ही सत्य है	३५
शान्ति-प्रस्थापन	४६	सत्यं, शिवं सुन्दरम्	१४५
शिल्प-कौशल की विद्वत्ता	१५७	सम्मान का अंतर	१२१
शिवा बावनी	१६५	सब्जेक्टिव (Subjective) कला	३८
शोषण	४७	समष्टि	१३
शंका से मुक्ति	१२७	समष्टि के साथ व्यष्टि की सामंजस्य	
श्रद्धा	१२६	सिद्धि	१३
श्रद्धा, भ्रंषी—	१२६	समस्त, समग्र	१६, ६७
श्रद्धा का माध्यम	८८	समाजवादी	७२
श्रद्धोपेत बुद्धि	१३०	समाज शासन	६४
श्रद्धाशून्य, संदेहग्रस्त	१४	समाजशास्त्र और मानसशास्त्र	११८
श्रद्धा स्नेह का बल	४५	समाज स्वीकृति	१०, १२
श्रद्धाहीन बुद्धि, बंध्या और लंगड़ी	२४, १२६	समोक्षा, सम्यक्	५०
श्रुति-स्मृति	१५८	समीक्षकों की आवश्यकता	५०, १५६
स			
सच्चिदानंद	१७५	समूची मानवता	४६
सत्	१४६	सर्वहितात्मकता	४६
सत्-असत्	३०	सर्व-स्व का उत्तम	१५६
सत्, निरपेक्ष-कामना	११	साकार और निराकार	१४६
सत्-शक्ति	६	साध्य और साधन	१४६
सत्य	१४	सापेक्षता	१२०
सत्य, अखंड—	१८७	सामंजस्य	३
सत्य अभेदात्मक है	२५	साहित्य, असमर्थता से उत्पन्न, पर	
सत्य-आग्रह	१६	सामर्थ्यता की ओर	१६१
सत्य और वास्तव	१८३	साहित्य, अक्षर—	३, ७
सत्य अंतिम नहीं है	४१	साहित्य और घर	४२
सत्य की प्रतिष्ठा	११	साहित्य और जीवन-संपदन	१५७
सत्यचर्या	२२	साहित्य और धर्म	१६२
सत्य चेष्टा	३	साहित्य और मदिरा	१५७
सत्य धर्म	१७५	साहित्य और राजनीति	४५
सत्य पूजा	१५	साहित्य और राष्ट्र	१३
सत्य, महा-की अनुभूति	१४३	साहित्य और लोक-जीवन	५४
सत्यमेव जयते नानृतम्	१५	साहित्य और व्यक्ति	५४
सत्य, शिव, सुंदर	२६	साहित्य और समाज	८, १२, १३
सत्य, शुष्क भषवा ज्ञेय भषवा साथ	१७	साहित्य, हस्तामी और फारसी—	१७६
सत्य, साहित्यिक का—	१६	साहित्य ऐन्द्रिय	११
सत्य, संपूर्ण—	१२६	साहित्य का अहंभाव	१६५
सत्य, सुंदर—	१७	साहित्य का नियम, जीवन का नियम	२१
		साहित्यकार और एक भाषा	५३

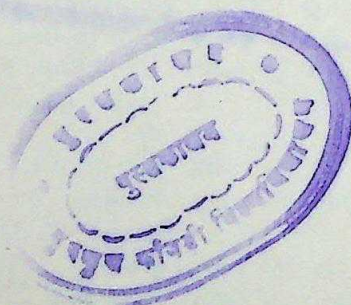
साहित्यकार का व्यक्तित्व	१०	सुनीता की प्रस्तावना	३६
साहित्यकार की उपेक्षा	११	सेक्स	१७२
साहित्यकार फकीर	१०	सेल्फ-एक्सप्रेशन	
साहित्यकार बनिया	१०	(Self expression)	१८५
साहित्य का रूप	१५६	सोसलाइजेशन	
साहित्य की आत्मा	१५६	(Socialisation)	६४, ११६
साहित्य की प्रेरणा आदर्श है	३५	सोशलिज्म	
साहित्य की मर्यादा	३४	(Socialism)	६४, ६५, ६६, ६७
साहित्य, कृतिकार के मन का प्रतिबिम्ब	१५६	सोशलिस्ट स्टेट	
साहित्य का कानून नहीं हो	४१	(Socialist State)	६४
साहित्य को शास्त्रों में विभक्त करना	१५७	सौन्दर्य	१६
साहित्य, चिरस्थायी	१५८	संकल्प	८, १७२
साहित्य-जीवन की शुद्ध कला की अभिव्यक्ति	१५७	संकल्प, चिंतन और अनुभूति	१७७
साहित्य, टेकनिक (Technique)		संगति	१३६
शून्य	१५७	संघ कैसे हो ?	५३
साहित्य-सृष्टि से ऊपर	४३	संतुलन	१३६
साहित्य-परिभाषा	१, ३	सवरणशील	६
साहित्य, भविष्यदर्शी	११	संस्कृति	१४१
साहित्य में विशेषीकरण की प्रवृत्ति	१५७	सृष्टि और सृष्टा	७
साहित्य में मौलिक असाध्य को दूर करने की प्रेरणा	४२	सृष्टि का हेतु	१०७
साहित्य, व्यसनशील—	११	सृष्टि-विकास	१७७
साहित्य, वैषयिक पद्य—	११	स्टॉइक रेजिनेशन	
साहित्य, समाजनेता	१२	(Stoic Resignation)	१४४
साहित्य स्वदान ही है	१५५	स्टेट (State)	१७२
साहित्य स्वदान और उच्च कोन-सा ?	१५७	स्व	३७
साहित्य, सिरजनशील—	१३	स्वप्न और सत्य	५
साहित्य-सृजन	१३	स्वप्न-सत्य	४४
साहित्य-सेवी कैसे बनें ?	१६५	स्वराज्य	६६
साहित्य संबंधी उत्साह और लौकिक हेतु	४५	स्वर्ग	५
साहित्यिक का सत्य	१६	स्वान्तः सुखाय	५५
साहूकारी	१०	स्वीकृति	५१
सांप्रदायिक झगड़ों की जड़	१६३	ह	
सांप्रदायिक दंगे	४७	हरिजन-प्रश्न	४७
सु और कु	१४३	हाँ और नहीं	१३३
सुख-दुःख	१६८	हिन्दी	५०, १७१
सुख की खोज नहीं, सत्य की खोज	१४३	हिन्दी-उर्दू	४२, १७६
‘सुदर्शन’	६०	हिन्दी की लाचारी	५२
सुनीता	३७	हिन्दी-प्रचार	१७६
		हिन्दी में पंचुएशन	३३
		हिन्दी राष्ट्रभाषा	४८, १७६

२२० :: जैनेन्द्र के विचार

हिन्दी से असंतोष	५३	क्ष	
हिन्दी साहित्य	८	क्षण-क्षण में निरन्तरता	१५६
हिन्दी साहित्य, आधुनिक—	५६	क्षणतीत	१५७
हिन्दी साहित्य को पुष्ट बनाने के विचार	८०	ज्ञ	
हिन्दी साहित्य में कल्पना-विलास	५७	ज्ञात और ज्ञे	१७६
हिन्दी साहित्य में नायिका-भेद की चर्चा		ज्ञाता और ज्ञेय	६
का औचित्य	१५७	ज्ञान का बंधन	६८
हिन्दी साहित्य, स्वप्न और संकल्प	५७	ज्ञान की सापेक्षता	४०
हिंसा	३१	ज्ञान, प्राथमिक—	५
हिन्दुस्तानी	१७२	ज्ञान बनने में है (Knowing is	
हिन्दू-धर्म	१६२	becoming)	७, २५
हिन्दू-धर्म का समाज-जीवन	१६२	ज्ञान, शुद्ध—	७
हिन्दू-धर्म का साहित्य	१६२	ज्ञान, समस्त—छद्म ज्ञान है	३५
होमरूल (Home rule)	६७	ज्ञान, हमारा—बंधन है	४१
ह्यू गो, विक्टर —	३६		

[यह सूची इसलिए दी जाती है कि इसमें से किसी भी एक विषय को लेकर पाठक न सिर्फ जैनेन्द्र के विचार ही आसानी से जान सकें, बल्कि उन विचारों पर अपने विचार भी बढ़ाएँ।]

□ □



5005-5003
Compiled

Category	RY
Date	30.3.02
Class	11
Category	R 17.6.2002
Tag	11
File	1
BA	25-6-02
17.6.2002	
17-6-02	

Recommended By..... Dr. V.D. Rakesh

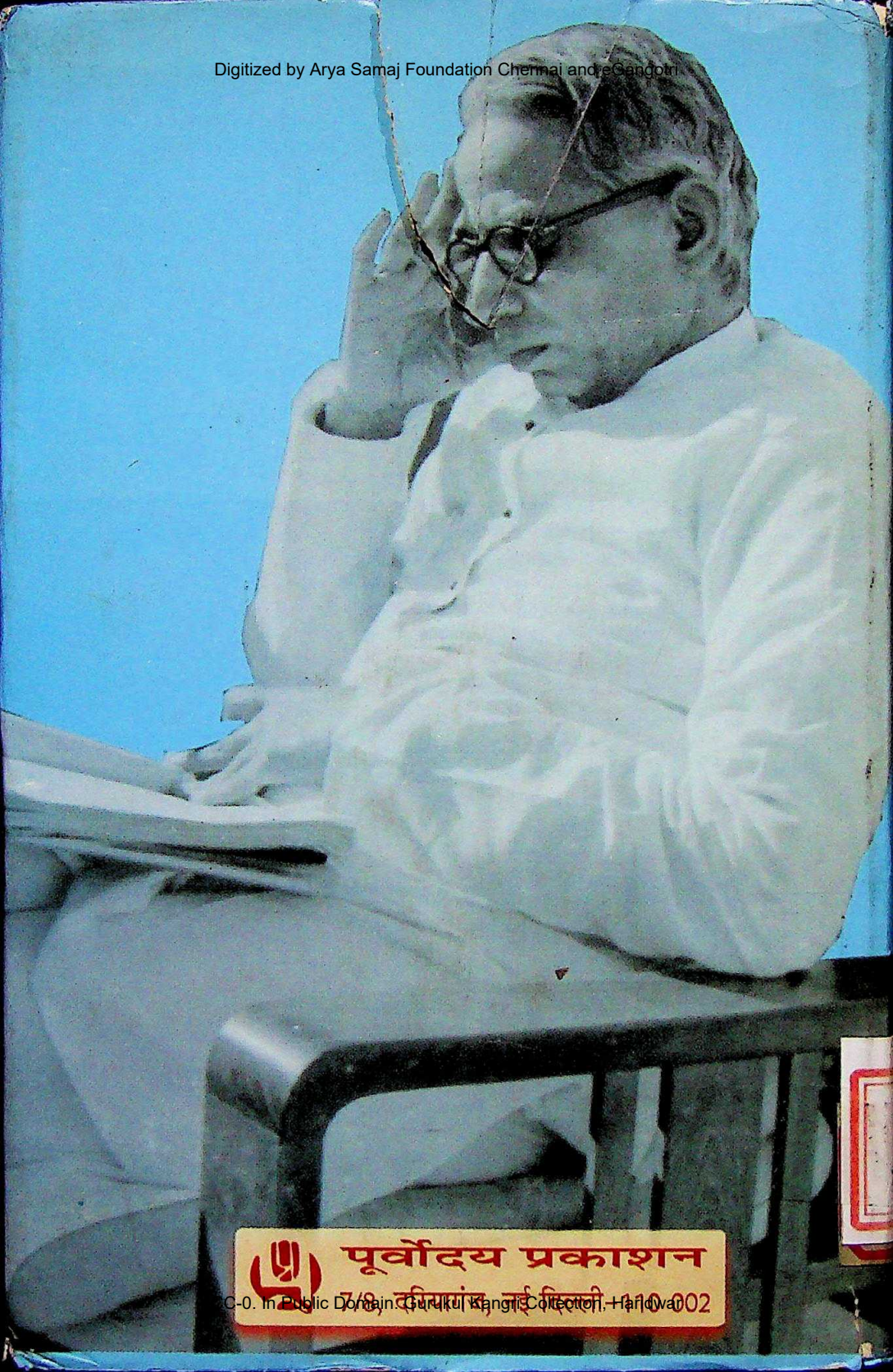
Compiled
2002-2003

ARCHIVES DATA BASE
2011-12

प्रविष्ट शरीर' हे तो जैनेन्द्र के आखूँ सर्जरी' को चुना ।
इसलिए औजारों में मूलभूत फर्क अनिवार्य ही था ।
लेकिन जिस तरह डॉक्टर, इंजीनियर, लोहार, बढ़ई,
चित्रकार और संगीतकार काम करते हुए भी सीखते,
संशोधित करते, इजाफा करते और अपनी तात्कालिक
सीमाएं पहचानते हैं, वैसा जैनेन्द्र ने अपनी भाषा और
शैली से भी किया । जैनेन्द्र का लेखन सूत्रधार शैली
का लेखन है, या कहे कि वह एक प्रयोगशाला है,
इसलिए उसमें बहुत पूर्वाभ्यास है, बहुत थ्योरमें है,
बहुत सारे सूत्र हैं । उनमें रचनात्मक लेखन से कहीं
ज्यादा वह चिंतनपरक लेखन में है । उनमें एक
सहचिंतक की स्फुटता है, एक प्रयोगकर्ता की
विकल्पधर्मिता है । इसलिए जैनेन्द्र के यहाँ फतवे
नहीं हैं । वे पाठक के सामने करीब-करीब लाचार,
उतने ही शोधक जितना कि वह हमेशा निहत्थे से,
हमेशा जैसे हर चीज को नए सिरे से सोचने के लिए
विवश-तत्पर होते हैं । उनकी भाषा शैली, कथ्य तथा
तेवर तानाशाही और फासिज़्म के खिलाफ एक
अप्रगल्भ लेकिन जिद्दी उपस्थिति है ।

—सम्पादकीय

नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली



पूर्वोदय प्रकाशन

7/8, देवागढ़, नई दिल्ली - 110 002